

**UNEVEN PAGES**

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_178905**

UNIVERSAL  
LIBRARY





O.P. 199 11-11-77-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83  
Y29D

Accession No. H4970

Author यशपाल,

Title दिव्या Divya.

This book should be returned on or before the date stamped



# दिव्या

बौद्धकालीन उपन्यास

यशपाल

**लोकभारती प्रकाशन**

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

Divya by YASHPAL  
Viplava Karyalaya, Shivaji Marg,  
Lucknow 226001, INDIA

लोकभारती प्रकाशन,  
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,  
इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित



विद्यार्थी संस्करण  
जुलाई १९७७



कापी राइट :

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

मूल्य : ५ रुपया ५० पैसा

समर्पण

तुम को...

निरंतर पराभव और अभिशाप सह कर भी  
जिसका जीवन-दीप स्नेह से प्रज्ज्वलित है—

यशपाल

## क्रम

|                     |     |
|---------------------|-----|
| मञ्जुपर्व           | ६   |
| घर्मस्थ का प्रासाद  | २०  |
| प्रेस्थ             | ४०  |
| आचार्य प्रवर्धन     | ६३  |
| आत्म-समर्पण         | ७१  |
| विकट वास्तव         | ८०  |
| तात घर्मस्थ         | १११ |
| दारा ✓              | ११५ |
| अंशुमाला ✓          | १३६ |
| सागल                | १७३ |
| पृथुसेन और रुद्रधीर | १८७ |
| मल्लिका             | २०७ |
| दिव्या              | २१२ |

## प्राक्कथन

‘दिव्या’ इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है। चित्र में त्रुटि रह जाना सम्भव है। उस समय का हमारा इतिहास यथेष्ट प्राप्य नहीं। जो प्राप्य है, उस पर लेखक का विशेष अधिकार नहीं। अपनी यह न्यूनता जान कर भी लेखक ने कल्पना का आधार उसी समय को बनाया; कारण है—उस समय के चित्रमय ऐतिहासिक काल के प्रति लेखक का मोह। सूक्ष्मदर्शी पाठक के प्रति इस से अन्याय हो सकता है। असंगति देख कर उन्हें विरक्ति भी हो सकती है।

अपने अतीत का मनन और मन्थन हम भविष्य के लिये संकेत पाने के प्रयोजन से करते हैं। वर्तमान में अपने आपको असमर्थ पाकर भी हम अपने अतीत में अपनी क्षमता का परिचय पाते हैं। इतिहास घटनाओं के रूप में अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता। परिवर्तन का सत्य ही इतिहास का तत्व है परन्तु परिवर्तन की इस शृङ्खला में अपने अस्तित्व की रक्षा और विकास के लिये व्यक्ति और समाज का प्रयत्न निरन्तर विद्यमान रहा है। वही सब परिवर्तनों की मूल प्रेरक शक्ति है।

इतिहास का तत्व विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज की रचनात्मक क्षमता का विश्लेषण करता है। मनुष्य केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है। वह प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह सृष्टा है।

इतिहास विश्वास की नहीं, विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्म-विश्लेषण है। जैसे नदी में प्रतिक्षण नवीन जल बहने

पर भी नदी का अस्तित्व और उसका नाम नहीं बदलता वैसे ही किमी जाति में जन्म-मरण की निरन्तर क्रिया और व्यवहार के परिवर्तन से वह जाति नहीं बदल जाती। अतीत में अपने रचनात्मक सामर्थ्य और परिस्थितियों के सुलझाव के अपने प्रयत्नों के परिचय से जाति वर्तमान और भविष्य के सुलझाव और रचना के लिये निर्देश पाती है।

इतिहास के मन्थन से प्राप्त अनुभव के अनेक रत्नों में सब से प्रकाशमान तथ्य है—मनुष्य भोक्ता नहीं, कर्ता है। सम्पूर्ण माया मनुष्य की ही क्रीड़ा है। इसी सत्य को अनुभव कर हमारे विचारकों ने कहा था—“न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् !”

मनुष्य से बड़ा है—केवल उसका अपना विश्वास और स्वयं उसका ही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख ही मनुष्य विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही वह उसे बदल भी देता है। इसी सत्य को अपने चित्रमय अतीत की भूमि पर कल्पना में देखने का प्रयत्न ‘दिव्या’ है।

अपने ऐतिहासिक ज्ञान की न्यूनता को स्वीकार करता हूँ। यदि लखनऊ म्यूजियम के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पी० एच० डी० और बम्बई प्रिंस-आफ-वेल्स म्यूजियम, पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष श्री मोतीचन्द, पी० एच० डी० तथा श्री भगवतशरण उपाध्याय का उदार सहयोग मुझे प्राप्त न होता तो पुस्तक सम्भवतः असह्य रूप से त्रटिपूर्ण होती। लखनऊ बौद्ध-विहार के वयोबृद्ध महास्थविर भदन्त बोधानन्द के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा से बौद्ध परिपाटी के विषय में जानने की सुविधा हुई।

बौद्धकालीन वेश-भूषा और वातावरण को हृदयंगम करने में विशेष सहायता अजन्ता और एलोरा की यात्रा से मिली। अजन्ता और एलोरा के कलाकारों के प्रति कलाप्रेमी संसार सदा आभारी रहेगा परन्तु इस कला के दर्शन के लिये मैं अपने मित्र और चिकित्सक डाक्टर प्रेमलाल साहू का कृतज्ञ हूँ। बहुत समय से यह पुस्तक लिखने के लिये इस यात्रा का विचार था परन्तु कठिन समय में असुविधाओं के विचार से शैथिल्य और निरुत्साह रहा। डाक्टर ने घसीट कर कर्तव्य पूरा कराया। इसी से यह काल्पनिक चित्र पुस्तक का रूप ले पाया है।

सबसे अधिक आभारी हूं मैं अपनी प्रेरणा के स्रोत अपने पाठकों का जिस के बिना कला की साधना सम्भव नहीं ।

यशपाल

१९ मई, १९४५



अतीत के रंग-रूप की रक्षा के लिये इस पुस्तक में कुछ असाधारण भाषा और शब्दों का प्रयोग आवश्यक हुआ है । इन शब्दों की अर्थसहित तालिका अंत में दे दी गई है । आवश्यकतानुसार उसका उपयोग किया जा सकता है ।



## मधुपर्व

कला की अधिष्ठात्री, राजनर्तकी देवी मल्लिका की युवा पुत्री रुचिरा अकाल में काल-कवलिन हो गयी थी। देवी इस शोक से अधीर होकर बहुत समय तक कला और समाज से विरक्त रहीं। सम्पूर्ण सागल नगरी मल्लिका के शोक से दो वर्ष तक शोकातुर और नीरस रह कर रात्रि में दीपहीन प्रदेश की भांति निष्प्रभ बनी रही। देवी मल्लिका ने वीणावाणि देवी सरस्वती के प्रति कर्तव्यनिष्ठा से अपना असह्य शोक सह कर मन को वश किया। उन्होंने निश्चय किया; चैत्र पूर्णिमा की संध्या, मधुपर्व उत्सव के समय समाज में पुनः प्रवेश करेंगी।

सागल के मनोहर और विशाल ताल पुष्करणी में जल और तट पर जन लहरें ले रहा था। सूर्यास्त में अभी एक पहर शेष था परन्तु जहां तक दृष्टि जाती, जनसमूह उमड़ रहा था। उस बढ़ते हुये विस्तार में, जन-उत्सव का मण्डप ऐसा लग रहा था जैसे वर्षाकाल की बाढ़ से दूर तक फैल गये नदी के जल में कोई छोटा सा द्वीप हो। मण्डप कलशों, कदली-स्तम्भों, तोरणों, वसंत आरम्भ में पल्लवित आम्रपत्र के वन्दनवारों और मंजरियों से सुसज्जित था। वातावरण अनेक प्रकार के पुष्पों की गन्ध और सुगन्धित धूम्रों से सुरभित था। सिर पर ऊंचे शिरस्त्राण बांधे, पीठ पर ढाल लटकाये, हाथ में भाला लिये राज-पुरुष उत्सुकता से उमड़ते जनप्रवाह से मण्डप के मार्ग और मण्डप में गण-परिषद के सदस्यों, सामन्तों, अभिजात वंशजों, अग्र श्रेष्ठियों, श्रेणीजेठुकों और कुलनारियों के स्थानों की रक्षा कर रहे थे।

सूर्य क्षितिज से उतर जाने पर सुश्री, सबल अश्वारोही भद्रगण के रथ, सुन्दर वस्त्र धारण किये द्रुतगामी शिविका-वाहकों के कन्धों पर शिविकायें और अश्वारोही भद्रगण जनप्रवाह के बीच सुरक्षित मार्ग से मण्डप की ओर आने

लगे । मण्डप के सोपान पर खड़े चारण तुरही बंजा-बंजा कर उनका स्वागत कर रहे थे । गणपरिषद के सदस्यों और विशिष्ट गण के मण्डप में प्रवेश करने पर चारण उनके नाम, वंश और पद की घोषणा करके उनके लिये निर्दिष्ट आसन देने लगे । भद्र समाज के रथ, अश्व और शिविकार्ये आरोहियों को मण्डप द्वार पर छोड़कर उनके चंवरधारी दासों और कंचुकियों सहित मण्डप के दक्षिण भाग की परिक्रमा करके, पृष्ठ भाग में जा पंक्तिबद्ध खड़े होने लगे ।

अभिजात पुरुष और कुलनारियाँ अपने वणं और वंश की स्थिति के अनुकूल और पर्व के योग्य वस्त्राभूषण धारण किये थीं । ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े लाल रेशम के उष्णीषों से सिर के केशों को बांधे थे । उनके मस्तक और भुजाओं पर श्वेत चन्दन का खौर था । उनके श्मश्रु मुड़े हुये थे । उनके कण्ठ की मुक्ता मालाओं में कृष्ण रुद्राक्ष शोभित थे । कन्धों से लहराते उत्तरीय के नीचे अस्पष्ट झलकती रेखा कटि से नीचे स्वच्छ अन्तरवासक पर पीत यज्ञोपवीत के रूप में प्रकट थी । काछ लगे स्वच्छ अन्तरवासक पादत्राण को स्पर्श कर रहे थे । क्षत्रिय स्वर्णखचित शुभ्र वस्त्र धारण किये थे । ऊंची, लम्बी नाक के नीचे मूँछें दो बिच्छुओं के ढंकों की भांति गालों की ओर चढ़ी हुई थीं । उनके कानों, कण्ठ, भुजा और कलाईयों पर रत्नजटित आभूषण थे । विस्तृत वक्षस्थल से सूक्ष्म कटि तक शरीर चुस्त अंगरखों में मढ़े थे । कटि से जानु तक कांछ कसे अन्तरवासक । पिंडलियां और पांव पादत्राणों में कसे हुये थे । कटि से रत्नजटित मूठ के खड्ग झूल रहे थे । श्रेष्ठियों के वस्त्र बहुमूल्य परन्तु ढीले-ढाले थे । गणपरिषद के सदस्य कन्धों पर केसरी कंचुक धारण किये थे । कुछ यवन सामन्तों के सिर पर चोटीदार टोपियां, घुटनों तक ढीले अंगरखे, पायजामे और पांव में ढीले जूते थे । कुछ ने आर्य वेश अपना लिया था ।

कुछ कुलनारियों के प्रसाधन और वेश-विन्यास में विशेष लालित्य था । मुक्तालङ्गियों द्वारा विविध प्रकार से गूँथे गये उनके केशों पर पुष्पों के अर्धचन्द्र किरीट शोभायमान थे । मस्तक, कान, कण्ठ, बाहुमूल, कलाई और अंगुलियां चन्द्रिका, तूलिका-लेखन कुण्डल, हार, माला, अंगन, वलय और अंगुठियों से सज्जित थे । उनके कन्धों पर अनेक बल खाये झीने उत्तरीय के नीचे मेरुदण्ड पर गांठ बंधे कंचुक-वस्त्र, सम्मुख वक्ष की ओर फैल कर, सुन्चिकण वर्तुलों में उभर आये थे । ऊपर पुष्ट उरोज और नीचे पुष्ट नितम्ब । डमरू-मध्य के समान कटि पर स्वर्ण की मेखलाओं रत्नजटित नीबीबंध से तीन लङ्गियों में कटि,

नितम्ब के मध्य और अधोभाग की परिक्रमा कर वर्तुल आकारों को स्पष्ट कर रही थीं। मेखलाओं की लड़ियों में किकणियां झूल रही थीं। मेखलाबंध से उन के शाटक मयूर-पुच्छ के रूप में फैल कर आलक्त-रंजित और आभूषणों से वेष्टित चरणों के नीचे बिछे आस्तरणों का स्पर्श कर चरणों को छिपाये थे। उनके चारों ओर अनेक पुष्पों की सुगन्धियां दूर तक फैल रही थीं। प्रायः सभी यवन रमणियां आर्य स्त्रियों का वेश अपना चुकी थीं।

आकाश में चंद्र की चांदनी छिटक गई। वेदी के चारों ओर तथा मार्ग पर दीपदण्ड प्रज्ज्वलित हो गये। वयोवृद्ध मिथोध्रस महाप्रतापी धार्मिक यवनराज मिलिन्द के राज्यकाल में मद्र साम्राज्य के महासेनापति थे। मद्र के गणराज्य में उन्होंने गणपति का पद स्वीकार कर लिया। उनके आसन ग्रहण कर लेने पर मंगल वाद्य और मंगलाचरण आरम्भ हुआ। वेदी के सोपान पर खड़े चारण ने पुनः तूर्यनाद करके घोषणा की—“कला की अधिष्ठात्री, नगरश्री, राजनर्तकी देवी मल्लिका सभास्थल में पधार रही हैं।”

जनसागर इस घोषणा के झंझावात से तरंगित हो उठा। जनसमूह की ग्रीवायें उठ गयीं और दृष्टि मार्ग के पश्चिम छोर की ओर चली गयी। दीपदण्डधारी अश्वारोहियों के पीछे रथ चले आ रहे थे और रथों के पीछे फिर दीपदण्डधारी अश्वारोही। रथ शीघ्र ही मण्डप के समीप जनप्रवाह में आ पहुंचे। सब ओर से कला की देवी, नगरश्री देवी मल्लिका का जयघोष होने लगा। यत्न से रक्खे पुष्पों और मालाओं की वर्षा मल्लिका के रथ पर होने लगी। अधिकांश पुष्प और मालायें रथ को स्पर्श कर मार्ग पर गिर जाते। कुछ पुष्प और मालायें रथ के भीतर पहुंच पुष्पों के अम्बार पर गिर फिसल कर नीचे आ जाते। मल्लिका कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से कर जोड़े, स्मित वदन, मस्तक नवा, दृष्टि की पहुंच तक फैले उद्वेलित नरमुण्डों के सागर का अभिवादन स्वीकार कर रही थी। मण्डप में प्रवेश कर नर्तकी ने विशिष्ट पुरुषों का आदर ग्रहण किया और गणपति के समीप आसन पर बैठ गयी। देवी के रथ के पीछे छः रथों पर उनकी विशिष्ट शिष्यायें कला की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये आयी थीं।

चारण ने पुनः तूर्य बजाया। मंगल-वाद्य रुक कर भेरी बजने लगी। नृत्य संगीत से पूर्व तक्षशिला और मगध से शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पूर्ण करके आये युवकों के शस्त्र-कौशल की प्रतियोगिता का कार्यक्रम था। इस प्रतियोगिता के आधार पर ही अभिजात युवक मद्र गणराज्य की सेना में पदों के अधिकारी होते थे।

चारण ने घोषणा की—“धर्मस्थ महापण्डित देव शर्मा के पौत्र आयुष्मान विनय शर्मा, महासामन्त सर्वार्थ के पुत्र आयुष्मान इन्द्रदीप, गणसंवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आयुष्मान वसुधीर, गणपूरक सामन्त कार्तवीर के पुत्र आयुष्मान सकृद, महाशाख समर्थक के पुत्र आयुष्मान वृष्णेश और महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के पुत्र आयुष्मान पृथुसेन ।”

छः युवक सैनिक वेश में शरीर पर वर्म और सिर पर शिरस्त्राण पहने कंधे पर धनुष-तूणों बाधे, कमर से खड्ग लटकाये, हाथ में भाला लिये वेदी पर आये। युवकों ने मद्र के गणराज्य के गणपति और महासेनापति वयोवृद्ध मिथोद्रस के आसन के सम्मुख उपस्थित होकर नासिका के सम्मुख अपनी खड्ग सीधी कर मस्तक झुका कर निवेदन किया—“मद्र के गणराज्य की सागल नगरी का निवासी मैं अमुक नाम, अमुक पुत्र, शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर मद्र के गणराज्य की सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ। गण मेरी योग्यता की परीक्षा कर मुझ सैनिक-कायं में मेरे योग्य पद प्रदान करे।

गणपति ने युवकों को लक्षवेध की परीक्षा के लिये सावधान होने का आदेश देकर संवा में उपस्थित सैनिक को संकेत किया। युवकों के धनुषों पर बाण खिंचे थे। सैनिक ने मण्डप के वित्तान की ओर अनेक रंग के कटुक उछालने आरम्भ किये। जनसमूह कठिन लक्षवेध के प्रति कोतुक से और लक्षभ्रष्ट बाणों की आशंका से सिहर उठा। युवक अनेक कटुको को अघर में ही वेध रहे थे। सेनापति और निर्णायक ध्यान से देख रहे थे—कौन युवक कितने बाणों से कितने कटुको को वेधता है। महासेनापति ने हाथ उठा कर लक्षवेध परीक्षा समाप्त होने का संकेत किया।

महासेनापति ने युवकों को कवच उतार अपने विशेष भरोसे का एक-एक शस्त्र चुन लेने की आज्ञा दी। आयुष्मान इन्द्रदीप और विनय शर्मा ने भाले लिये और शेष युवकों ने खड्ग। महासेनापति ने निर्देश दिया—“प्रत्येक आयुष्मान शेष युवकों को आक्रमणकारी मान कर अपनी रक्षा करता हुआ आक्रमणकारियों पर आघात करे।” उन्होंने चेतावनी दी, “आघात करने का अर्थ गहरा आघात करना नहीं। कोई युवक किसी प्रकार की अभिसन्धि या पक्षपात का व्यवहार न करे। यह दोनों कार्य गणराज्य के धर्मस्थान द्वारा अपराध रूप में दण्डनीय होंगे।”

महासेनापति ने वायु में उत्तरीय हिला कर युद्धारम्भ का संकेत किया। मण्डप में अनेक विद्यत शिखार्यें चमक गयीं और फिर छः युवक छः स्थानों पर,

आक्रमण के लिये पीठ को धनुषाकार किये, नख और दांत निकाले व्याघ्रों की भांति कांपने लगे। प्रत्येक की दृष्टि सब की ओर थी। उनके हाथों के शस्त्र क्षण भर के लिये वितान के नीचे प्रकाश की रेखायें सी कौंधा कर पुनः कंठित दीपशिखा की भांति उनके हाथों में स्थिर हो जाते। स्तब्ध श्वास, आंखें फैलाये विशाल जनसमूह योद्धाओं की सूक्ष्मतम गतियों और इंगितों के प्रति सतर्क था। वे रह-रह कर झपटने। दर्शकों के शरीर कण्टकित हो उठते। योद्धाओं के स्थान बदल जाते और वे मन्द वायु से स्फुरित दूर्वा-तृणों की भांति कांपते रह जाते। कुछ ही क्षण में उनकी तनी हुई ग्रीवा, वस्त्ररहित भुजदण्ड, लोमपूर्ण वक्षस्थल और गहरी पीठ पर स्वेदविन्दु छलक कर धारायें बह निकलीं। उनके शरीरों पर कई स्थानों में लाल रेखायें फूट कर रक्त बह गया। स्वेद में रक्त फैल जाने से उनके शरीर गेरू से पुते जान पड़ने लगे।

महासेनापति के संकेत से चारण ने तूर्य बजा कर युद्ध-कौशल ममाप्त होने की घोषणा कर दी। युवक परीक्षा के लिये महासेनापति के आसन के सम्मुख उपस्थित हुये। आयुष्मान सक्रुद और पृथुसेन के शरीर पर केवल दो रक्त चिह्न थे। आयुष्मान वृष्णेप के शरीर पर तीन और शेष युवकों के शरीर पर चार-चार।

गणपतिपद के सदस्यों से परामर्श कर महासेनानी बोले—‘गणपतिपद और जन सुनें! आयुष्मान सक्रुद और पृथुसेन ने शस्त्र संचालन में विशेष कौशल प्रकट किया है। सदस्यों के विचार से पृथुसेन का ही स्थान प्रथम होता परन्तु आयुष्मान ने अपने वामपक्ष में अनेक व्यर्थ प्रहार कर अपनी शक्ति का अव्यय किया। आयुष्मान पृथुसेन में सतर्कता की इस न्यूनता के कारण गण सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी का सम्मान आयुष्मान सक्रुद को देता है।’

महासेनापति ने श्वेत पुष्पों और हरित किसलय से बने मुकुट की ओर संकेत किया, बोले—‘नगरश्री देवी मल्लिका की शिष्याओं में जो युवती कला की प्रतियोगिता में ‘सरस्वती-पुत्री’ का सम्मान प्राप्त करेगी, वही अपने हाथों यह मुकुट सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी को प्रदान करेगी।’

चारण के तूर्यनाद करने पर जनसमूह में आनन्दोल्लास से जय-जय का कोलाहल उठ खड़ा हुआ। युवक अभिवादन कर वेदी के नीचे आ गये परन्तु आयुष्मान पृथुसेन महासेनापति के आसन के सम्मुख खड़ा रहा। खड्ग नासिका के सम्मुख सीधी रख, मस्तक झुका कर पृथुसेन ने प्रार्थना की—‘मैं, महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र पृथुसेन, परमभट्टारक गणपति के सम्मुख निवेदन की आज्ञा चाहता हूं।’

महासेनानी की जिज्ञासापूर्ण दृष्टि के उत्तर में पृथुसेन ने निवेदन किया—“मैं, पृथुसेन, परमभट्टारक गणपति की आज्ञा से गण के विचारार्थ निवेदन करता हूँ—मैंने अपने वामपक्ष में व्यर्थ प्रहार कर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं किया। गणपति और सदस्य देखें, मैंने केवल पांच शत्रुओं का नहीं अपितु कदली स्तम्भ के रूप में छटे शत्रु का भी सामना किया है। महासेनापति की अनुमति से मैं दिखाना चाहता हूँ।” पृथुसेन ने मण्डप की वाम दिशा में स्तम्भ के समीप जाकर उसके आश्रित खड़े कदली वृक्ष को हिला दिया। कदली स्तम्भ खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़ा।

जनसमूह से इस अपूर्व खड्ग-कौशल और हस्त-लाघव की प्रशंसा में साधुवाद के उल्लास का रव उठ खड़ा हुआ। विनय से मस्तक झुकाकर पृथुसेन ने महासेनानी को सम्बोधन किया—“देव, इस शत्रु का भी मैंने पराभव किया है। मैं देव का निर्णय चाहता हूँ।”

महासेनापति विस्मय से उच्छ्वास में अपने आसन से उठ कर पृथुसेन के कंधे पर हाथ रख कर बोले—“मेरे निर्णय में भूल थी। आयुष्मान् पृथुसेन सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी है।”

गणपरिषद ने ‘साधु साधु! तथास्तु!’ कह कर समर्थन में सिर हिलाये। जन-समुदाय उल्लास से पुनः हिलोर उठा परन्तु गण-परिषद की पक्ति में से गण-संवाहक आचार्य प्रवर्धन ने उठ कर आपत्ति की—“परिषद के सदस्य विचार करें, क्या गणपति का एक बार दिया निर्णय परिवर्तित हो सकता है?”

गणपरिषद के सदस्य, विशिष्ट समाज और जन-समूह विस्मय और आशका से मौन रह कर आचार्य की ओर देखने लगे।

वयोवृद्ध महासेनापति ने अपना आसन ग्रहण करने से पूर्व ऊर्ध्वबाहु होकर विशिष्ट गण और जन को सम्बोधन किया—“गणपरिषद, सामन्तगण, अभिजात कुल और सागल का जनसमाज महापण्डित गणसंवाहक आचार्य प्रवर्धन की आपत्ति सुनें और विचार करें। मेरी परख में जो भूल हुई उसे मैं स्वीकार करता हूँ। वृद्धावस्था के कारण मेरे नेत्रों की ज्योति मन्द हो चुकी है। मेरे दृष्टिदोष के कारण आयुष्मान् के प्रति अन्याय उचित नहीं। यदि गण को मुझ पर विश्वास है तो भ्रान्तिमार्जन का अवसर मुझे दें।”

गणपरिषद के सदस्य और विशिष्ट जन अवाक्, परस्पर प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगे और जनसमूह उत्सुकता से विशिष्ट समाज की ओर। महासेनापति

अपने आसन के समीप वेदी पर खड़े रहे। उन्होंने पुनः सम्बोधन किया—“गण-परिषद निर्णय करे, उन्हें मेरे भ्रान्तिमार्जन करने में आपत्ति है ?”

महासेनापति ने सभी ओर अनुमति के संकेत में सिर हिलते देखकर पुनः घोषणा की—“मैं मद्र के गणराज्य की परिषद का गणपति मिथोद्रस, महासेनापति की स्थिति में किये गये अपने निर्णय में, महासेनापति की स्थिति से किये गये मार्जन को स्वीकार करता हूँ। जिस आयुष्मान को आपत्ति हो, प्रकट करें !” सब ओर मौन देखकर उन्होंने पुनः आसन ग्रहण किया। जन-समूह ने एक अस्पष्ट गुंजन द्वारा अपना संतोष और अनुमति प्रकट की।

पुनः चारण का तूर्य बजा और वेदी से अनेक प्रकार की वीणाओं, वंशियों, मुरजों, कांस्यतालों और मृदंगों की ध्वनि उठने लगी। यह नृत्य-संगीत आरम्भ होने की सूचना थी। वाद्यों के स्वर मिल जाने पर मल्लिका ने शिष्यारूपी उद्गण के मध्य चन्द्र के समान सुशोभित होकर, कोकिल विनिन्दित स्वर में श्यामकल्याण का आलाप उठाया। आलाप के पूर्ण हो जाने पर उनकी शिष्याओं ने स्थाई और अंतरा में सहयोग देकर सभास्थल को गुंजा दिया। देवी मल्लिका मूर्तिमान राग के रूप में अपनी किसलय-कोमल अंगुलियों और मृणाल बाहुओं से संगीत के आरोहावरोह को इंगित कर रही थीं। शिष्याओं के कण्ठ और वादकों के यन्त्र से निकली ध्वनि और जनसमूह का श्वास उनके इंगितों का अनुसरण कर रहे थे। सभास्थल घनीभूत संगीत की लहरों से भर गया। राग समाप्त हो जाने पर भी जनसमूह मंत्रमुग्ध सहस्रशीर्ष शेषनाग की भांति स्तब्ध और एकप्राण बना रहा।

वाद्य अब षाट्जी के स्वर बजा रहे थे। मल्लिका से संकेत पाकर मादुलिका ने आलाप आरम्भ किया। मादुलिका के पश्चात् कुसुमसेना और उसके पश्चात् दिव्या ने। इनके पश्चात् नर्तकी वसुमित्रा ने अपने समाज सहित गायन किया। आत्मविस्मृत जन, स्वर द्वारा उत्पन्न भाव की लहरों में बहा जा रहा था।

देवी मल्लिका ने आसन से उठकर जन का अभिवादन कर कृतज्ञता से मृदु स्वर में सूचना दी—“कलाविद् समाज अनुमति दे तो संगीत समारोह समाप्त कर नृत्य आरम्भ किया जाय।”

मंत्र के सम्मोहन से मुक्त होकर सभा ने अपने श्वास की अवरुद्ध गति को स्वतंत्रता दी। दीपदण्डधारियों ने अपने दीपों में यथेष्ट तेल देने का अवसर पाया। दीप तेल के अभाव से मन्द हो गये थे परन्तु संगीत की मधुर मूर्छा में विस्मृत जन प्रकाश की न्यूनता अनुभव न कर पाया था।

वेदी उज्ज्वल प्रकाश से दीप्त हो गई। वाद्यों के स्वर बदल गये। मल्लिका शिष्याओं के मध्य में वेदिका पर आई। जन के अपलक नेत्र उस ओर केन्द्रित हो गये, रास नृत्य आरम्भ हुआ, आकाश-गंगा में भँवर आ गया। इसके पश्चात् का नृत्य एक रूपक था। मल्लिका मेघराज मधवा की भूमिका में थी और उसकी शिष्यायें वर्षा के लिये आकुल पृथ्वी, मर्त्यलोक के प्राणियों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं और वनस्पति की भूमिका में थी।

शिष्याओं ने आराध्यदेव इन्द्र को केन्द्र बना कर भाव-भंगों द्वारा वर्षा के लिये प्रार्थना की। मेघराज रौद्र मुद्रा में अद्रवित रहे। याचकों ने लावण्य के संयोग से करुणा का अदमनीय उद्रेक कर अपने अनुनय को अनुपेक्षणीय बना दिया। इन्द्र द्रवित होकर बरस पड़े। धरती माता अपनी सतति सहित विभोर हो उठी। जनसमूह अपनी सम्पूर्ण चेतना कला की ग्राहकता में अर्पण कर अपलक, अवाक् और मुक्त-ओष्ठ रह गया।

दशकों को कुछ क्षण के लिये प्रकृतिस्थ होने का अवसर देकर मादुलिका ने इसपर्व के लिये तैयार किया विशेष नृत्य 'अभिसारिका की यात्रा' प्रस्तुत किया। कुसुमसेना ने 'उवंशी का प्रणय निवेदन' और अन्त में दिव्या ने 'मराली का आत्म-समर्पण' नृत्य किया। मल्लिका उत्सव के एक पक्ष पूर्व से ही दिव्या को इस नृत्य की मुद्राओं और वादकों को संगीत की मूर्छनाओं का अभ्यास करवा रही थी।

दिव्या राजहंस के परो के समान श्वेत वस्त्रों में वेदी पर आयी। उसकी कोमल, सुगोल बाहुओं से झीने श्वेत उत्तरीय के छोर मराली के पंखों के रूप में लटक रहे थे। मराली खोज की मुद्रा में उद्विग्न और चिन्ताशील थी। नेपथ्य से राजहंस का ऋतुकालीन आह्वान सुनाई दिया। टोह पाकर मराली उत्साहित हो उठी। उत्साह और उमंग से परो को फड़फड़ा कर वह आह्वान की दिशा और स्थान खोजने के लिये चली और बधिक के जाल में फँस गयी।

राजहंस का प्रत्येक आह्वान बधिक के पाश में फँसी हुयी राजहंसी की व्याकुलता को उग्र कर रहा था। वह मुक्ति के लिये पूरी शक्ति में छटपटा रही थी। क्लान्त राजहंसी की मुद्रा में निराश और अवसाद प्रकट होने लगा। वह निराशा के विरुद्ध मुक्ति के लिये संघर्ष करने लगी। उसका संघर्ष असफल रहा। राजहंस का स्फूर्तिदायक आह्वान मर्मन्तिक वेदना का कारण बन गया उसकी ग्रीवा निराशा भरे प्रयत्नों में उठ-उठ कर रह आती। उसके पंख फड़फड़ा कर रह जाते। )

राजहंस की भूमिका में स्वयं मल्लिका प्रकट हुयी । राजहंस मराली को बांधे जाल की उपेक्षा कर मराली के समीप कूद गया । मराली विभोर हो उठी । राजहंस भी बंध गया परन्तु किल्लोल उन्मत्त होकर उन्होंने बन्धन की चिन्ता न की । वे मधुर शैथिल्य में आत्म-विस्मृत होकर बन्धन से निरपेक्ष थे ।

अनेक हंसशावक उस मराल-मिथुन से उड़-उड़ कर चारों दिशाओं में फैलने लगे ।

उत्साहित जनसमूह के उत्साह भरे माधुवाद से आकाश गूँज उठा । असंख्य मुखों के उन्मुक्त उच्छ्वास के वायु से मण्डप का वितान हिलोरने और दीपदण्डों की ज्वालाये कांपने लगीं ।

(मण्डप से समीप ही साधारण जन के समूह से एक काषाय चीवरधारी भिक्षु ने ऊर्ध्वबाहु खड़े होकर गम्भीर स्वर में जन को उद्बोधन किया—“बुद्धिमान जन देखे और जानें ! माया के बन्धन में जीव को इसी प्रकार सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है ।”)

मल्लिका आदर और साधुवाद ग्रहण करने के किये अपने आसन पर खड़ी थी । उमने निरुत्साह से भिक्षु की आर देखा । गणपरिपद, विशिष्ट अतिथि और जन विस्मय से भिक्षु की ओर देख रहे थे ।

चारों ओर छाई स्तब्धता में ऊँचा स्वर सुनायी दिया—“भन्ते, दुख की प्राप्ति में भी जीवन का शाश्वत-क्रम इसी प्रकार चलता है । वैराग्य भील की आत्म-प्रवचना मात्र है । जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असंदिग्ध सत्य है !”

सभास्थल अट्टहास से गूँज उठा । मल्लिका और समाज ने देखा, उत्तर देने वाला सागल का सर्वश्रेष्ठ मूर्तिकार, नास्तिकता और अनैतिकता के प्रतिपादन का अपवाद पाने वाला, श्रेष्ठी उपासक पुण्यकान्त का पुत्र युवक मारिण था ।

कला की अधिष्ठात्री देवी मल्लिका के निर्णय और परिपद की अनुमति से वयोवृद्ध गणपति न 'सरस्वती-पुत्री' का पुष्पा-किरीट धर्मस्थ महापण्डित देवशर्मा की प्रपौत्री, आयुष्मती कुमारी दिव्या को भेंट किया और कुमारी दिव्या ने सर्व-श्रेष्ठ खड्गशारी का पुष्प-मुकुट कुमार पृथुसेन को । दोनों ही पुरस्कार विजेता अपनी कला के वेश में साधारण नागरिकों से भिन्न, अपनी कला के प्रतीक मात्र जान पड़ रहे थे । कुमारी दिव्या शुभ्र वायवीय, श्वेत उत्तरीयों में मराली का प्रतिरूप और कुमार पृथुमेन नासिकाग्र और कन्धों तक छाये शिरस्त्राण और वरम में शस्त्र-शक्ति की मूर्ति की भांति ।

चारण ने उत्सव विसर्जन का तूर्य बजा दिया । रात्रि के दोपहर बीत जाने पर भी जनता श्रान्ति अनुभव न कर विश्राम के लिये व्याकुल न हुयी थी । पूर्ण चन्द्र चैत्र के स्वच्छ, ताराकीर्ण आकाश में अपनी दिशा में चला जा रहा था । विराट जनसमूह दीपदण्डों के प्रकाश की उपेक्षा कर, मल्लिका और योद्धाओं के मार्ग के दोनों ओर टूट पड़ा । राजपुरुष कठिनता से मार्ग की रक्षा कर रहे थे ।

सागल की प्रथानुसार 'सरस्वती-पुत्री' का सम्मान पाने वाली युवती की पुष्पों से आच्छादित शिविका अभिजात वंश के युवक अपने कन्धों पर युवती के गृहद्वार तक ले जाते थे । कुमारी दिव्या अपने प्रपितामह, पितृव्यों, भाइयों और सम्बन्धियों से आशीर्वाद और स्नेह पाकर संकोच से शिविका पर बैठ गयी । अभिजात वंश के युवक उसकी शिविका के दण्डों की ओर बढ़े । चार दण्डों में सोलह से अधिक कन्धों के लिये स्थान न था ।

शिविका के अग्र दण्ड में पहिले से कन्धा दिये पृथुसेन को धकेल कर कुमार वसुधारी ने स्थान लेना चाहा । पृथुसेन ने अपना स्थान न छोड़ने का आग्रह किया ।

गणपरिषद के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र, वसुधारी के ज्येष्ठ आयुष्मान रुद्रधारी ने ललकारा—“दास-पुत्र को अभिजात वंश के युवकों के साथ शिविका में कन्धा देने का अधिकार नहीं है ।”

पृथुसेन कटि से खड्ग खींच पतरे से खड़ा हो गया और बोला—“मेरे अधिकार का निश्चय मेरा खड्ग करेगा ।” शिविका के चारों ओर अनेक खड्ग कोषों से निकल आये ।

अनेक वयोवृद्ध गुरुजनों के बीच में आकर वारणा और भर्त्सना करने से अधिक विशृंखला और रक्तपात न हो पाया । 'सरस्वती-पुत्री' की शिविका देवी मल्लिका के रथ के सम्मुख, जनता के जय-जयकार के कोलाहल के बीच, अभिजात-वंशीय युवकों के कंधों पर, मुण्ड-प्रवाह के ऊपर-ऊपर क्षब्ध लहरों में दोलायमान नौका की भांति डगमगाती नगर की ओर चली गयी ।

कुमार पृथुसेन घायल व्याघ्र के समान क्रोध से कांपता कुछ समय तक चन्द्र के स्निग्ध प्रकाश में अपने अश्व-रक्षक के समीप खड़ा रहा । हृदय में प्रज्वलित क्रोध की अग्नि का धुआं मस्तिष्क में घुट जाने के कारण वह क्षुब्ध और विह्वल हो उठा—(जन्म का अपराध ? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार सम्भव है ? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती ! कोई भी उपाय जन्म के अपराध का मार्जन

नहीं कर सकता ! जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले)?...या उन लोगों से ले जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिये जन्म से असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है ? ...हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म अपराध है अथवा यह द्विज कुल में जन्मे अपदाथं लोगों का अहंकार मात्र है ?

पृथुसेन मन में उबलती घृणा और प्रतिहिंसा के लिये मार्ग न पा, क्रोध में दांतों से होंठ दबाये, समूह से बचता हुआ अपने प्रासाद की ओर चला गया ।



## धर्मस्थ का प्रासाद

मनुष्य-समाज समय की नदी के तट पर स्थित वन के समान है। समय की नदी में आने वाले प्लावन इस वन की भूमि को उर्वरा करते रहते हैं। इसी प्रकार सागल के नगरसमाज में परिवर्तन के अनेक प्लावन आये और भावनाओं और अनुभूतियों के उर्वरा स्तर समाज की भूमि पर छोड़ते गये। सागल के उस समाजरूपी वन में वयोवृद्ध महापण्डित धर्मस्थ देव शर्मा कालांतर से उपस्थित महान वट वृद्ध के समान थे। उनके केश, श्मश्रु और भृकुटी ही नहीं, शरीर के लोम भी श्वेत हो गये थे। बीतते समय ने उनके शरीर का सत्व शोषण कर उसे जर्जर कर दिया परन्तु अनुभूति के मूल तत्त्वों द्वारा मौ तर्ष से अधिक समय तक समाज की भूमि से अनुभव का रस ग्रहण करते रहने से उनकी भावना सजग और प्रबल रही।

महापण्डित के यौवनकाल में महाप्रतापी यवनराज मिलिन्द ने दुर्धर्प यवन सेना लेकर मद्र से पौरव वंश के राज्य का उच्छेदन कर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। महाराज मिलिन्द ने उनके पिता पौरव राज्य के धर्मस्थ महापण्डित वागीश शर्मा का स्वर्गवास होने पर पण्डित देव शर्मा की विद्वता और बुद्धि के आदर में उन्हें धर्मस्थ का पद सौंप दिया था। वर्णाश्रम धर्म की नीति, प्रथा और व्यवस्था में यवन पद्धति का संघुट देकर उन्होंने अनेक वर्ष तक न्याय की व्यवस्था की। प्रचण्ड प्रतापी मिलिन्द की तथागत के धर्मचक्र में आस्था हो जाने पर महापण्डित ने न्याय को सर्वभूत दया और मानवता की भावना से अनुप्राणित होते देखा। उनके ही जीवनकाल में महाराज धार्मिक मिलिन्द राजपाट त्वाग, प्रब्रज्या ग्रहण कर, निर्वाण पथ के पथिक हुये। महाराज मिलिन्द के उत्तराधिकारीहीन होने से मद्र में कुलों के गणराज की स्थापना हुयी और महा-

पण्डित देव शर्मा नयी परिस्थिति में, धर्मास्थान के आसन से न्याय की परिवर्तित भावनाओं के अनुसार व्यवस्था करते रहे ।

महापण्डित की तीन पत्नियों से तीन पुत्र उत्पन्न हुये थे । उनमें से दो जीवित रहे । इन दोनों पुत्रों से धर्मस्थ के चार पौत्र हुये । ज्येष्ठ पुत्र से प्राप्त ज्येष्ठ पौत्र की पत्नी ने एक प्रपौत्री को जन्म दिया । जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की संध्या में सूर्य का प्रकाश रहते भी नवचन्द्र की रेखा का उदय म्लान नहीं होता, प्रकाश का वह अंकुर क्षीण होकर भी दिव्य चन्द्रिका का आश्वासन लिये रहता है, उसी प्रकार धर्मस्थ के पुत्र-पौत्र से समृद्ध और सम्पन्न कुल में कन्या का जन्म उल्लास का कारण हुआ । उस कन्या के उज्ज्वल भविष्य के विश्वास से उसे 'दिव्या' पुकारा गया । दिव्या चन्द्र की कलाओं की भांति दिन-दिन दीप्यमान होती गयी । दुर्भाग्य से दिव्या के पितामह और पिता-माता, तीनों ही किसी देवी प्रकोप से व्याधि द्वारा अकाल में काल-कवलित हो गये । उन तीनों के भाग का भी स्नेह पाकर दिव्या प्रपितामह के समीप अत्यन्त वत्सल हो गयी ।

बहुदृष्टा, उदार, महापण्डित धर्मस्थ का सम्पन्न प्रासाद प्राचीर और उद्यानों से वेष्टित था । प्रचुर दास-दासियों से सेवित विद्या और सस्कृति का केन्द्र था । उस प्रासाद में श्रुति-स्मृति, दर्शन, न्याय और तर्क का मन्थन वर्णाश्रम नीति के पण्डितों, यवन दार्शनिकों और बौद्ध भिक्षुओं द्वारा मत-निर्णय और गोष्ठी-सुख के लिये भी निरतर होता रहता था ।

धर्मस्थ के प्रासाद में सुरा और सुन्दरी के व्यसन की अपेक्षा ज्ञान और तर्क का अनुराग अधिक प्रबल था । अतिथि युक्ति और तर्क की लहरों में रजत आधारों पर स्फटिक के चषकों में कापिशायिनी सुरा लिये सम्मुख खड़ी श्याम और पिगल दासियों को भूल जाते थे । उस ज्ञानमय वातावरण में अन्तःपुर, आस्थानागार और चतुश्शाल के तोरणों से ताम्र और रजत के पिजरों में लटके शुक-सारिका भी परस्पर होड़ में अनेक सूत्रों और परिभाषाओं का उच्चारण करते रहते थे अथवा वे पक्षी तंद्रा दूर करने के लिये सहसा पुकार उठते—'आपस्तम्ब सूत्र, काकतालीय न्यायेण, पतंजली, कोटिल्य संक्रमणाद संक्रमणादवा, नोसदासीत् नासदासीत्—'

महापण्डित धर्मस्थ के आस्थान में ज्ञान और कर्मकाण्ड के प्रसंग, श्रुति-स्मृति के शब्द प्रमाण और न्याय के तर्क प्रमाण, वेदों के एकमेवाद्वितीयम् और नासदीयवाद के लिये स्थान था । वहाँ यवन ऋषि प्लातो के प्रतीयमान जगत

से परे तर्क प्राप्य ध्रुव सत्य के विमर्ष और तथागत के अनात्म-कर्मवाद के लिये भी स्थान था। उनकी उदारता में ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करने वाले, सागल के धर्मज्ञ, विप्र-समाज द्वारा लांछित और तथागत के अभिधर्म द्वारा अभिशप्त, लोकायत के समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक की सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य बताने वाले चारवाक मारिश के लिये भी स्थान था। धर्मस्थ के न्याय द्वारा दो बार दण्डित होकर भी मारिश महापण्डित का कृपा-पात्र था।

मारिश तक्षशिला से मूर्तिकला का ज्ञान प्राप्त कर सागल में लौट, 'मिलिन्द-विहार' के सिंह-द्वार के तोरण पर भगवान् तथागत के जीवन-चरित्र अंकित कर रहा था। एक दिन उसने तथागत के पूर्व अवतारों को मिथ्या विश्वास बता कर, संघ-स्थविर से की प्रतिज्ञा को भंग कर जातक कथा उत्कीर्ण करना अस्वीकार कर दिया। संघ-स्थविर ने भोग-लिप्सा के सुख को मिथ्या भ्रांति के रूप में दिखाने का आदेश दिया। मारिश ने वह भी स्वीकार न किया। संघ-स्थविर द्वारा धर्मस्थान में उपस्थित किये गये प्रतिज्ञा-भंग के अभियोग के न्याय में धर्मस्थ ने मारिश को अर्थ-दण्ड दिया। उसी दिन संध्या समय उन्होंने अपने प्रासाद के आस्थान में मारिश को निमंत्रित कर, समाज में उसे अपने ही उपघान पर आश्रय-स्थान देकर उसका आदर भी किया।

स्वभाव से विचारक होने के नाते धर्मस्थ के आस्थान में मारिश का भी निरादर न था। महापण्डित को किसी भी वाद के प्रति पूर्ण सत्य का आग्रह न था, न वे किसी वाद को पूर्णतः मिथ्या कह पाते थे। वेद वचन—'एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति' ही उनका उदार मत था।

इस वातावरण में पोषित होकर दिव्या ज्ञान, कला और संस्कृति से उसी प्रकार भिजी हुई थी जैसे कमल जल से भीगा न रहने पर भी उसमें जल समाया रहता है। दिव्या की विशेष रुचि संगीत और नृत्य में थी परन्तु वृद्ध प्रपितामह के निरन्तर सामीप्य से वह ज्ञान के प्रसंग से भी अबोध न थी। उसने ज्ञान को शब्दों की अपेक्षा भावना में ही पाया था।

गत रात्रि मधुपर्क उत्सव में विलम्ब हो जाने के कारण प्रातः दिव्या अपने शयन-कक्ष से भी विलम्ब से निकली। सुखद आलस्य में सभी काम विलम्बित

गति से हो रहे थे। मध्याह्न ही से उसे ध्यान था कि गत रात्रि कला प्रदर्शन में सम्मान पाने के कारण, संध्या समय साधुवाद देने आने वाले अतिथियों की संख्या अधिक होगी। संध्या की बात सोच कर उसका मन और शरीर पुलक से भर जाते।

दिव्या को स्मरण हो आया, गत संध्या उसकी शिविका में कंधा देने के गौरव के लिये आचार्य-पुत्र आर्य रुद्रधीर ने खड्ग खींच ली थी। रुद्रधीर प्रायः ही धर्मस्थ के आस्थानागार में अथवा संध्या के समाज में उपस्थित होते थे। उन्हें आर्य मारिश की उपस्थिति असह्य होती। मारिश से उनके तर्क में कटुता आ जाती। तात प्रायः उपेक्षा कर देते। महापितृव्य विष्णु शर्मा मारिश की उच्छृङ्खलता से विरक्ति अनुभव कर मौन हो जाते और पितृव्य प्रद्युम्न शर्मा विनोद से मुस्करा देते। मारिश उपेक्षापूर्ण अहंकार से अट्टहास कर देता। दिव्या, रुद्रधीर और मारिश के द्वन्द्व से विरक्ति भी अनुभव करती और कौतुहल भी।

आर्य रुद्रधीर का एक विवाह दो वर्ष पूर्व हो चुका था परन्तु वे कुमारी दिव्या के प्रति भी अनुरक्त थे। आचार्य कुल के प्रति आदर का भाव होने पर भी दिव्या को रुद्रधीर की द्वितीया पत्नी बनने की कल्पना रुचिकर न हुई। इसी प्रकार की स्मृतियों में वह संध्या की कल्पना कर रही थी।

दासी ने संदेश निवेदन किया—“तात धर्मस्थ कुमारी का स्मरण कर रहे हैं।”

धर्मस्थ ने स्नेह से दिव्या के केशों पर हाथ रख आदेश दिया—“वत्स, दास शम्बक ने निवेदन किया है, कोई रथारूढ़ भद्र अभ्यागत द्वार पर उपस्थित है। मैं गत रात्रि के श्रम से क्लान्ति अनुभव कर रहा हूँ। पुत्री, अभ्यागत की अभ्यर्थना कर कुशल-क्षेम और आने का कारण पूछो।”

दिव्या, दासी के हाथों में रजत आधार पर ताम्बूल और अर्घ्य लेकर आस्थानागार में पहुंची। सम्मुख मुखद्वार से यवन सामन्त के समान गौर वर्ण परन्तु द्विज के समान कृष्ण नेत्र, ऊंचे और बलिष्ठ शरीर क्षत्रिय-वंशी युवक ने अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में प्रवेश किया। युवक मूल्यवान कौशेय वस्त्रों को उपेक्षा से धारण किये था। दिव्या ने पहचाना, गत रात्रि का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी आयुष्मान पृथुसेन।

दिव्या ने अभ्यागत के सम्मुख बद्ध कर नासिका तक उठाकर नमस्कार से स्वागत किया—“आर्य, आस्यताम् !” और दासी के हाथ से अर्घ्य आधार ले अतिथि के सम्मुख उपस्थित कर प्रार्थना की, “आर्य, अर्घ्य ग्रहण करें।”

क्षुब्ध अभ्यागत नमस्कार का उत्तर गम्भीरता से देकर अर्घ्य ग्रहण करने से पूर्व ही बोला—“भद्रे, महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र मैं, पृथुसेन, धर्मस्थ के द्वार पर न्याय की भिक्षा के लिये प्रस्तुत हुआ हूँ।”

आस्थानागार के मुख द्वार के तारण से पिजरे में लटकी वाचाल सारिका बोल उठी—“न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा।”\*

दिव्या के ओठों पर अभ्यागत के स्वागत में शिष्टाचार की ईषत् मुस्कान सारिका की वाचालता से हास्य में परिणत हो गयी। कुमारी ने आश्वासन दिया—“आयें अर्घ्य ग्रहण करें। न्याय-द्वार से न्याय के लिये निराश न होना पड़ेगा। अवोध सारिका भी इस सत्य की साक्षी है।”

“मैं कुमारी के आश्वासन पर विश्वास करता हूँ।” विनय से उत्तर दे पृथुसेन ने कुमारी द्वारा निर्दिष्ट आसन ग्रहण कर ताम्बूल ले लिया। दिव्या समीप बैठ कर बोली, “तात धर्मस्थ इस समय अस्वास्थ्य के कारण यदि आर्य स साक्षात्कार का लाभ न पा सके, आर्य उन्हें क्षमा करेंगे।”

पृथुसेन वृद्ध धर्मस्थ के कुशल-क्षेम के प्रातःमंगल कामना कर सम्भ्रम से आसन छोड़ कर खड़ा हो गया। उसने धर्मस्थ की प्रपौत्री के न्याय आश्वासन के प्रति सन्तोष प्रकट किया। पुनः दर्शन की आशा लेकर वह लौटना ही चाहता था कि धर्मस्थ के पुत्र, दिव्या के महापितृव्य पण्डित विष्णु शर्मा और पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा चिंताशील मुद्रा में वार्तालाप करते हुये आस्थानागार में प्रविष्ट हुये।

प्रबुद्ध शर्मा ने अतिथि को सम्बोधन किया—“आयुष्मान्, प्रबुद्ध शर्मा नमस्कार करता है।”

विष्णु शर्मा ने प्रबुद्ध शर्मा की ओर दृष्टि डाल अभिवादन का सकेतमात्र कर कहा—“अभ्यागत की अभ्यर्थना करता हूँ।”

पृथुसेन विदा की आज्ञा ले चुका था। नवागन्तुक पितृव्यों का व्यस्त भाव देख कर उनके वार्तालाप में बाधा न बनने के विचार से वह सत्कार का उत्तर देकर विदा हो गया।

दिव्या को सम्बोधन कर विष्णु शर्मा बोले—“दास सारथी पुत्र का तुमने अर्घ्य से सत्कार किया ! तुम अपने पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा की भांति समदर्शी तथा-गत की शिष्या होने योग्य हो।”

---

\* धीर जन न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।

दिव्या महापितृव्य के उपांलम्भ से मौन रह गयी परन्तु प्रबुद्ध शर्मा ने अपने और भ्रातृजा के प्रति व्यंग्य का उत्तर परिहास से दिया—“तात, पृथुसेन का पिता किसी समय दास था। आज वह अनेक दासों का स्वामी, सागल का प्रमुख श्रेष्ठी और गणपति का प्रमुख मंत्रणादाता है। सागल में उसकी अवज्ञा कौन करता है ! तात, पृथुसेन दासों की भांति हाथ में चंवर लेकर नहीं, खड्ग लेकर आता है—क्यों दिव्ये ! वत्से, वह सम्मान का अधिकारी है।”

विष्णु शर्मा उद्विग्न हो उठे—“धन संचय से सम्मान का अधिकारी ? प्रबुद्ध श्रमणों और यवनों की संगति और व्यापारिक वंश्य-वृत्ति की ओर प्रवृत्ति होने से तुम्हारी ऐसी मति है। धन की महिमा तुम्हारी दृष्टि में इतनी अधिक है। धन भोग्य वस्तु है, वह मनुष्य का मूल्य निश्चित नहीं कर सकता। धन के इसी गर्व के कारण,” विष्णु शर्मा का स्वर तीव्र हो गया, “रात्रि इस दास-पुत्र ने द्विज सामान्त-पुत्रों से स्पर्धा कर सरस्वती-पुत्रों की शिविका में कंधा लगाने का साहस किया। रुद्रधीर के वर्जने पर वह खड्ग खींच कर युद्ध के लिये तैयार हो गया। ब्राह्मण के सम्मुख दास खड्ग खींचे ! इस प्रकार के अनाचार से मद्र राज्य में कुल-गण के शासन और वर्णाश्रम का क्या अधिकार और सम्मान रह गया ?”

प्रबुद्ध शर्मा ने पुनः मुस्कराकर उत्तर दिया—“परन्तु तात, मनुष्य और उसके वंश की स्थिति में परिवर्तन आता है। छत्रपति मौर्य वंश भी एक समय नापितों का कुल था। दूसरे समय सम्पूर्ण जम्बू द्वीप ने उनकी वन्दना की। विप्र-श्रेष्ठ चाणक्य ने उनका मंत्रित्व किया।”

“भूमि अब उस अनाचार से मुक्त हो चुकी है,” विष्णु शर्मा बोले। “अपनी हेय स्थिति को सम्मानित बनाने के लिये ही, वर्णाश्रम का पद न्यून करने के लिये ही अशोक ने मुण्डियों की शरण ली। यदि देवता मनुष्य से अधिक समर्थ है तो देवता का अश अग्नि को धारण करने वाला ब्राह्मण भी शूद्र के समान नहीं। अग्निमुख ब्राह्मण के श्राप से पातक थ्वंस होकर पृथ्वी पापमुक्त हुई है। कल अभिजात कुल की स्पर्धा में इस दासपुत्र ने खड्ग खींचा था। यदि वह पीछे न हट जाता, उसके रक्त से उसके सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी होने के अहंकार का प्रायश्चित्त हो जाता। यवन गणपति के अविचार से ही यह समस्या उत्पन्न हुई। यह मद्र के कुल-गण का राज्य है, यवन मिलिन्द का धर्मचक्र नहीं ! नीचों को यह कहने का अहंकार—कम्मणाभवती बाम्मणो ! ब्राह्मण को जिसने देवत्व दिया है, केवल वही उसे अपदस्थ भी कर सकता है। मनुष्य ऐसा नहीं कर

सकता। क्या यह मुण्डी समय पर वृष्टि न करने के दुष्कर्म से मेघराज इन्द्र को भी अपदस्थ करेंगे? कहेंगे—कम्मणाभवती देवो! इस नास्तिकता का दण्ड अब सागल में पापी को जिह्वा खींच कर दिया जायगा...। वह सम्भवतः तात के न्याय की शरण मांगने आया था।”

“परन्तु तात!” प्रबुद्ध शर्मा ने पितृव्य के प्रति आदर के विचार से विनीत परिहास में उत्तर दिया, “देवता का विधान केवल विश्वास और अनुमान की वस्तु है, जैसे देवता के अस्तित्व का प्रमाण केवल विश्वास और अनुमान है। देवता और उसका विधान अनुभव और प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं है। अनुमान अनुभव के आधार पर ही हो सकता है। यदि अनुमान अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं तो सन्दिग्ध है।”

उत्तेजित होकर विष्णु शर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—“यह मुण्डियों का कुतर्क है। प्रमाण क्या है? आप्त पुरुष का वचन प्रमाण है। जो नहीं जानता उसके लिये जानने वाले का वचन प्रमाण है। ब्राह्मण के अधिकार का प्रमाण ब्राह्मण की शक्ति है।” प्रबुद्ध शर्मा के बाहुमूल पर बंधे रत्नजटित अंगद की ओर संकेत कर उन्होंने आवेश में पूछा, “क्या मूल्य है आज यह रत्न धारण करने का?” प्रबुद्ध के कंधों पर पड़े उत्तरीय की ओर उन्होंने उगली उठाई, “क्या प्रयोजन है आज यह कौशेय धारण करने का? जब दास और शूद्र भी ऐसे ही, इससे भी उत्तम वस्त्राभूषण पहने फिरते हैं! क्या अब यह वर्ण, वंश और अधिकार का परिचायक है? यदि माणिक भित्ति चुन सकने योग्य संख्या में मिल सकें तो उन्हें माथे पर ढोने का क्या अर्थ? ...यदि शूद्र दास भी द्विज के समान अधिकार पा सकता है तो द्विजत्व क्या है? क्या ब्राह्मण के मंत्र और क्षत्रिय के शस्त्र की शक्ति शूद्र की सेवा के लिये है?” विष्णु शर्मा आवेश में दीर्घ पदों से अन्तःपुर की ओर चले गये।

महापितृव्य के क्रोध से अप्रतिभ होकर दिव्या उंगलियों में उत्तरीय का छोर लपेटती हुई भूमि पर बने तूलिका-लेखन की ओर दृष्टि गड़ाये खड़ी थी। प्रबुद्ध शर्मा भ्रातृजा को सात्वना देने के लिये कहुना से बोले—“वत्से, खिन्न होने का कारण नहीं। अभ्यागत का सत्कार करना ही चाहिये। पितृव्य दासपुत्र को नमस्कार करना नहीं चाहते परन्तु अभ्यागत की अभ्यर्थना तो उन्होंने भी की ही। मद्र की परिपाटी की उपेक्षा आर्य कैसे करते?”

पितृव्य की सहानुभूति से दिव्या का क्षोभ उमड़ आया। नेत्रों में छलक

आये अश्रु छिपाने के लिये उत्तरीय के छोर से मुख ढंके, सिर झुकाये खड़ी रही। दिव्या की पीठ पर हाथ रख प्रबुद्ध ने स्नेह से प्रतारणा की—“बालिश, पितृव्य का मत उस प्रकार है तो क्षोभ का क्या कारण है ! मतभेद स्वाभाविक है। तात की गोष्ठियों में तूने विज्ञों को कभी एकमत होते देखा है ? और उनमें मूर्ख कौन है; आचार्य प्रवर्धन या पण्डित ईक्रिद; या अर्हत धर्मरक्षित और चोवुक या आयं मारिश ?”

दिव्या ने आंसू पोंछ कर अवरुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—“गत संध्या ही तो गणपरिषद ने आयं पृथुसेन को सागल के सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी का सम्मान दिया है। इसमें मेरा दोष क्या ?”

“हां,” प्रबुद्ध शर्मा ने कौतुक से समर्थन किया, “वह आयुष्मान तुम्हारे प्रति सम्मान प्रदर्शन का अवसर पाने के लिये आचार्यपुत्र रुद्रधीर का रक्त बहाने को तत्पर हो गया। तुम उसका आदर न करोगी ? ... भद्रे, मद्र-रक्त कृतघ्न नहीं होता।”

प्रबुद्ध का बलिष्ठ हाथ अपने दोनों कोमल करों में अनुराग से थाम कर दिव्या ने प्रश्न किया—‘तात, आयुष्मान पृथुसेन ही वह युवक थे ? इसी कारण महापितृव्य उनसे खिन्न हैं ? शिविका के ऊपर होने और जनसमूह के उमड़ आने से मैं कुछ जान न पाई।’

“हां हां, आओ,” स्नेह से दिव्या को अंक में लेकर अन्तःपुर के द्वार की ओर बढ़ते हुये उन्होंने कहा, “कोई आश्चर्य नहीं। शिविकारूढ़ शिविकावाहकों की ओर कब देख पाते हैं ! भद्रे, दासी से मेरे लिये स्नान का आयोजन करने के लिये कहो। देखो न, स्वेद से मार्ग की धूल शरीर पर जम गई है।”

पृथुसेन के लौट जाने पर दिव्या उसके आगमन का समाचार और प्रयोजन तुरन्त ही तात धर्मस्थ के सम्मुख न कह सकी। संध्या हो गयी और महापण्डित अनेक कार्यों में व्यस्त होकर रात्रि के प्रथम पहर तक अभ्यागतों से घिरे रहे। दिव्या के मन में वह प्रसंग निरंतर बना रहा। अन्य सब विषयों से ऊपर वही प्रसंग उठ आता। मन में दुविधा सी अनुभव होने लगती। उसके अनेक कारण थे... महापितृव्य विष्णु शर्मा का व्यवहार, घटना से स्वयं अपना सम्बन्ध। गत संध्या आये अभ्यागतों के समाज में आपानक के समय उसने इस विषय का प्रसंग सुना था। वह जानती थी, समाचार तात तक पहुंच चुका था। समाचार कहने की अपेक्षा वास्तव में वह उस विषय में तात का मत ही जानना चाहती थी।

दिव्या की उस प्रसंग के प्रति अपनी चिन्ता ही दुविधा का कारण बन गयी। यदि विशेष विचार से पूर्व ही समाचार तात के सम्मुख बह दिया होता तो कोई बाधा न होती। अब निरंतर मनन करते रहने से ही उसका बोझ बढ़ गया और बाधा अनुभव होने लगी। न कहना भी उचित न था। उसने न्याय का आश्वासन दिया था तो उपेक्षा कैसे करती ! एक प्रकार से वचन देना ही हुआ ! अन्याय क्यों हो ! न्याय-अन्याय के प्रसंग से नित्य ही उसके कान भरे रहते थे। उसने कभी उस और ध्यान न दिया था परन्तु इस प्रसंग में वह उपेक्षा न थी।

दिव्या प्रायः प्रति संध्या ही प्रासाद के उद्यान में प्रपितामह, पितृव्या और महिलाओं की गोष्ठियों में उपस्थित रहती थी। वृद्ध जन और कुल-स्त्रियाँ कला में उसकी अद्वितीय क्षमता के लिये साधुवाद देकर आशीर्वाद देते थे। अभिजात युवक और कुल-स्त्रियाँ उसकी स्तुति करती थीं। उस प्रशंसा से उसे उत्साह और सतोष होता था।

आर्य रुद्रधीर ने उस विषय में कभी कुछ न कहा था। इससे दिव्या को संतोष ही था। उनसे साधुवाद पाने अथवा उन्हें उत्तर देने में उसे असुविधा-जनक संकोच अनुभव होता था। वही बात आर्य मारिश के सम्बन्ध में थी। एक दिन उन्होंने विचित्र ही बात कह दी थी—“भद्र, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखारमात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।” अनैतिकता और अनाचार के समर्थन का अपवाद पाये मारिश के इन शब्दों, उनके स्वर और नेत्रों के भाव से दिव्या को आशंकामय रोमांच हो आया था।

मारिश की बात दिव्या को प्रायः स्मरण हो आती। वे शब्द अर्थगर्भित थे। मन ही मन दिव्या उनके अर्थ, उनकी गूढ़ता और व्यंजना को सोचती रहती। उन शब्दों में माधुर्य, गर्व, आशा और स्फूर्ति थी परन्तु उस अव्यवस्थित, अपवाद के पात्र, स्थानभ्रष्ट युवक के सामीप्य से संकोच और आशंका अनुभव होती थी। वह सोचने लगती—सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी आर्य पृथुसेन ने मेरी कला के विषय में मत प्रकट नहीं किया... शिविका के प्रसंग में उनका खड्ग खींच लेना... वही उनका मत था।

दिव्या ने दुविधा और संकोच के कारण तात धर्मस्थ के मध्याह्न विश्राम के समय एकान्त देख उनके कक्ष में प्रवेश किया। महापण्डित पर्यंक पर उपधान से पीठ टिकाये बैठे थे। दिव्या ने प्रपितामह के पिगल केशों को सहलाते हुये

पृथुसेन के आने का समाचार कहा और प्रवाह में महावितृव्य विष्णु शर्मा के व्यवहार की भी बात कह गयी ।

धर्मस्थ माथे पर हाथ रख सब सुनते रहे । फिर दिव्या के मौन में उत्तर की प्रतीक्षा अनुभव कर बोले—“बाले, अब तो देवी मल्लिका अपने अवसाद से मुक्तिलाभ कर कला की आराधना में रत हो गई हैं न ?”

“हां तात !” दिव्या ने उनके केशों में दृष्टि गड़ाये उत्तर दिया, “अब उनके प्रासाद में नित्य नियम से समाज होता है । नवीन शिष्यार्थी भी उन्होंने स्वीकार की हैं ।”

“सन्तति का शोक मनुष्य को निस्सत्त्व कर देता है ।” धर्मस्थ ने दीर्घ निश्वास लिया, “हां, अब मल्लिका किस शिष्या को अपने आसन का उत्तराधिकारी बनाने की आशा कर रही है ? क्या रुचिरा की प्रतिभा उनकी किसी अन्य शिष्या में है ? मल्लिका तुम्हें और अपनी पुत्री को अपने दो नेत्रों के समान ही समझती रहीं ।”

“सम्भवतः मादुलिका को...परन्तु उससे देवी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हैं । तात, मादुलिका में गति का लास्य और लाघवता नहीं न ?”

“सत्य है बाली, मल्लिका की उत्तराधिकारिणी का उनके समान ही प्रतिभाशाली होना सुगम नहीं । प्रकृति में क्रम सम रूप में नहीं चलते । मल्लिका अपनी गुरु देवी इन्द्रा से कहीं आगे बढ़ गयी । जन इन्द्रा को भूल ही गया...”

दिव्या का मन विकल हो रहा था । जिस महत्वपूर्ण प्रश्न को उसने कठिनाई से तात के सम्मुख निवेदन किया था, उस ओर उनका ध्यान ही नहीं गया । उस ने प्रश्न किया—“हां तात, धर्मास्थान के सम्मुख तो सभी नागरिक समान हैं ?”

अपने माथे पर रखा हाथ प्रपौत्री के सिर पर टिका कर विनोद के स्वर में उन्होंने उत्तर दिया—“बाली, माला-गुन्थन, तूलिका-लेखन और नृत्य-वीणा छोड़ कर तुम किन नयी ग्रन्थियों में उलझ रही हो वत्स !” विनोद का उनका स्वर स्वतः ही बदल गया, “दिव्यो, एक महाराज पौरव का धर्मास्थान था, एक विजयी मिलिन्द का और एक कुल-गण के राज्य का धर्मास्थान है ।” कुछ क्षण मौन रह कर वे बोले, “धर्मास्थान कोई स्वयंभू और स्वतन्त्र वस्तु नहीं है ।” वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है । इतने समय पर्यन्त न्याय की व्यवस्था देते रहने से मैं यही समझ पाया हूं कि न्याय व्यवस्थापक के अधीन है । पुण्यस्मृति तात के समय पौरव वंश और उनके सामन्तगण के

विचार और उनके अधिकारों और शक्ति की रक्षा का विधान ही न्याय था। विजयी मिलिन्द के समय इन सबका अधिकारच्युत हो जाना न्याय था और महाराज मिलिन्द और उनके समर्थक सामन्त वर्ग और उनकी स्थिति और अधिकारों की रक्षा न्याय था। फिर मद्राज्य में तथागत के धर्म की भावना ही न्याय हो गयी और यज्ञ में पशु-बलि का पुण्य कार्य अपराध हो गया। मद्र के वर्तमान कुल गण के राज्य में कुलों की सत्ता व्यवस्था का आधार है। वर्णाश्रम पुनः मान्यता पा रहा है।

अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर दिव्या ने पुनः प्रश्न किया—“परन्तु तात, आर्य प्रेस्थ का कुल दासत्व से मुक्त हो चुका है। आयुष्मान पृथुसेन को गण ने सम्मानित किया है।”

अलिन्द के सम्मुख तोरण से लटके पिंजरे में सारिका की ओर दृष्टि किये वयोवृद्ध चिंतित स्वर में बोले—“ठीक कहती हो वत्से, यही तो जटिलता है। प्रेस्थ दासत्व-मुक्त हो चुका है। पृथुसेन गण द्वारा सम्मानित हो चुका है; अन्यथा वह न्याय का प्रश्न लेकर न आता। प्रेस्थ द्वारा अपनी माताओं के स्तनों से छीन कर बेच दिये जाने वाले अश्व-शावक या दास तो न्याय की समस्या नहीं उठाते ! वत्से, एक व्यक्ति द्वारा न्याय की पुकार का प्रश्न जटिल नहीं होता। युवक पृथुसेन खड्ग-बल से अपने अधिकार की रक्षा का प्रयत्न कर सकता है। प्रश्न केवल उसके सम्मान और अधिकार का नहीं, समस्या गूढ़ है। उसने परिषद के सम्मुख सेना में पद के लिये आवेदन किया है। वह उस के योग्य है। उसका पिता महत्वाकांक्षी है। प्रेस्थ दश सहस्र स्वर्ण मुद्रा व्यय कर सकता है। यदि धर्मास्थान पृथुसेन को वर्ण, कुल और अभिजात वंश के सम्मान का अधिकार देता है तो वह सेना में पद का अधिकारी हो जाता है। यदि परिषद उसे सेना में पद का अधिकार देती है तो वह अभिजात वंश और कुल के सम्मान का अधिकारी हो जाता है।

“पृथुसेन का सेना में पद पाना सामन्त के आसन की पहली सीढ़ी पर पांव जमाना है। यदि प्रत्येक कुल, सामन्त कुल का पद और अधिकार पा सके तो अभिजात कुल का अधिकार क्या रहेगा ? यदि गण केवल द्विजकुलों का होता, स्थिति दूसरी होती परन्तु गण मिश्रित है। उसमें यवन सामन्त हैं, तथागत के अभिधर्म से प्रभावित अनेक क्षत्रिय और वैश्य हैं। उनके लिये वर्ण की शुद्धता और अधिकार का महत्व नहीं; प्रत्युत उन्हें वर्ण-वर्ग की शक्ति से स्पर्धा है

इसीलिये परिषद में गणसंवाहक इस विषय को स्थगित किये हैं...धर्मस्थान में इस प्रश्न का निर्णय समाज की व्यवस्था का प्रश्न है ।”

तात के उत्तर से अनुत्साहित होकर दिव्या ने पूछा—“परन्तु तात, मद्र गण-राज्य के धर्मस्थान में सिह और मृग के एक साथ जल पीने का जो सिद्धांत है...?”

तात के अत्यन्त शुभ्र श्मश्रु से आच्छादित मुख पर मुस्कान झलक आई । “सिह और मृग के एक साथ जल पीने का रूपक न्याय-व्यवस्था के प्रति आदर के लिये आवश्यक है परन्तु सिह और मृग का एक साथ जल पीना दोनों की परवशता से ही सम्भव है : स्वतंत्र केवल उन्हें एक साथ जल पीने के लिये विवश करने वाला शासक है और उसकी यह इच्छा ही न्याय का आधार है ॥ नास्तिक मारिश ने तथागत की जातक कथा उत्कीर्ण न करने की प्रतिज्ञा-भङ्ग के अभियोग में धर्मस्थान से अर्थ-दण्ड पाया । व्यवस्था की रक्षा के लिये वह आवश्यक था; परन्तु यदि मारिश दण्ड-भय और अर्थ-लोभ से अपने मत के विरुद्ध आचरण करता तो क्या उचित होता ? ...पुत्री, न्याय के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं ।”

तात स्नेह से प्रपौत्री के केशों पर हाथ रखे रहे परन्तु मन के क्षोभ के कारण दिव्या के लिये वह स्नेह व्यवहार उस समय अर्थहीन बल्कि मानसिक यंत्रणा बन गया ।

दिव्या के जन्म से पूर्व भी उसकी माता का स्वास्थ्य क्षीण था । उसके जन्म के दिन ही दासी धाता अपने पीन स्तनों पर नवजात बालिका को लिये उपस्थित हुई । धर्मस्थ के प्रासाद में लोग धाता का अपना नाम भूल कर, वत्सल कन्या की धाता को सभी ‘धाता’ ही पुकारने लगे । दासी ने भी उस नाम को स्वामी की कन्या के माता के स्थानापन्न मानकर गर्व से धारण किया । दिव्या की माता ने अपनी सन्तान की धात्री की कन्या को अपनी सन्तान की छाया मान कर छाया ही पुकारा और उसका नाम भी छाया ही हो गया ।

वयोवृद्ध धर्मस्थ के स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र के एकमात्र पुत्र की एकमात्र कन्या सभी की दुलारी थी । शैशव में ही उसकी माता और फिर पिता का भी देहान्त हो जाने से परिवार का अनुराग उसके प्रति और भी उमड़ पड़ा । वह धर्मस्थ के अग्रज पुत्र, अग्रज पोत्र और अग्रज प्रपौत्री सभी की प्रतिनिधि बन कर विशेष

आदर और स्नेह की पात्र थी। दिव्या अपनी मातामही और धात्री सहित प्रासाद के उसी भाग में रहती थी जिसमें स्वयं धर्मस्थ रहते थे परन्तु दूसरे पितृव्यों के प्रासाद-कक्ष भी उसके लिये पराये न थे। वह तितली की भांति सभी कुंजों पर उड़ती फिरती और उसकी धात्री और छाया उसके साथ-साथ रहती। दस वर्ष की आयु तक छाया केवल दिव्या के लिये क्रीड़ा सखी रही। इसके पश्चात् प्रासाद की छोटी-मोटी सरल सेवा के लिये उसे कभी इस कक्ष में और कभी दूसरे कक्ष में नियत कर दिया जाता।

जैसे आकाश में चन्द्र की कलाओं की पूर्ति होने से पृथ्वी पर पड़े बिथले जल में पड़ने वाले चन्द्र के प्रतिबिम्ब में भी कलाओं की पूर्ति होती है, वैसे ही दिव्या की 'छाया' छाया ने भी वयस्क होकर यौवन पाया। आकाशगामी चन्द्रमा तो स्थिर, गम्भीर गति से अपनी यात्रा पूर्ण किये जाता है परन्तु बिथले जल में पड़ता उसका प्रतिबिम्ब साधारण कारणों से भी क्षुब्ध हो उठता है। छाया अन्तःपुर में युवा पुरुषों और उनकी युवती पत्नियों की सेवा और अत्यन्त सामीप्य से अपने शरीर के विकास और उपयोग से शीघ्र ही परिचित हो गयी,

एक दिन विनय शर्मा की माता ने छाया को असमय अपने पुत्र के कक्ष में पाकर क्रुद्ध हो उसे सरल सेवा से वंचित करके, बावड़ी से स्थान का जल लाने का कठिन कार्य सौंप दिया। भाग्य ने रक्षा की। उसके शरीर पर यौवन उन्मुक्त होकर निखर आया था; मुख पर यौवन का लावण्य था। छाया ने दासनायक बाहुल की दया से आस्थानागार में अतिथियों के सम्मुख मद्य-आधार उपस्थित करने की सेवा का कार्य पा लिया। वामनों, कंचुकियों, जर्जर वृद्धों और ईर्ष्यालु दासियों से भरे अन्तःपुर के जीवन से आस्थानागार की सेवा कहीं अधिक रुचिकर थी। वहाँ वैचित्र्य था, स्वच्छन्दता थी। दासों का नायक बाहुल छाया के प्रति सहृदय था।

छाया का मन आस्थानागार तक जा पाने के लिये अधीर हो उठता परन्तु ड्योढ़ी पर खड़ी खड्गधारी यवनी की मूर्ति स्मरण करने से शरीर का रक्त जम जाता। उसका मन चाहता कि दास बाहुल के विरह की पीड़ा से व्यथित अपने शरीर को अन्तःपुर की विशाल पाषाण-भित्तियों से टकरा कर छिन्न-भिन्न कर दे, शूलों से भरी झाड़ी में अपने शरीर को डाल दे। कई मास तक वह मलिन रही और फिर भाग्य और देवता की इच्छा मान कर सह गयी।

दिव्या ने सुना, पृथुसेन तात के सम्मुख आवेदन के लिये प्रस्तुत हुआ है। वह शील के विचार से उस समय जाकर उनके समीप न बैठ सकी परन्तु मन उत्सुकता और दुविधा से व्याकुल होता रहा। पृथुसेन से तात विमुख न थे परन्तु उसका अपना मन पृथुसेन से कुछ कहना चाहता था। क्या? सो वह स्वयं भी ठीक न जानती थी। ऐसा ही कुछ, सहानुभूति और सांत्वना के रूप में।

पृथुसेन कुछ भटका सा, आश्रय की खोज में खिन्न सा जान पड़ता था। दिव्या स्वयं भी कभी उसी प्रकार अनुभव करती थी। तब भरे-पूरे प्रासाद में भी सूनापन लगता। उस समय महापितृव्यों, पितृव्यों, मातामही और पितृव्याओं, भाइयों और बहिनों का स्नेह बोल सा जान पड़ता।

तात धर्मस्थ के प्रासाद में, अन्य परिचित परिवारों में, देवी मल्लिका और वसुमित्रा के यहां समाज में, आपानकों और समाह्वय में सब कहीं दिव्या के सतक कान पृथुसेन का नाम, मधुपर्व उत्सव की घटना और परिषद के सम्मुख पृथुसेन के आवेदन को लेकर मतामत का प्रसंग सुन पाते। उसके मन में एक कांटा सा बैठ गया। परिषद और धर्मास्थान दोनों ही स्थानों पर पृथुसेन के सम्बन्ध में विचार स्थगित था।

दिव्या मन में दुविधा रहने के कारण संकुचित और शिथिल रहती। वह कहीं भी संतोष न पाती। मातामही इस जीवन की यात्रा पूर्ण कर अपने विश्वास में परलोक के समीप पहुंच रही थीं और अत्यन्त परलोकाभिमुख हो रही थी। वे निश्चय न कर पायी थी—ब्रह्मलोक अधिक श्रेयस्कर होगा या निर्वाण? इसलिये अन्त समय जान वे अत्यन्त व्यग्रता से दोनों की ही प्राप्ति के लिये याज्ञिकों, पुरोहितों, अर्हतों और भिक्षुओं की कृपा के लिये प्रयत्नशील थीं। विशाल और विस्तृत परिवार की चिन्ता उनके लिये केवल क्षोभ का कारण बन गयी थी।

दासी घाता ने महादेवी का ध्यान दिव्या के शैथिल्य और अन्यमनस्कता की ओर दिलाया। महादेवी ने कुमारी की विवाह योग्य आयु के प्रति और इस ओर तात धर्मस्थ और दूसरे पितृव्यों की उपेक्षा के प्रति असंतोष प्रकट कर, दिव्या को व्यस्त रखने के लिये अनेक कार्य निर्दिष्ट कर दिये। उन्होंने आज्ञा दी, प्रपौत्री दिव्या पाकशाला में विशेष पकवानों का आयोजन करे, अतिथियों के लिये विशेष पुष्प-मालायें गूँथे, तूलिका-लेखन करे। छाया को पुनः उसकी सहचरी के रूप में नियत करने का आदेश दिया।

दिव्या और छाया अन्तःपुर के उद्यान में एक कुंज में बैठी मालायें गूँथ रही थीं। सम्मुख अनेक प्रकार के पुष्पों का ढेर लगा था। छाया की उंगलियाँ द्रुत गति से चल रही थीं और उसकी दृष्टि कभी अपनी उंगलियों की ओर कभी दिव्या के झुके हुये मुख की ओर चली जाती। पीठिका पर बैठी दिव्या की उंगलियाँ शिथिल थीं और दृष्टि निरन्तर झुकी हुई। हाथ की अधगुंथी माला छाया पर फेंक कर दिव्या ने मन का अवरुद्ध क्षोभ प्रकट किया—“यह झमेला मेरे सामर्थ्य का नहीं।” और उत्तरीय से मुख ढंक लिया।

छाया कुछ क्षण दृष्टि दिव्या के मुख की ओर लगाये मौन रही, फिर बोली—“भद्रे, महादेवी अम्मा से कह रही थीं, तात और पितृव्य कुमारी की आयु का विचार क्यों नहीं करते ! वह यौवन के उद्वेग के कारण ही अन्यमनस्क है, जैसे ऋतु काल में पशु-पक्षी ...।”

आवेश में मुख से उत्तरीय हटाकर दिव्या ने क्षुब्ध स्वर में भर्त्सना की—“निलंज्ज ! ...तू मर जा ! तुझमें तनिक शील नहीं ! इसी प्रकार की धृष्टता के कारण आर्यो अमिता ने तुझे अपने कक्ष से निकाला होगा।”

“नहीं भद्रे !” छाया ने निस्संकोच दिव्या के नेत्रों में देखकर और उंगलियों से माता गूँथते हुये उत्तर दिया, “भद्रे नहीं जानतीं स्वामिनी अमिता ने किस अपराध में तुझे कक्ष से बहिष्कृत किया ?” दिव्या के उत्तर की प्रतीक्षा न कर उसने कहा, “उस संध्या आर्य विनय अपने कक्ष में ही थे। उन्होंने कादम्बिनी का पात्र उपस्थित करने की आज्ञा दी। पात्र प्रस्तुत करने पर आर्य ने कौतुक से हाथ मेरे अंग पर दबा दिया। मेरे लजा कर सकुचाने से आर्य कुपित हो गयीं। बोलीं, तू छली और कुलटा है। दासी होकर कुल-ललनाओं की भांति लाज का नाट्य करती है। तू आर्य को मोहित करना चाहती है।”

“अलम् !” प्रसंग सेखिन्न होकर दिव्या ने मुख फिरा लिया परन्तु छाया समवयस्का होने और शैशव में स्वामिनी की क्रीड़ा-सखी रहने के अधिकार से कहती गई “...महादेवी ने अम्मा को आदेश दिया है, संध्या समय आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आर्य रुद्रधीर के आने पर कुमारी उनकी अभ्यर्थना करे। स्वामिनी अमिता महादेवी से कह रही थीं, आर्य रुद्रधीर कुमारी के प्रति अनुरक्त है।”

भृकुटि में बल डाल कर दिव्या ने धमकाया—“वाचाल, चुप रह !” और पीठिका से उठकर अपने कक्ष की ओर चली गई। छाया से अपने सम्बन्ध में लज्जाजनक प्रसंग सुन कुण्ठा अनुभव कर वह पर्यंक पर जा लेटी। लज्जा से

अपने में सिमिट जाने के लिये उसने दुकूल ओढ़ लिया। आंखें मूंद कर सिर दुकूल में लपेट लेने पर भी छाया की बात कानों में गूंजती रही—महादेवी ने अम्मा को आदेश दिया है, कुमारी आर्य रुद्रधीर की अभ्यर्थना करें—।

दिव्या प्रायः ही यथाअवसर अनेक द्विज-वंशी और यवन सामन्त युवकों की अभ्यर्थना करती रहती थी। रुद्रधीर की अभ्यर्थना भी वह कई बार कर चुकी थी। इस समय अभ्यर्थना के आदेश का प्रयोजन जान कर उसका मन विरक्त हो उठा। स्वर्णखचित रक्त कौशेय से अपने गुम्फित केश बांधे, माथे पर श्वेत चन्दन के खौर में रक्त तिलक लगाये रुद्रधीर उसकी कल्पना में दीखने लगा। उसके उत्तरीय के नीचे यज्ञोपवीत लटक रहा था परन्तु हाथ में खड्ग खींचे वह पृथुसेन को दिव्या की शिविका में कंधा लगाने से बरज रहा था। नेत्र मूंदे दिव्या की कल्पना में रुद्रधीर के प्रति भय और विरक्ति का भाव बैठ गया।

दिव्या मुख से दुकूल झटक कर उठ बैठी—“छाया, सुनो ! क्या काल होगा ?”

दिव्या के पर्यंक के मथूण का आश्रय लिये छाया उंगलियों से माला गूंथती उसी ओर दृष्टि लगाये अपनी कल्पना में खोई, स्वामिनी की अन्यमनस्कता दूर करने का कर्तव्य भूल गई थी। सहसा पुकार सुनने से सतर्क हो कर उसने द्वार से घाम की ओर देख कर उत्तर दिया—“भद्रे, सध्या में विलम्ब नहीं है। भद्रे के संध्या-प्रसाधन की आज्ञा हो !”

“नहीं...हा...हां...” चिबुक हथेली पर रखे, विचार में अधमूंदी आखों से दिव्या ने उत्तर दिया।

छाया ने नेत्रों में अनुनय भर प्रार्थना की—“भद्रे, अर्घ्य-आधार लेकर सेवा में आस्थानागार साथ चलने की आज्ञा दासी को देने की कृपा करेंगी ?” अर्घ्य उपस्थित करने के प्रसंग की स्मृति से विरक्ति अनुभव कर, दीर्घ निःश्वास लेकर दिव्या ने उत्तर दिया—“वाचाल, तू बड़ी निर्लज्ज है !” पर्यंक छोड़कर उसने छाया को आज्ञा दी, “जा कंचुकी को आदेश दे कि सारथी को रथ प्रस्तुत करने के लिये कहे।”

दिव्या रथ प्रस्तुत हो जाने के संदेश की प्रतीक्षा न कर अन्तःपुर से आस्थानागार होती हुई प्रासाद के सिंहद्वार की ओर चली जा रही थी। अपने पीछे दुकूल और पुष्पमालायें बाहु पर लिये चली आती छाया को उसने आज्ञा दी—“महादेवी से निवेदन कर, कुमारी देवी मल्लिका के समाज में जा रही है।”

दिव्या उद्यान मार्ग से सिंहद्वार की ओर जा रही थी। मार्ग में खड़े अत्यन्त

बृद्ध, निर्बलदृष्टि दास तारुक को अपनी ओर जिज्ञासपूर्ण दृष्टि गड़ाये देख कर दिव्या ने मुस्कराकर पूछा—“मातुल तारुक, शरीर स्वस्थ है ?”

तारुक ने दिव्या को पहचान कर स्नेह और आदर से विभोर थुथलाते स्वर में आशीष दी—“कुमारी दीर्घायु हो, श्वसुर-प्रसाद की एकछत्र स्वामिनी हो ! अनेक दिन पश्चात् कुमारी के दर्शन हुये । भद्रे, किस दिशा में प्रस्थान की इच्छा है ?”

“देवी मल्लिका के दर्शन के लिये, मातुल तारुक ।” दिव्या ने उत्तर दिया ।

तारुक ने कुमारी के मुख के अत्यन्त समीप, आयु से निर्बल नेत्र लाकर प्रश्न किया—“क्या स्वामिनी अनेक दिन कला और विनोद से दूर रहने के कारण ही शिथिल और म्लान जान पड़ती हैं ?”

कुछ उत्तर न सूझने से दिव्या ने आस्थानागार की ओर देख कर प्रश्न किया—“मातुल, छाया को विलम्ब क्यों हो रहा है ?” और घूम कर देखा ।

छाया एक द्राक्षावितान की ओट में दिखाई दी । उसके समीप दास बाहुल था । उस ओर से दृष्टि हटा कर दिव्या ने तारुक से पुनः प्रश्न किया—“मातुल, रथ में विलम्ब क्यों हो रहा है ?”

उत्तर मिला—“कुमारी, दास द्वार पर जाकर देखे ?”

दिव्या पीछे न देख, उत्तर दिये बिना द्वार की ओर बढ़ गयी । छाया द्रुत पदों से सम्मुख प्रस्तुत होकर स्वामिनी को रथ पर चढ़ाने के लिये उसके लहराते हुये उत्तरीय और अंतरवासक को समेटने लगी ।

पथ के असम और अश्व के वेगवान होने के कारण रथ हिलोरें ले रहा था । दिव्या की दृष्टि कभी इधर-उधर और कभी रथ के अधोभाग में बैठी छाया पर पड़ जाती । स्वामिनी से दृष्टि मिलने पर उसकी शैथिल्यपूर्ण गम्भीरता भंग करने के लिये छाया बोली—“भद्रे अनेक दिन पश्चात् देवी मल्लिका के प्रासाद में जा रही हैं । आज भद्रे को संतोष होगा ।

अपनी कल्पना में गहरी डूबी दिव्या ने छाया की बात को भी अपने ही विचारों के प्रसंग का अंग समझ कर स्वयं अपने को ही उत्तर दिया—“हां, परन्तु जाने आयुष्मान आयें अथवा न आयें ।”

“कौन आयुष्मान आये ?” उत्सुकता से ग्रीवा उठा कर छाया ने रहस्य के स्वर में प्रश्न किया ।

छाया की आंतरिकता से उत्साह पाकर दिव्या ने उत्तर दिया—“आयुष्मान पृथुसेन।” उसा समय रथ के पिछले भाग में बैठे कंचुकी पर उसकी दृष्टि पड़ी ।

सम्भ्रम से उसने अपनी बात पूरी की, “आर्य पृथुसेन ने तात के घर्मस्थान में मेरे द्वारा आवेदन किया था, उसी सम्बन्ध में।” वह पुनः अपनी कल्पना में खो गयी।

देवी मल्लिका संध्या समय समाज के प्रयोजन से प्रसाधन में व्यस्त थीं। दामी ने उन्हें सिंहद्वार पर घर्मस्थ की प्रपौत्री दिव्या का रथ पटुंचने का समाचार दिया। व्यग्रता में सब छोड़ कर मल्लिका नंगे पांव बछड़े के लिये अधीर गाय की भांति सिंहद्वार की ओर चल पड़ी। दिव्या को आधे मार्ग में पाकर अंक में ले, उसका सिर सूँघ, स्नेह से उसकी चिबुक उठा मल्लिका ने उपालम्भ दिया—“वत्से, इतने दिन तुम क्या मुझे भूल गयी थी? रुचिरा मुझे वियोग दे गयी तो क्या तुम भी भूल जाओगी?” मल्लिका ने अपने सजल नेत्र पोंछ दिव्या का मुख ध्यान से देख कर प्रश्न किया, “हाय, तुम निस्तेज क्यों हो रही हो? स्वस्थ हो न? अश्विनीकुमार तुम्हारी रक्षा करें। तुम कुछ चिंतित हो? मधुपर्व से चौथा पक्ष बीत गया। तुमने अपनी बूढ़ी होती मां की सुघ न ली।”

मल्लिका एक ही श्वास में सब कुछ कह गयी। स्नेह के इस अतिरेक से विभोर होकर दिव्या कुछ उत्तर न दे पायी। अपना सिर उसने मल्लिका के उमंगते हृदय पर रख दिया। उसके नेत्र सन्तोष में मुंद गये परन्तु नेत्र खुलते ही उसकी दृष्टि भटकने लगी—क्या आर्य अभी तक नहीं आये? अभी समय नहीं हुआ?

दिव्या को अंक में लिये अपने कक्ष की ओर लौटती हुई मल्लिका अब भी अपना उपालम्भ कहे जा रही थी—“पुत्री, तुम्हीं मेरी आशा हो, मेरी आत्मा की सन्तति। देव ने मेरी रुचिरा को छीन लिया। तुम्हें देख कर मैं उसे भूल रही थी और तुम इतनी निठुर हो। वत्से, मेरा न सही, वीणापाणि देवी सरस्वती के कोप का भय करो। पुत्री, कितने जन्म की तपस्या से देवी अलौकिक प्रतिभा का वरदान देती है। उसकी उपेक्षा और निरादर करने से देवी के अभिशाप का पात्र बनना पड़ता है। देवी ने तुम्हें अपना अंश अर्पित किया है।”

मल्लिका ने विशेष उत्साह से अपना श्रृंगार किया, विशेष उत्साह से उसने अभ्यागतों के लिये कापिशयिनी और कादम्बिनी सुरा के कृतुप प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। वृद्ध वादक वभ्रु को दिव्या के आने का समाचार देकर वादन में विशेष सतर्कता का आदेश दिया। अभ्यागतों ने उपाधान के आश्रय-विष्टरों पर स्थान ग्रहण कर लिया। मल्लिका दिव्या को साथ लेकर समाज में उपस्थित हुयी।

देवी ने वादकों को गांधारी के स्वर उठाने का संकेत कर स्वयं आलाप आरम्भ किया। संगीत के पश्चात् उसने छलिक नृत्य के लिये आदेश दिया। दिव्या से सहयोग देने का अनुरोध कर उसने स्वयं नृत्य आरम्भ किया।

देवी मल्लिका के अनुरोध की उपेक्षा दिव्या के लिये सम्भव न थी परन्तु वह नृत्य में तन्मय न हो सकी। उसके नेत्र निरन्तर दुविधा में पथ और द्वार की ओर लगे रहे। उपस्थित समाज ने सरस्वती-पुत्री, सागल की सर्वश्रेष्ठ कलाविद युवती को साधुवाद दिया। स्तुति और सन्तोष प्रकट करने के लिये मल्लिका के आसन के सम्मुख भेंट उपस्थित की परन्तु मल्लिका मौन थी। नृत्य समाप्त हो जाने पर दिव्या को सम्बोधन कर उसने कहा—“पुत्री, अनाभ्यास विद्या का शत्रु है।” और पूछा, “क्या तुम्हारा चित्त अस्थिर है?”

मल्लिका के सम्मुख अपराध स्वीकार कर दिव्या ने क्षमा-याचना की—“माता, मैं अस्वस्थ हूँ।... केवल दर्शनार्थ चली आई हूँ।”

मल्लिका शिष्या की पीठ पर स्नेह से हाथ रखे बैठी रही। दिव्या की दृष्टि प्रति कतिपय क्षण में सिंहद्वार और पथ की ओर भटक जाती।”

समाज लगभग समाप्त होने को था। पृथुसेन द्वार से आता हुआ दिखाई दिया। दिव्या ने सन्तोष का श्वास लिया परन्तु फिर उस ओर देख न सकी। न देख सकने पर भी उसने जाना, पृथुसेन अभ्यागतों के लिये लगे उपाधानों में चुपचाप पीछे की ओर जाकर बैठ गया है। वह चिन्ताग्रस्त और शिथिल जान पड़ा। दिव्या ने हृदय में अन्याय की वेदना अनुभव की।

मल्लिका के संकेत से दासियों ने अभ्यागतों के सम्मुख सुरापान और ताम्बूल उपस्थित किये। आलाप और परिहास से चतुश्शाल गूँज रहा था परन्तु दिव्या उस आनन्दोत्फ्लास में सहयोग न दे पाने से असुविधा अनुभव कर रही थी। वह देख रही थी, पृथुसेन भी एक ओर निरुत्साह वैठा था। वह मल्लिका के सस्मित अभिवादन का उत्तर एक क्षीण मुस्कान से देकर मौन और गम्भीर था।

समाज-विसर्जन से पूर्व मल्लिका ने रास-नृत्य का प्रस्ताव किया। दिव्या के शैथिल्य के कारण मल्लिका ने सहयोग के लिये न कहा परन्तु पृथुसेन से सम्मिलित होने का अनुरोध किया। देवी पृथुसेन के पदलाघव की प्रशंसिका थी। पृथुसेन क्षमा मांग कर अपने आसन पर ही बैठा रहा।

रास-नृत्य आरम्भ होने पर आसनों की व्यवस्था बदल गयी। दिव्या शीतलता और बायु के लिये चतुश्शाल से बाहर जा रही थी। पृथुसेन के समीप पहुंच कर

उसके कुशल-क्षेम के विषय में प्रश्न किया। पृथुसेन कुमारी के आदर में आसन छोड़ कर उत्तर देता हुआ दिव्या के साथ ही उद्यान में आ गया।

“आर्य के न्याय आवेदन के प्रति तात विशेष रूप से चिंतित हैं।” दिव्या ने पृथुसेन के प्रति समवेदना से कहा, “वे सम्भवतः गणपरिषद के निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे हैं।”

मुस्कराने का असफल यत्न कर पृथुसेन ने कहा—“तात धर्मस्थ से मैंने परिषद् का निर्णय जानने के लिये प्रार्थना नहीं, उनके न्याय-शासन से निर्णय के लिये आवेदन किया था।”

“आर्य का कथन सत्य है।” समवेदना के स्वर में दिव्या ने स्वीकार किया।

पृथुसेन गम्भीर होकर बोला—“भद्रे ने सारिका का साक्ष्य देकर जिस न्याय का आश्वासन दिया था, वह न्याय गणपरिषद का नहीं, धर्मास्थान का न्याय था। भद्रे, मैं वर्ण का न्याय नहीं, धर्म का न्याय चाहता हूँ। गणपरिषद स्वार्थी का संघर्ष है, धर्मास्थान न्याय का आसन है।”

दिव्या ने अपनी उंगलियों के नखों पर दृष्टि लगाये उत्तर दिया—“आर्य का कथन सत्य है।”

“और भद्रे!” पृथुसेन फिर बोला, “गणपरिषद से सहायता पाकर जो न्याय मुझे धर्मास्थान से मिलेगा, उसके लिये मैं धर्मास्थान के सम्मुख आभारी न हाऊंगा। वह न्याय नहीं, सबल का सम्मान मात्र होगा।”

पृथुसेन के स्वर और शब्दों से दिव्या ने हृदय पर आघात अनुभव किया। सिर झुका कर उसने स्वीकार किया—“आर्य सत्य कहते हैं।”

“धर्मस्थ का कार्य गणपरिषद की आज्ञा का पालन नहीं, परिषद को न्याय का मार्ग दिखाना है।” पृथुसेन बोला और दिव्या को सिर झुकाये मौन देख कर करुणा की मुस्कान से प्रश्न किया, “कुमारी की शिविका में कंधा देने की मेरी महत्वाकांक्षा क्या कुमारी की दृष्टि में भी अपराध है?”

“नहीं आर्य!” दिव्या ने दृष्टि उठा उत्तर देने का यत्न किया परन्तु नेत्रों में आर्द्रता अनुभव होने से ग्रीवा झुक गयी। उसने कहा, “मैं आदर के लिये कृतज्ञ हूँ।” उसकी ग्रीवा और भी झुक गयी।

कुछ क्षण दोनों चुप रहे। मौन भंग करने के लिये पृथुसेन बोला—“भद्रे, शीतल वायु के लिये समीप के कुंज में ताल के शिलातट पर विश्राम करें।”

दिव्या निरुत्तर सिर झुकाये पृथुसेन के संकेत से चल पड़ी।



## प्रेस्थ

मद्राधिपति परमधार्मिक यवनराज मिलिन्द धर्मचक्र में दीक्षित हो गये थे । कुछ समय पश्चात् उन्होंने राजा प्रासाद और राजसिंहासन त्याग कर प्रब्रज्या ग्रहण कर ली । यवनराज ने अपने सहस्रों स्वकीय और राजकीय दास-दासियों को दासता के बन्धन से मुक्ति दे दी । दासों को स्वतन्त्रता का दान देते समय महाराज ने उन्हें दक्षिणा-स्वरूप उनके भरण-पोषण के लिये यथेष्ट द्रव्य भी दिया । कुछ दिन तक सागल नगरी के पथों, वीथियों और पण्यों में इन मुक्त दासों की उच्छृङ्खलता से विशेष अव्यवस्था रह्यो । द्रव्य के संचय और उपयोग से अनाभ्यस्त दास अकस्मात् पाये द्रव्य से अत्यधिक मद-पान कर उन्मत्त हो विशेष तडक-भड़क से वस्त्र धारण करते और उपद्रव करते फिरते । उन्होंने दान में पाया द्रव्य समाप्त कर ऋण लिया । ऋण शोध में असमर्थ होकर वे पुनः द्विजवर्ग और सम्पन्न श्रेणी के हाथ दास रूप में बिक गये । अनेक दासों ने दासत्व और स्वतन्त्र जीवन के संघर्ष दोनों को ही कठिन जानकर तथागत के धर्मचक्र में शरण ले काषाय-चीवर और भिक्षापात्र लेकर शान्ति प्राप्त की ।

महाराज का शालिहोत्री दास प्रेस्थ यवनराज के साथ ही यवन देश से आया था । विशेष चतुर, विनीत और अश्वों की वंश-वृद्धि और चिकित्सा में विशेष दक्ष होने के कारण वह महाराज का विशेष कृपा-पात्र था । राजकीय दास होने से उसकी स्थिति अच्छी थी । महाराज ने संसार माया त्याग के समय प्रेस्थ को दासत्व से मुक्ति के अतिरिक्त कपिशा, कम्बोज, वाल्हीक और सुगम देश के अनेक बहुमूल्य अश्व दान दिये । इन बहुमूल्य अश्वों को लेकर प्रेस्थ ने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जाने वाले साथों के साथ यात्रायें कर अश्वों का व्यापार किया । अनेक स्थानों के अश्व और रथ दूसरे प्रदेशों में बेच कर, व्यापार से

सहस्रों स्वर्ण मुद्रायें उपाजंन कर प्रेस्थ स्वयं सागल में समृद्ध श्रेष्ठियों की भांति निवास करने लगा और उसके कार्यवाहक उसका विस्तृत व्यापार चलाने लगे । एक दरिद्र परन्तु रुपवती द्विजकन्या क्रय कर उसने विवाह कर लिया । अपने लिये अभिजातवर्ग के समान प्रासाद और उद्यान बनवाये, दास-दासियां क्रय किये और सामन्त वर्ग के समान रहने लगा ।

महाराज मिलिन्द ने पौरव राजवंश को पराजित कर मद्र देश पर अपना साम्राज्य स्थापित किया था । अपने दीर्घ राज्यकाल में उन्होंने राज्य-अधिकार-च्युत पौरव वंश के अनेक कुलों तथा अन्य अभिजात द्विजकुलों को सामन्तों के अधिकार और सम्मान देकर उन्हें शासनकार्य में अपना सहायक बना लिया था और अनेक यवन सेनापतियों को भी अग्रहार रूप ग्राम दान देकर अपना सामन्त बना लिया था । महाराज मिलिन्द के राजसिंहासन त्यागने पर उत्तराधिकारी के अभाव में मद्र के सम्मानित, सम्पन्न और सशक्त कुलों ने किसी एक को अपना शासक स्वीकार न कर, पूर्वी जम्बूद्वीप के गणराज्यों की ही भांति गणराज्य के रूप में मद्र देश का शासन सम्भाला । यवनराज के वृद्ध अनुभवी-नीतिज्ञ महासेनापति मिथोद्रस सैनिक शक्ति के सूत्रधार होने के कारण इस गण के गणपति और महासेनापति नियत हुये । महाराज के मंत्री महामति आचार्य देवमित्र गणपरिषद के संवाहक बने ।

श्रेष्ठी प्रेस्थ प्रचुर धन संचय कर और साधारण जन से सम्मान पाकर भी कुलीन न होने के कारण गणपरिषद का सदस्य न बन सका परन्तु वह अपने द्रव्य-बल, चातुर्य और विनय से गणपति मिथोद्रस का विशेष विश्वासपात्र बन कर अत्यन्त प्रभावशाली हो गया । महासेनापति मिथोद्रस का एक मात्र युवा पुत्र काल-कवलित हो गया था । शोकविह्वल गणपति के लिये चतुर, साहसी और विनीत प्रेस्थ उनकी दक्षिण भुजा के समान था ।

प्रेस्थ ने अपने पुत्र पृथुसेन का पालन अभिजात-वंश के कुमारों की भांति कर, उसे अभिजात-वंश के योग्य शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा भी दी । पृथुसेन किशोरावस्था समाप्त होने पर महापण्डित धर्मस्थ देव शर्मा के पुत्र विनय शर्मा, सामन्त क्रातुवीर के पुत्र सकृद, महाशाल समर्थक के पुत्र इन्द्रदीप और मद्र की गणपरिषद के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के कनिष्ठ पुत्र वसुधीर के साथ विद्योपाजंन के लिये तक्षशिला भी गया । शैशव से ही सम्मान पाने के कारण पृथुसेन में आत्मगौरव का भाव पिता से अधिक और विनय का चातुर्य कम था । उस

की प्रवृत्ति मार्ग रोकने वाली अर्गला के नीचे से सिर झुका कर निकल जाने की अपेक्षा अड़चन को गिरा देने की ओर थी। धन और प्रतिभा में अपने समयस्कों से बढ़ कर होने पर भी उनकी तुलना में सम्मान की न्यूनता उसके लिये असह्य हो जाती।

मगध के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मौर्य कुल के अन्तिम राजा बृहद्रथ के वध और मगध की राज्यक्रान्ति के समाचार सुदूर मद्र में अतिरंजित हो कर पहुँचे। मद्र के वर्णाश्रम धर्मावलम्बी कुलों और जन में जनश्रुति थी कि देवताओं के अजेय सेनापति कार्तिकेय ने जम्बूद्वीप को मौर्य वंशी शूद्र राजाओं के कलंक और नास्तिक मुण्डी धर्म के अभिशाप से मुक्त करने के लिये ही सेनापति पुष्यमित्र के रूप में जन्म लिया है। अग्निमुख, विप्रश्रेष्ठ, ब्रह्मर्षि पातञ्जलि ने इसी देवकायं के लिये सेनापति को राजसूय यज्ञ के पुण्य से अभिषिक्त कर अजेय कर दिया है।

मद्र के महाराज धार्मिक मिलिन्द की आज्ञा से यज्ञ में पशु-बलि का निरोध हो जाने के कारण यज्ञों की महिमा और शक्ति क्षीण हो गयी। मगध में वर्णाश्रम का पुनरुत्थान होने के उत्साह से मद्र में भी चिरउपेक्षित यज्ञ समा रोह पुनः बलि सहित आरम्भ हो गये। यजन-याजन से विरक्त याज्ञिकों और पुरोहितों ने पुनः अपने वर्ण-चिन्ह, शिखासूत्र और तिलक धारण किये। सागल का वातावरण महायज्ञों के हविष, यव, तिल, धान्य, घृत और मंत्रपूत पशुओं के मांस के भस्म होने की गंध से भर गया। देवार्चन के उपकरण शंख, घंटा, घड़ियाल, कांस्यताल और भेरी के नाद से वायु कम्पित होने लगा।

वर्णाश्रम धर्म के उत्थान की प्रतिक्रिया में धर्मराज मिलिन्द की श्रद्धा से भिक्षा में पाये ग्रामों के अग्रहारों से और नगर प्रदेश के निर्वाण-कामी उपासकों द्वारा घोषित तथागत के सहस्रों भिक्षुओं से पूर्ण विहार भी विक्षिप्त मधु-छत्रों की भांति गुंजार उठे : चैत्यों में तथागत की प्रतिमा के सम्मुख घण्टों का नाद अधिक काल तक और अधिक ऊँचे स्वर से होने लगा। हिंसा के पाप की ओर भटकते हुये नगर समाज के उद्बोधन के लिये शतशः भिक्षु बीथियों में सूत्र-पाठ द्वारा धर्म का संदेश देते फिरने लगे—‘चरंवेति भिक्खवे बहुजन-हिताय, बहुषण-मुखाय, लोकानुकम्पाय...’

श्रावण में सागल पर पावस के काले मेघ उमड़ आये। नगर के पथों और बीथियों पर भारी वर्षा से कीच और जल फल जाता, नगर विवश स्थिरता से

शियल हो जाता। वर्षा थमने पर चटकीले घाम से नगर के प्रस्तर निर्मित भवन और पथ तपने लगते। प्रासादों और साधारण भवनों के निवासी वातास-हीन ताप से व्याकुल और सामाजिकता के अभाव से उद्विग्न हो कर उपवनों-और उद्यानों में समाज का आयोजन करते। मेघों के सहसा उमड़ आने पर बौछारें उन्हें अपने भवनों का आश्रय लेने के लिए विवश कर देतीं।

सागल के नगर समाज की मानसिक अवस्था भी वैसी ही थी। यज्ञ की शक्ति द्वारा वर्णाश्रम के पुनरुद्धार के लिए व्यग्र वर्णाश्रमी समाज और धर्मचक्र की नित्य की प्रतिद्वन्दिता से जन श्रान्त और विरक्त हो रहा था। अभिजात समाज देवताओं और कर्मफल के भय से उन्मुक्त मारिश जैसे लोगों के उच्छृङ्खल लोकायत सिद्धान्तों के प्रचार के कारण जन के अनाचार की आशंका से त्रस्त थे। मारिश के यज्ञबलि कर का विरोध करने और संघ-स्थविर के आदेशानुसार मूर्ति उत्कीर्ण न करने के अपराध में धर्मास्थान से दण्डित होने के कारण जन मौन रह कर भी क्षुब्ध था। धर्मास्थान में मधुपर्व के अवसर पर हुये आर्य रुद्रधीर और पृथुसेन के विवाद का निर्णय, परिणाम की आशंका के कारण स्थगित ही रहा। मद्र के गणराज्य की सेना में नवीन पदाधिकारियों की नियुक्ति की समस्या अनेक कुलों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के कारण परिषद् में स्थगित रही। सब से अधिक विक्षिप्ति के कारण थे, मद्र की उत्तर-पूर्व सीमा से आने वाले दार्वराज यवन केन्द्रस के आक्रमण के समाचार।

महाराज मिलिन्द के दीर्घ राज्यकाल में और तदुपरान्त कुल-गणराज्य के समय भी, आधी शताब्दी से अधिक समय तक आक्रमण और युद्ध के संकट से मुक्त मद्र राज्य की प्रजा और सागल का समाज युद्ध की अनुभूति और भावना भूल चुके थे। उन की कल्पना यज्ञों के अनुष्ठान के लिये बलि, धन-संग्रह, चैत्य की स्थापना, भिन्न प्रदेशों से व्यापार द्वारा समृद्धि, कुलों के अग्रहारों में बसी कृषक प्रजा से स्वामी-भाग ग्रहण करने, दूसरे प्रदेशों से सबल भृत्ति-योग्य दासों और लोल-अंगी दासियों को लाने और गणपरिषद् की सदस्यता के अधिकार और सम्मान के लिये अनेक कुलों की स्पर्धा से ही पूर्ण थी।

प्रतापी यवनराज मिलिन्द की शासन-व्यवस्था कुल-गणराज्य के हाथों में जाने पर मद्र की सैनिक व्यवस्था भी बदल गयी। धार्मिक मिलिन्द के समय मद्र का राज्यक्षोष बौद्ध विहारों की सेवा से रिक्त हो चुका था। महाराज मिलिन्द की विजय-लिप्सा के समय की सदा सप्तद्व बीस सहस्र सेना के पोषण के लिये

अब उपाय न था। मिलिन्द राज्य के आयुद्ध-जीवी सैनिक, महाराज की युद्ध से वैराग्य की नीति से उदासीन हो जाने के कारण दूसरे प्रदेशों की सेनाओं में चले गये थे अथवा अन्य व्यवसायों में लग गये थे। अनेक ने घनुष और खड्ग के स्थान पर काषाय-चीवर और भिक्षापात्र ग्रहण कर लिये थे। गण के कोप में द्रव्य का अभाव देखकर महासेनापति गणपति मिथोद्रस ने सेना का आयोजन कुलों को सौंप दिया था। मद्र के कुल-गणराज्य की परिषद् के प्रत्येक सामन्त सदस्य को कुल-गण की सेना के लिये पांच सौ से एक हजार तक सैनिक और प्रत्येक साधारण सदस्य को दो सौ सैनिक प्रस्तुत करने का भार सौंपा गया था। कुलों के सम्मान और शक्ति के अनुकूल उन्हें सैनिक सेवा के मूल्य में गणराज्य के पांच ग्राम से लेकर पच्चीस ग्राम तक के अग्रहार अर्पण किये गये थे।

केन्द्रस के आक्रमण के समय कुलों द्वारा आयोजित यह सेना केवल गण-परिषदों के लेखकों के ताड़-पत्रों और सदस्यों की कल्पना में ही विद्यमान थी। अग्रहार के ग्रामों की प्रजा से प्राप्त बलि-कर सैनिकों के पोषण के लिये नहीं, सामन्तों के विलास में व्यय हो रही थी।

युवा पुत्र के शोकसे जर्जर वृद्ध, महासेनापति, अर्हंत धर्मरक्षित के अनासक्ति उपदेश से सात्वना प्राप्त करने का यत्न कर रहे थे परन्तु केन्द्रस के आक्रमण से गणराज्य की रक्षा करने के कर्तव्य के विचार से उन्होंने परिषद् के संवाहक आचार्य प्रवर्धन को संव्रणा के लिये परिषद् निमंत्रित करने का आदेश दिया।

परिषद् के संवाहक आचार्य ने परिषद् के गणपूरक सामन्त कार्तवीर को आदेश दिया। अनेक दिन के विलम्ब से परिषद् सम्मिलित हुई।

महासेनापति ने चेतावनी दी—“गण की सेना केवल सेना का परिहासमात्र है। आत्मरक्षा के लिये गण तुरन्त उचित सेना-संघान की व्यवस्था करे।”

आचार्य प्रवर्धन ने संग्राम-यज्ञ के अनुष्ठान और सेना-संघान के लिये धन की आवश्यकता बता कर गणकोष में विशेष बलि एकत्र करने के लिये राज्यबलि में वृद्धि की विज्ञप्ति कर दी।

सागल का समाज वर्षाकाल के कदम से श्लथ, पावस के घाम से कुम्हलाया हुआ, वातासहीन उत्ताप से व्याकुल और केन्द्रस के दस्युदलों के प्रतिदिन समीप आते जाने के समाचारों से संतुष्ट और चिंतित हो रहा था। पथ, वीथियां और पण्य विरूप और शोभाहीन हो रहे थे। आक्रमण का त्रास, युद्ध के लिये बचाव कर उगाहते फिरते राजपुरुषों के आतंक से और अधिक असह्य हो रहा था।

जनसमाज के हृदय में युद्ध में विजय पाने का उत्साह नहीं, उस भय से त्रास पाने की विभीषिका फैल रही थी। सब ओर त्रासमय प्रतीक्षा थी; केन्द्रस के आ पहुँचने पर क्या होगा? कुल-गणराज्य में कुलीन वंशों के आतंक और युद्ध के लिये नित्य बढ़ती राजस्व-बलि और सामन्तों के सैनिकों द्वारा नागरिकों, शिल्पियों और कृषकों को सैन्य-सेवा के लिये बलात् घर लिये जाने से मुक्ति मिलेगी या केन्द्रस के सैन्यदल द्वारा और अधिक हत्या और अपहरण होगा? केन्द्रस के निरंकुश रौद्र प्रताप और उसकी करुण प्रजा-वत्सलता की अनेक कल्पित, अतिरंजित कथाएँ आपानको और पण्यों में फैल रही थीं। सब ओर देव के सम्मुख असामर्थ्य का भाव था।

श्रेष्ठी, सार्थवाह और व्यापारी आशंका से अपना द्रव्य समीपवर्ती मालव, कठ आदि गणों के प्रदेशों तथा शूरसेन और मगध की ओर भेज रहे थे। सामन्त सर्वार्थ, कार्तवीर और आचार्य प्रवर्धन के प्रासादों में अनेक प्रहर रात्रि बीते तक मंत्रणा होती रहती। आचार्य प्रवर्धन अनेक गुप्त संदेश शूरसेन और मगध भेज चुके थे। वे आशा कर रहे थे, वर्णाश्रम का पुनरुद्धारक ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र, केन्द्रस से मद्र की रक्षा के लिये सेना भेज कर मद्र में मगध की भांति मुण्डी धर्म का नाश कर वर्णाश्रम की स्थापना करने से न चूकेगा। वे इस प्रयोजन की द्विज्ञप्ति परिषद में उपस्थित करना चाहते थे परन्तु यवन सामन्तों, तथागत के धर्मचक्र के प्रति अनुरक्त गणपति, सामन्त इन्द्रसेन और धर्मस्थ देव शर्मा के विरोध के विचार से ऐसा न कर सके। सामन्त सर्वार्थ और कार्तवीर इस समय सेना-संधान कर केन्द्रस से आत्मरक्षा के साथ ही पौरव वंश के उत्तराधिकारियों को राज्य-सिंहासन पर बैठा कर पुनः पौरव वंश का राज्य स्थापित करना चाहते थे। गण के महाशाल, श्रेष्ठी और व्यापारी गण के सेना संयोजन के लिये अन्न, वस्त्र, रथ, अश्व और अन्य सामग्री मनचाहूँ मूल्य पर प्रस्तुत करके दोनों हाथों से द्रव्य संचय कर उसे तक्षशिला, पुष्पपुर और मथुरापुरी के अन्तरायण पण्यों में भेज रहे थे।

सागल नगरी के अनेक पीढ़ियों की पौध से भरे समाज में महापण्डित, महाबुद्ध धर्मस्थ देव शर्मा, वयोबुद्ध गणपति मिथोद्रस, वृद्ध प्रेस्थ जैसे कुछ ही व्यक्ति थे जिनकी स्मृति में युद्ध के अनुभव शेष थे। गणपति की स्मृति में आक्रमणकारी विजेता के रूप में और महापण्डित देव शर्मा की स्मृति में पराभूत विजित के रूप में बहू स्मृति थी। केन्द्रस के सागल की ओर बढ़ते आने के समाचार से

धर्मस्थ की स्मृति के नेत्रों के सम्मुख अग्नि के विभ्राट् में प्रशस्त अट्टालिकाओं का अंगारों का रूप धारण कर गिरना, नगर पर छाये धुयों के मेघों से श्वासावरोध, पथों और वीथियों में रक्त की धारायें और कीचड़, स्त्रियों का आर्तनाद, पराजित अभिजात समाज का बन्दी के रूप में अपमान प्रत्यक्ष होने लगता। पुत्र-शोक से विह्वल, अनासक्ति की साधना में आत्म-विस्मृत गणपति का अनेक बार उद्बोधन कर वे गण की रक्षार्थ विचार के लिये परिषद् का निमंत्रण कराते परन्तु परिषद् का समय अप्रासंगिक विवाद में समाप्त हो जाता।

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ ने भी परिस्थिति की उपेक्षा न की। प्रेस्थ ने गण के सैन्य-आयोजन कार्य में सैकड़ों अश्व और रथ समीपवर्ती देशों से मंगवा कर बेचे और सहस्रों स्वर्णमुद्रा लाभ उठाया। महापण्डित धर्मस्थ और गणपति की युद्ध विषयक चिन्ता जान कर प्रेस्थ ने स्वेच्छा से एक सहस्र स्वर्णमुद्रा कोष में बलि अर्पण कर दोनों का ही आदर और विश्वास प्राप्त किया और अत्यन्त गुप्त मंत्रणाओं में योग देने का अधिकारी बन गया। प्रेस्थ ने सेना का नियंत्रण विशेष जाने-परखे सेनानियों और नवीन बिश्वासपात्र बलाधिकृतों के हाथ में रखने का परामर्श दिया। सेना-संघान के विषय में विशेष परामर्श करने के लिये पुनः परिषद् सम्मिलित हुयी परन्तु आचार्य प्रवर्धन की कूटनीति के कारण सेनापतियों के पद-परिवर्तन और निर्वाचन का कार्य ठीक से न हो पाया। सामन्त कात्तंवीर के आग्रह से आर्य इन्द्रदीप और आर्य वृष्णेश अवसेना के और आर्य विनय शर्मा रथ सेना के नवीन बलाधिकृत नियत हो गये।

गणपरिषद् के सम्मुख गण की सेना में पद के लिये और धर्मास्थान में न्याय के लिये पृथुसेन का आवेदन उपेक्षित और स्थगित ही रहा। उसे जन और समाज में सब ओर अव्यवस्था, शैथिल्य, आशंका और सन्देह दिखाई देता। स्वयं वह निराश और आशंकित था। पितृ पृथुसेन को उत्साहित कर सांत्वना देते—  
“पुत्र, अवसर शीघ्र गति से चला आ रहा है। उसे पकड़ने के लिये सतर्क और सन्नद्ध रहो। जानते हो, यवन देश के विद्वानों की उक्ति है—अवसर के देवता का मुख सन्मुख लटके केशों में छिपा रहता है। उसे पहचानना कठिन होता है परन्तु उसे वश किया जा सकता है तो केवल अग्र केशों से पकड़ कर। अवसर के सिर का पिछला भाग केशहीन है। सामने से निकल जाने पर उसे सभी पहचान लेते हैं परन्तु गंजे सिर पर हाथ मारने से कुछ हाथ नहीं आता। इसलिये अवसर को पहचानने में सतर्कता और तत्परता आवश्यक है। पुत्र, यदि तुम में

साहस, शौर्य और प्रतिभा है, तुम्हारे हाथ में धन है तो इसी संकट के समय तुम्हारा मृत्यु आका जायगा। पुत्र, साहस करो। समर्थ लोगों का विश्वास प्राप्त करो। वृद्ध धर्मस्थ और गणपति की सेवा में जाओ, सामन्त ओकिस और सामन्त इन्द्रसेन से आत्मीयता स्थापित करो....”

पिता के आदेश से भी विश्वास और कृपा की भिक्षा मांगने जाना पृथुसेन के लिये सह्य न था। उसे उत्साह न हुआ। अभिजात समाज में उसे अपने प्रति सब ओर उपेक्षा का मौन और कायरतापूर्ण तिरस्कार दिखायी देता। कहीं भी जाना उसे अच्छा न लगता। समाज, आपानक, समाह्वय कहीं उसे उत्साह न होता। पान और नृत्य में उसे रुचि न रही। समय बोझ जान पड़ने पर वह अपने प्रासाद के उद्यान में वृक्षों के नीचे बैठ कर वायु से हिलते पत्तों को लक्ष्य बना कर बाण से बेंधता रहता अथवा अपने परिपार्श्वक दास श्वंग से चतुरंग का खेल खेलता रहता।

पृथुसेन संख्या समय यदि कभी मल्लिका अथवा वसुमित्रा के यहां जाता भी तो केवल दिव्या से मिलने की आशा में। उसके दुःख से दुःखी दिव्या के सामीप्य से उसे सात्वना मिलती। जीवन का उसे एक ही मार्ग दिखाई देता—संसार में उसे मनुष्य जान कर जिसने अपनाया, अनेक बाधाओं की भी उपेक्षा कर अपना हृदय अपित किया, वही दिव्या उसका एकमात्र अवलम्ब थी, अपनी थी। उसी दिव्या को लेकर वह किसी अज्ञात दिशा और देश में जाकर अपने लिये नया स्थान नया समाज, नया संसार बसा ले; ऐसे देश में जहां वह अपने जन्म के लिये दण्डित न हो, जहां वह अज्ञात कर्मों के फल से विवश न हो, जहां उसे कर्म करने का स्वतंत्र अवसर हो, जहां उसका पुरुषार्थ और प्रतिभा अकुलीन पिता की सन्तान होने के कारण व्यर्थ न हो जाय।

सागल में समाचार पहुंचा कि मद्र की सीमा की सेना केन्द्रस से पराजित हो गयी थी। नगर में युद्ध का त्रास फैल गया। किसी भी स्थान और समय कहने वाले एक मुख और सुनने वाले दो कानों का संयोग हो जाने से युद्ध का प्रसंग आरम्भ हो जाता। देवी मल्लिका ने भी संग्राम-यज्ञ में धन की बलि देकर सहयोग दिया था। उसके चतुश्शाल में भी संगीत और नृत्य के मध्य में सैनिक कार्य और शासन से सम्बन्ध रखने वाले राजपुरुषों में युद्ध का प्रसंग आरम्भ हो जाता। वक्ता और श्रोता हाथ में चषक लिये ललित-कला का लास्य भूल कर युद्ध की विभीषिका के विवेचन में आत्मविस्मृत हो जाते। जीवन के आनन्द से

जीवन की रक्षा की चिन्ता अधिक प्रबल हो जाती। सुरा का प्रभाव बढ़ने पर विवेचना प्रायः प्रलाप का रूप ले लेती। पृथुसेन सुनता और प्रलाप करने वालों की मूर्खता और कायरता से उद्विग्न हो मौन रह जाता।

इन्द्रदीप पर्याप्त सुरा पीकर वक्षस्थल फुलाकर कह रहा था—“युद्ध द्विजों के भुजाबल से जीता जाता है। उसके लिये हृदय में तेज और सामर्थ्य की आवश्यकता है; जैसे सेनापति पुण्यमित्र ! हमारे वृद्ध सेनापति, विचारों की विशृंखलता से जिन का सिर हिलता रहता है, क्या युद्ध करेंगे ! ...इन साधारण जयों-पराजयों से क्या होता है ? इन धमनियों में पौरव वश का रक्त है, जिन के शौर्य के भय से यवनराज मिलिन्द विजयी होकर भी राज्य न कर सके, प्रब्रज्या ग्रहण कर भिक्षापात्र की शरण ली। अभी जिस दिन महाबलाधिकृत इन्द्रदीप सैन्य संचालन करेंगे, उस दिन देखना केन्द्रस की क्या अवस्था होगी !” वह अट्टहास कर उठा। मद्य का आधार लिये सम्मुख खड़ी दासी की बाहु पकड़ कर इन्द्रदीप ने उसे अपने अंक में खींच लिया और बोला—“उस दिन केन्द्रस की पत्नियां सामन्त इन्द्रदीप के अंक में इसी प्रकार शोभित होंगी हा हा ...।”

दासी मग्ना इन्द्रदीप के उन्मत्त व्यवहार से भयभीत हो सिहर उठी।

मल्लिका ने उंगली होठों पर रख इन्द्रदीप को संकेत किया—“न आयं, दासी को त्रस्त न करें।”

इन्द्रदीप के समीप बैठा सामन्त श्रीमुख शर्मा का पुत्र केदार शर्मा मल्लिका की वज्रंजा से खिन्न होकर बोला—“इसी परवशता के लिये हम केन्द्रस के खड्ग के आघात अपने शरीर पर सहेंगे ?” दोनों हाथ फैलाकर समर्थन के विश्वास में उसने सब लोगों की ओर देखा, “हां, कहो ! एक दासी के सम्मुख भी सामन्तकुमार विवश है ? वह दासी से भी स्वच्छन्द व्यवहार नहीं कर सकता ? हमें दासी की स्वीकृति का भी दास होना पड़े ? घृष्टजन सागल के पथों और बीथियों पर द्विजवर्ग से स्पर्धा और अवज्ञा करें ? तन्तुबाय और कम्मकार हमारे समान आसनों पर बैठें ? मद्र गण के ऐसे शासन में हमारा क्या है ? उसी के लिये हम अपना रक्त बहायेंगे ? क्यों श्रेष्ठी उदयभानु ?” केदार शर्मा ने उपधान का आश्रय लिये शिथिल उदयभानु को समर्थन के लिये ललकारा।

अलस उपेक्षा से उदयभानु ने उत्तर दिया—“मेरे लिये सब समान हैं। जिस प्रकार मद्र गण राजस्व के रूप में मेरे व्यापार का श्रृंखलांश ले लेता है, उसी प्रकार केन्द्रस मेरा शोषण करेगा। गण ने मुझसे एक सौ स्वर्णमुद्रा संग्राम यज्ञबलि

में लिया है। क्या गण मेरी रक्षा सौ गुणा अधिक करेगा? ...क्या मेरा शरीर दूसरे नागरिकों से सौ गुणा अधिक बड़ा है?" अपने स्थूल उदर पर हाथ फेरते हुये उदयभानु ने पूछा, 'भाई, मैं किसी को कुपित क्यों करूँ? मेरे लिये सब सामान हैं। मैं-मैं-मैं तो दीन वैश्य हूँ। राज्य-सिंहासन का अधिकारी जो हो युद्ध करे। वैश्य तो दीन सेवक है।"

इन्द्रदीप ने मल्लिका को सम्बोधन किया—“देवी, तुम जानती हो, तुम्हारी कला की क्षमता की शपथ, देवी सरस्वती की शपथ, मुण्डियों ने मद्र को भीतर से खाकर उसी प्रकार खोखला कर दिया है जैसे दीमक काष्ठ-स्तूप को खा लेता है। राज्य का तृतीयांश निष्क्रिय मुण्डियों से भरे विहारों की सेवा में व्यय हो जाने से शेष क्या रहेगा? मद्र केन्द्रस का प्रतिरोध शस्त्रधारी सैनिकों से नहीं, चीवर और भिक्षापात्रधारी भिक्षुओं से करेगा? तथागत के मृगशावक मद्र की रक्षा करेंगे? आखेट के श्वान को भूखा रख मृगशावकों को पालने का परिणाम यही होता है। केन्द्रस के खड्ग का प्रहार सहने के लिये अर्हत धर्मरक्षित को भेजो, स्थविर चीवुक को भेजो! ...” वह अट्टहास कर उठा।

मल्लिका हास्य में योग न दे सकी। इन्द्रदीप को सम्बोधन कर उसने उत्तर दिया—“आर्य, क्या पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता का परिणाम शत्रु के हाथ आत्म-समर्पण होगा? ...जब मद्र और सागल नहीं रहेंगे, किसका उपालम्भ कौन सुनेगा...?”

पृथुसेन के लिये अधिक सहना सम्भव न रहा। दिव्या को चतुश्शाल से उठ आने का संकेत कर वह कुंज-निभूत ताल की ओर चला गया। कुछ ही क्षण में दिव्या संकेत का अनुवर्तन कर उसके पीछे चली गयी।

दिव्या का हाथ अपने हाथ में लेकर पृथुसेन ने क्षोभ से कहा—“प्रिये, देख लिया तुमने; यह है युद्ध के लिये आयोजन! दुर्दान्त केन्द्रस मद्र की ग्रीवा पर अपना निर्मम पादत्राण रखे है और मद्र के नायकों में यह षडयंत्र चल रहा है।”

दिव्या ने अधीर होकर उत्तरीय से नेत्र ढक लिये। उसकी पीठ बाहु में लेकर पृथुसेन बोला—“इन लोगों की दृष्टि में यह आक्रमण केवल मुण्डी धर्म के पाप का फल है। आचार्य प्रवर्धन संग्राम-यज्ञ की ओट में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना का षडयंत्र चला रहे हैं। कोई नहीं सोचता, पुष्पमित्र हो या केन्द्रस, मद्र में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के लिये कोई अपना रक्त बहाने नहीं जायेगा। उन्हें प्रयोजन है अपने साम्राज्य-विस्तार से, मद्र की भूमि के धन-द्रव्य से। इनका

विचार है, केन्द्रस मद्र विजय कर इनके ब्राह्मणत्व के जन्मजात अधिकार से इन्हें पूज्यदेव मान कर इनकी पूजा करेगा। पराजित होने वाले कभी पूज्य नहीं होते। केन्द्रस स्वयं अपने आपको देवता समझता है। उसकी अपनी तुष्टि के लिये ही यह यज्ञ है। सम्पूर्ण सागल यज्ञ-कुण्ड होगा। उसमें इन भूदेवों और सामन्तों के शरीर और उनकी सम्पत्ति यज्ञ की बलि बनेंगे। बचेंगे केवल वे लोग जो अपना मनुष्यत्व छोड़कर केन्द्रस के पादत्राण की ठोकर को सम्मान समझेंगे। क्या वह बचना है? इनके अन्तःपुरों का चरण से भूमि स्पर्श न करने वाला कुल-नारी समूह केन्द्रस के विजयोन्मत्त, भूखे, कामुक सैनिकों के लिये द्राक्षा के गुच्छों की भांति मोहक होगा। अभिजात और कुलीन होने का अभिमान करने वाले लोग दासों की भांति श्रृङ्खलाबद्ध फिरेंगे। विजय की लूट में सागल की कुल-नारियाँ और द्विज-कुमारियाँ भय से चीत्कार करती समेटी जायंगी। सर्वनाश की उस अग्नि में हमारे जीवन की सब आशा समाप्त हो जायगी..."

अपने विचारों की विभीषिका में आत्म-विस्मृत पृथुसेन की दृष्टि जलकुण्ड में दोलायमान तारों के प्रतिबिम्ब की ओर लगी हुई थी। दिव्या का हाथ उस के हाथों से छूट कर कटिबंध में लगी कटार उसके हाथों में जा पहुंची। अपने मुख पर लगी दिव्या की दृष्टि का ध्यान उसे न रहा। आत्मसात वह कहने लगा—"मैं जब कल्पना करता हूँ, हमारे प्रज्ज्वलित प्रासादों की ज्वालाओं के प्रकाश में विजय और मद से मत्त दार्व सैनिक तुम्हारे शरीर पर हाथ डालेंगे और मैं मेखला में बंधा खड़ा होऊंगा; उससे पूर्व या तो मैं शत्रु के खंग से जीवन मुक्त हो चुका होऊंगा या स्वयं अपनी कटार से परन्तु अपनी मृत्यु के पश्चात् भी तुम्हारे लिये उस दारुण विभीषिका की कल्पना असह्य है।"

दिव्या के सिसकने के शब्द से विचार-तंद्रा से जाग कर पृथुसेन ने उसे कटि से अपने बाहुपाश में समेट कर आलिंगन में हृदय पर ले लिया। दिव्या के मस्तक, कपोल और मुख के अनेक चुम्बन लेकर अपने मुख के सम्मुख उसका मुख हाथों में थाम कर पृथुसेन ने सात्वना दी—"दिव्यो, भय और त्रास से क्या लाभ? जीवन के दो क्षण पूर्णता से जीकर साहस से जीवन समाप्त कर दें।"

दिव्या को सात्वना देने के प्रयत्न में वह स्वयं दिव्या के शरीर की सजीवता में आश्रय ढूँढ़ने लगा। शिथिल दिव्या के मेरुदण्ड और कटि को उसने अपने गूढ़ आलिंगन में और अधिक समेट लिया। दिव्या के कंचुक में बंधे उरोज उसके हृदय की घड़कन को आश्रय देने के लिये आगे बढ़ आये थे। उसकी ठोड़ी

दिव्या के केशों पर आश्रय पाये थी। पृथुसेन का मस्तिष्क दिव्या के केशों की गंध की मधुर मूर्च्छा में विस्मृत हो रहा था। युद्ध की भीषण, रुद्र कल्पना का अग्नि-विभ्राट तेलहीन दीपशिखा की भांति क्षीण होकर दूर-सुदूर हटता जा रहा था। परम कमनीय तुष्टि के लिये व्यग्र पृथुसेन के प्राण ओठों पर आकर दिव्या के प्राणों के लिये विकल हो उठे। दिव्या के ओठों को पाकर वे उनसे पृथक् होना न चाहते थे। उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कंचुक पर चंचल हो उठे। ६८

दिव्या सह्रकर सिमिट गई। आत्म-समर्पण की लुष्टि और आत्मरक्षा की प्रवृत्ति की दुविधा में उसके हाथों ने पृथुसेन के हाथों को थाम लिया। पृथुसेन ने दीर्घ निश्वास से संयत होकर अपने ओंठ दांत से दबा लिये। क्षण भर के लिये उसकी दृष्टि से लुप्त युद्ध की विभीषिका फिर उसके सामने आ गयी। शिथिल हाथ दिव्या के कंधे और कटि पर रख और दृष्टि जलकुण्ड में दोलायमान तारों के प्रतिबिम्ब पर लगाये, उत्तेजना की व्यर्थता से मुख में भर गयी कटुता को निगल कर वह फिर बोला—“दिव्यो, मैं मृत्यु से भय नहीं मानता... मृत्यु क्या है? अस्तित्व का अन्त! जिस का अस्तित्व नहीं, जिसे अनुभूति नहीं, वह भय भी अनुभव नहीं कर सकता। भय है जीवित रह कर पीड़ा और पराभव सहने में, भय है जीवन भर की पीड़ा और पराभव से। तुम्हें अंक में लेकर समाप्त हो जाने से कौन इच्छा अपूर्ण रह जायगी? फिर उसमें भय क्या? वह सुखद अस्तित्व का सुखद अन्त है परन्तु मैं युद्ध में पराक्रान्त होकर, पराभूत होकर जीवन भर तिल-तिल कर मरने की कल्पना सहन नहीं कर सकता। जीवन की सार्थकता अधिकार और सामर्थ्य में ही है।...इन लोगों के लिये युद्ध षडयन्त्र की अभिसन्धि पूर्ण करने का अवसर मात्र है। वे परस्पर एक दूसरे को शत्रु समझते हैं परन्तु जो वास्तव में सब का शत्रु है, उससे सभी मित्रता और सहायता की कल्पना कर रहे हैं। पुत्र-शोक में संसार से विरक्त महासेनापति के सम्मुख महाराज मिलिन्द का आदर्श है। वे पहरों अर्हत धर्मरक्षित से निर्वाण मार्ग के सुख की कल्पना सुन कर शान्ति पाते हैं। आचार्य सवाहक अपने पूर्वजों की भांति केन्द्रस के मंत्रीपद की आशा में मद्र को भस्मीभूत देखने के लिये तैयार हैं। नगर और गण की सम्पूर्ण प्रजा का जीवन इन लोगों के स्वार्थपूर्ण कुचक्रों पर निर्भर है और इनके लिये स्वार्थ लाखों जन के प्राणों से अधिक प्रिय है...”

पृथुसेन जलकुण्ड के तारा-बिम्बित स्तर की ओर दृष्टि लगाये रहा।

पृथुसेन का हाथ अपने चिबुक पर रख दिव्या ने अनुरोध किया—“प्रिय, तात के समीप जाओ। वे भी तुम्हारी ही भांति युद्ध के परिणाम की विभीषिका से चिन्तित हैं। उन्होंने मिलिन्द द्वारा मद्र का ध्वंस अपनी आंखों देखा था। उन की प्रतिज्ञा है, उस नारकीय दृश्य को पुनः देखने के लिये उनका शरीर शेष न रहेगा। तात बहुत कुछ करने में समर्थ होंगे। महासेनापति उनकी अवज्ञा न कर सकेंगे...आचार्य भी न कर सकेंगे।”

अन्धकार में दिव्या के नेत्रों में दृष्टि गड़ा कर पृथुसेन बोला—“प्रिये, अब भी यदि अवसर मिले तो मैं बर्बर केन्द्रस का अवरोध कर सकता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है परन्तु अवसर न होने से क्या कर सकता हूँ?”

दिव्या ने पृथुसेन का हाथ अपने हाथों में लेकर पुनः आग्रह किया—“प्रिय, तुम तात के समीप अवश्य जाओ! ...एक बार जाकर देखो! ...मैं स्वयं उन से निवेदन करूंगी! ...विलम्ब हो रहा है प्रिय, कंचुकी प्रतीक्षा कर रहा है... चलूंगी।”

पृथुसेन मल्लिका के प्रासाद के सिंहद्वार पर प्रतीक्षा में खड़े अपने अश्व-रक्षक की अपेक्षा कर पैदल ही चला। राजपथ छोड़ कर वह तन्तुवायों की वीथी से जा रहा था। वीथी प्रायः निर्जन और जहाँ-तहाँ साधारण स्थिति के भवनों से पड़ने वाले प्रकाश के अतिरिक्त अधियारी थी। शिला-मण्डित पथ पर उसके पीछे आते घोड़े के सबल सुमों की आहट से वीथी प्रतिध्वनित हो रही थी। पृथुसेन विचारमग्न चला जा रहा था।

पृथुसेन संकीर्ण वीथी से निकल लौहकारों के अपेक्षाकृत विस्तृत मार्ग पर आया। रात्रि के पहले पहर पण्य उठ कर मार्ग प्रायः निर्जन हो चुका था। केवल कुछ पण्यों पर क्षीण प्रकाश था जहाँ से सस्ते मद्य की तीखी गंध आ रही थी। कहीं-कहीं आग पर मांस और दूसरे खाद्य पदार्थ भूने जा रहे थे। एक स्थान पर प्रकाश अधिक था और जन-रव का कोलाहल सुनाई दे रहा था। घोड़े के सुमों की आहट सुन कर एकत्र समुदाय ने पृथुसेन की ओर ध्यान दिया। उसका वेष देख कर कोलाहल सम्भ्रम से रुक गया। समुदाय का ध्यान अपनी ओर आकर्षित होने से पृथुसेन की विचारतंद्रा टूटी। उसे जान पड़ा, उस कोलाहल में युद्ध का भी प्रसंग चल रहा।

कुछ आगे बढ़ कर पृथुसेन ने अपना बहुमूल्य उष्णीय उतार कर अश्व-रक्षक को सौंप कर उसे अश्व सहित प्रासाद लौट जाने का आदेश दिया । उत्तरीय से शरीर ढंक कर वह अकेला चला । अब ध्यान से देखने पर उसकी ग्रीवा पर कुंचित केशों के बीच से दिखाई देने वाले कानों के बहुमूल्य कुण्डल ही उसके अभिजात व्यक्ति होने का परिचय देते थे ।

लौहकारो के पण्य के आगे वेण्याओं का चतुर्मुख था । भवनों के ऊपर के खण्डों के अलिन्दों से नीचे मार्ग में एकत्र समुदाय पर प्रकाश पड़ रहा था । अनेक बालक-बालिकायें ऊँचे स्वर में पुकार-पुकार कर प्रेमियों के योग्य, कामी पुरुषों के योग्य सुगन्धित पुष्प-मालायें बेच रहे थे । एक बालक ऊँचे तीखे स्वर में भुने कोमल मांस का स्वाद चखने का निमंत्रण दे रहा था । मद्य के पण्य के सम्मुख खड़ी एक बूढ़ा एक मद्यप के अगरखे का छोर थामे मूल्य के लिये विवाद कर रही थी । उन्हें चारों ओर से घेर कर दूसरे लोग हंस रहे थे ।

बूढ़ा ऊँचे खिन्न स्वर से चिल्ला रही थी—“नहीं नहीं, मूल्य पाये बिना मैं तुम्हें पण्य से न जाने दूंगी । तुम सैनिक बन गये हो तो मुझे इससे क्या ? कल तुम दार्व चले जाओगे तो मैं मूल्य किससे पाऊंगी ? क्या मद्य बिना मूल्य के बनता है ? .. वाह जी, तुम बड़े छलिया हो । बिना मूल्य साथ लिये मद्य पीने आते हो । सैनिक बन कर तुम युद्ध में जा रहे हो तो मुझे क्या ! तुम जिस सामन्त के सैनिक बने हो, जिसकी रक्षा करोगे, उसी से मद्य भी लो । मुझ दीन बुढ़िया को क्यों छलते हो ? दो स्वर्णमुद्रा तो राजपुरुष मुझ से संग्राम-यज्ञ की विशेष बलि ले चुके और तुम मद्य पीकर मूल्य नहीं देना चाहते !”

कोई बुढ़िया की बात काट कर बोल उठा—“संग्राम-यज्ञ की विशेष बलि एकत्र करने से राजपुरुषों का धन खूब बढ़ेगा । बुढ़िया, तेरे दो स्वर्णमुद्रा में से एक गणकोष में जायगा और एक राजपुरुषों के घर में । केन्द्रस हमें क्या लूटेगा ? उससे पूर्व मद्र के राजपुरुष ही हमें लूट लेगे । अरी बुढ़िया, बलात् बलि लेने आने वाले राजपुरुषों को तू बिना मूल्य मद्य पिला कर अनुगृहीत होती है और अपने समान दीन ग्राहकों से जल मिले घूंट-घूंट मद्य का दूना मूल्य मांगती है !”

बोलने वाले की पीठ पर हाथ मार कर उसके समीप बैठा मद्यप उन्माद में हंसता हुआ बोला—“मित्र, यही तो अनोखी चाल है । कुत्ता कुत्ते को काटता है और मालिक के अघ्न की रक्षा करता है । वैसे ही हम-तुम राजपुरुषों की

प्रसन्नता के लिये एक दूसरे का हनन करते हैं। मित्र, तुम्हारी कटि में भी राज-पुरुष की मुद्रा का पट्टा बंध जाय तो जानते हो क्या होगा ? तुम ड्योढ़ी पर बंधे कुक्कर की भांति पथ पर चलने वाले कुक्करों पर गुर्राओगे। देखो, स्वयं खाने से उतना पुण्य नहीं, जितना ब्राह्मण को खिलाने से है; जानते हो क्यों ? ब्राह्मण देवता का कुक्कर है !”

अन्धकार में एक ओर खड़े पृथुसेन ने बोलने वाले का स्वर विस्मय से पहचाना—मूर्तिकार दार्शनिक आर्य मारिश ! मारिश के केश और वस्त्र इतने अव्यवस्थित थे कि उसे पहचानना कठिन था। पृथुसेन सोच रहा था—अपदस्थ और सम्पत्तिहीन हो जाने से मारिश की क्या अवस्था हो गयी ? उसी समय मूल्य देने में असमर्थ ग्राहक का अंगरखा खींच कर बुढ़िया के पुनः झुंझलाने से पृथुसेन का ध्यान पुनः उस ओर गया। कोई बुढ़िया से कह रहा था—“कृपण, दीन नागरिक के प्रति इतनी निष्ठुर न हो। सैनिक सेवा के लिये सामन्त के सैनिकों द्वारा बलात् धर लिये जाने पर यदि दुख में उसने दो चपक मद्य पी ही लिया तो क्या हुआ ?”

एक अन्य वृद्ध मद्यप एक हाथ में मिट्टी का पान-पात्र और दूसरे में खाद्य लिये अपने स्थान से उठ कर बोला—“सखा शाण्डेय, तेरे पान का मूल्य मैं दूंगा तू पी, और पी !” उसने पात्र शाण्डेय के मुख से लगा दिया। रिक्त पात्र पथ पर पटक वह बोला, “क्या उपयोग है इस घन का ? जो खा लिया, जो पी लिया वही मेरा है। मैं दिन भर उग्र ताप में बैठ कर तलवारें गढ़ता हूं, वही तलवार हाथ में लेकर राजपुरुष मेरे पुत्र को बलात् सैन्यदल में हांक ले गये। मेरा पुत्र केन्द्रस के खड्ग का प्रहार सहने दाव जायगा और याजक पुरोहित मेरे दिये राज-बलि के द्रव्य से मंत्रपूत सुरा पान कर, बलि के मांस का भोजन कर मंत्रपाठ द्वारा रक्षक देवता का आह्वान करेगा। महायोद्धा सामान्त गौर और कृष्ण वर्ण दासियों को अंक में ले कर शय्यारूढ़ होने का पराक्रम करेगा और खड्ग के आघात से कांपता हुआ मेरा पुत्र कायर कहलायेगा। हाय, इस से तो वह श्रमण बन कर दीर्घजीवी होता तो अच्छा था...” मद्यप दोनों हाथों से सिर थाम कर भूमि पर बैठ गया।

शाण्डेय बुढ़िया के हाथ से अपने अंगरखे का छोर छुड़ा कर वृद्ध के समीप बैठ कर उसे सान्त्वना देने लगा—“तात, रोने से क्या ? दैव बली है। दैव का बचाया बचता है, दैव का मारा मरता है। मनुष्य के किये क्या होता है ? मैं

स्वयं सामन्त का भृत्ति-सैनिक हूं। तुम्हारा पुत्र मेरी रक्षा में रहेगा। भृत्ति-सैनिक की शूरता जानते हो क्या है? मारतों के पीछे, भागतों के आगे... बस!”

शाण्डेय की बात न सुन कर एक और मद्यप बोलने लगा—“अरे कोई आर्य मुझे एक पान का मूल्य दे! मेरा बाबा महाराज पौरव के लिये तलवारें गढ़ता था। मेरा पिता यवनराज मिलिन्द के लिये तलवारें गढ़ता था। मैं मद्र के दो सौ राजाओं के लिये तलवारें गढ़ता हूं। मेरे गढ़े खड्ग से साम्राज्य जीते जाते हैं। मेरे गढ़े खड्ग से राज्य-शासन होता है परन्तु मुझे पर्याप्त पान के लिये भी मूल्य नहीं मिलता। कोई सखा मुझे एक पान-पात्र दे।”

अनेक मद्यप किसी की न सुन कर अपनी ही कह रहे थे। जो सब से ऊंचा बोलता, उसी की बात पृथुसेन के कानों तक पहुंच पाती। एक प्रौढ़ अपना पान-पात्र आकाश की ओर उठाकर बोला—“राजपुरुषों ने कल मेरे तीनों अश्व संग्राम के लिये राज्याधिकृत कर लिये। अश्वराज श्रेण्ठी प्रेस्थ कोष में प्रत्येक अश्व के लिये पांच स्वर्णमुद्रा पाता है और मेरे तीनों अश्वों के लिये केवल चार मुद्रा। गण को संग्राम के लिये मेरे अश्वों की आवश्यकता है। सामन्त सर्वार्थ चार-चार कम्बोजी अश्वों से जुते रथों पर मार्ग घेर कर चलते हैं। मेरे अश्वों की गण को आवश्यकता है, सामन्त के अश्वों की नहीं!” वह अट्टहास में हंस पड़ा।

मद्यपान की भिक्षा चाहने वाले खड्गकार ने उसके कान के समीप मुख कर खूब ऊंचे स्वर में परामर्श दिया—“मित्र, चार स्वर्णमुद्रा का मद्य पियो, मित्रों को पिलाओ। सुन्दरी वेश्या अलोमा के साथ शयन करो और फिर काषाय चीवर धारण कर, भिक्षापात्र ग्रहण कर, आशीर्वाद देकर, उसके मूल्य में पेट भर अन्न ग्रहण करो। संसार माया है! तृष्णा में क्या रखा है मित्र? आओ मित्र, पियें!”

एक युवा मूल्य के लिये खिन्न वृद्धा को सान्त्वना दे रहा था—“कृपण, आर्य नागरिकों को मद्य के लिये तृषित न कर। आये दिन केन्द्रस के दस्यु तेरे मद के घटों को चूर्ण कर, तेरा मद पीकर तुझ पर ही अस्याचार करेंगे...”

उसे बाधित कर दूसरा बोला—“तू कल का बालक क्या जानता है? केन्द्रस से क्या भय? गण के दो सौ राजकुलों से एक राजा का शासन कहीं भला! सागल में पुनः धर्मराज मिलिन्द के समय की शान्ति हो जायगी।”

उससे भी ऊंचे स्वर में मार्ग पर लेटा हुआ एक युवक दुहाई दे उठा—“मित्रो, मुझे पिलाओ! मेरे जीवन की आज अन्तिम रात्रि है। सामन्त के राजपुरुष आज मुझे घरने आये थे। मेरी पत्नी ने कहा—मेरा पति कार्यवश तन्तुवाय

के यहां गया है, कल आना । कल मैं धरा जाऊंगा । मित्रो, मेरे जीवन की अन्तिम रात्रि है, मुझे पिलाओ !”

उसके समीप बैठा व्यक्ति उसकी जांघ पर हाथ मार कर बोला—“मूर्ख, भृत्ति-सैनिक बन कर प्राण देगा ! पलायन कर जा । संकड़ों बच गये । कठों के गण में पलायन कर जा । वहां सामन्तों का राज नहीं । वहां सब मनुष्य समान और स्वतंत्र हैं ।”

“कैसे पलायन कर जाऊं ? विवश स्वर में युवक ने उत्तर दिया, “मेरी पतिव्रता स्त्री, मेरा सुकुमार बालक ! पुरोहित कहता है, जो स्वामी सामन्त की आज्ञा से विमुख है वह परलोक से हीन हो, श्वान का जन्म पाकर दण्डस्वरूप स्वामी की सेवा करेगा । इस जन्म में दुख पाया ; परलोक भी बिगाड़ूं ?”

तीखे मेरय का स्वाद ओठों पर चाटकर समुदाय में से मारिश बोला—“मूर्ख, तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है ? यह विश्वास ही तेरी दासता है । तू अपने पर स्वामी के अधिकार को स्वीकार करता है, यही तेरी दासता का बन्धन है । तू संकट से पलायन कर रक्षा चाहता है, यही तेरी निर्बलता है । संकट सब स्थान और समय में तेरे साथ रहेगा । संकट का पराभव कर । पराभूत होना ही पाप है । उसका फल तू तत्काल भोगेगा । तू स्वतंत्र ‘कर्त्ता’ है । स्वतंत्रता अनुभव करना ही जीवन है । पराभूत सजीव होकर भी भूत है । निर्भय हो ! जीवन के लिये युद्ध कर ! मृत्यु भय का अन्त है । जीवन में उत्तेजित हो ! कायर मत बन !” मारिश ने अपना पान-पात्र पुनः होठों से लगा, एक घूंट कातर युवक के हाथों में दे दिया ।

रोते हुये वृद्ध का बाहु अपनी ग्रीवा से हटाकर शाण्डेय ने मारिश को सम्बोधन किया—“किसके लिये युद्ध करें ? किसके लिये प्राण दे दें ? सामन्त सर्वार्थ के प्रताप के लिये ? आचार्य प्रवर्धन के यज्ञ के लिये ? मुण्डी धर्मरक्षित के लिये ? हमारा क्या जाता है ! किसका सांगल ? किसका मद्र ? जिसे कर्म के भोग से सेवा ही करना है वह सभी की सेवा कर सकता है ।”

मेरय से भीगे होंठ चाट कर मारिश ने उत्तर दिया—“तुम भी मूर्ख हो । तुम समझते हो, सेवा करने के लिये ही तुम्हारा जन्म हुआ है, वही तुम्हारा भाग्य है ? दूसरे के स्वार्थसाधन के लिये तुम मनुष्य नहीं बने हो ! उस कार्य के लिये पशू हैं । अपने लिये लड़ो । सामन्त और आचार्य अपने लिये लड़ते हैं ; तुम अपने लिये लड़ो । अपने अन्न के लिये, अपने वस्त्र के लिये, अपने मेरय के लिये ।

उस स्त्री के लिये जिसे अंक में लेकर सुख पाते हो; उस सन्तान के लिये जिस में अपने आप को जीवित पाते हो। मरना तो है ही, अपने मनुष्यत्व और अधिकार के लिये मरो। जो बिना विरोध किये दूसरे के उपयोग में आता है, वह जड़ और निर्जीव है, पशु से भी हीन है। तुम सामन्तों के राज्य में आधे मनुष्य हो, पूर्ण मनुष्य बनने का यत्न करो। निराशा में शैथिल्य से पशुत्व मत स्वीकार करो। केन्द्रस बर्बर है। वह उस धन का प्यासा है जो धन तुम्हारे जीवन का आश्रय है। जो मारता है, वह सबल है; जो भय करता है, निर्बल है।” मारिश उठा और एक ओर चल दिया।

एक मद्यप का ध्यान पृथुसेन की ओर आकर्षित हुआ। मद्यप ने सम्बोधन किया—“तुम शिथिल और मौन क्यों हो सखे ! तुम भयभीत हो ? मारिश कहता है, भय मिथ्या है। किस से त्रस्त हो ? युद्ध से भयभीत हो ? जाओ, किसी द्विज कुलपति के दास बन जाओ ! किसी सामन्त के दास बन जाओ ! राजपुरुष तुम्हारा स्पर्श न कर पायेगे। अपनी पत्नी से खिन्न हो ? जाओ वेश्या अलोमा के समीप जाओ ! वह नागदन्त की भांति सुचिकण है। अलोमा लोभी नहीं है। आओ सखा, पान की गोष्ठी में परिचय मित्रता का सूत्र है।” अपना जूठा कुल्हड़ उसने पृथुसेन के मुख से लगा दिया। पृथुसेन पात्र मुख से हटा कर अन्धेरे मार्ग पर आगे बढ़ गया।

वृद्ध खड्गकार के रोने का शब्द उसे दूर तक सुनाई देता रहा।

प्रतीक्षा में खड़े दास ने पृथुसेन को शयनकक्ष का मार्ग दिखाया। वह अन्य-मनस्क अवस्था में पर्यंक पर बैठ गया। दीपशिखा पर मंडराने वाले शलभों की भांति कितनी ही चिन्तायें अनेक दिशाओं से आ आकर उसके मस्तिष्क में घुस जातीं—सागल पर बढ़ा आता दुर्घर्ष शत्रु, इस संकट के कारण छाया आतंक, अभिजात समाज का षड्यंत्र, जन का असंतोष और उपेक्षा, अभिजात समाज की उपेक्षा—इन सबका क्या परिणाम होगा ? ... दिव्या का शिथिल होकर उसके अंक में आत्मसमर्पण, फिर उसका सिहर कर बरज देना ! इतना स्नेह और बरज देना क्यों ? परन्तु क्या उनका विवाह सम्भव होगा ? उससे पूर्व केन्द्रस के आक्रमण से क्या हो जायगा ? वह सागल को छोड़ जाय ? मारिश का कहना ठीक ही था ! ... केन्द्रस का अवरोध कौन करेगा ? जन की सहायता बिना यह कैसे सम्भव

होगा ? वह कोमल उपघानों की उपेक्षा कर हथेली पर ठोड़ी टिकाये, चिन्तामग्न बैठा रहा । उसकी पीठ पीछे खड़ी दासी उसके अजाने में ही व्यजन से मन्द वातास कर कक्ष की ऊष्मा और पावस में उत्पन्न मच्छरों को दूर किये थी ।

“आर्य !” पृथुसेन ने माथा उठा कर देखा, दासी वापा सम्मुख खड़ी थी । पृथुसेन के मौन प्रश्न के उत्तर में दासी ने निवेदन किया, “स्वामी ने आयुष्मान के मंगल के प्रति जिज्ञासा की है । आयुष्मान का स्वास्थ्य ठीक है...चित्त प्रसन्न है ?”

दीर्घ निश्वास लेकर पृथुसेन ने उत्तर दिया—“तात से मेरा प्रणाम निवेदन करो । मैं स्वस्थ हूँ ।” शय्या पर लेट कर उसने कहा, “प्रकाश नहीं चाहिये ।”

कक्ष में भिन्न-भिन्न स्थानों पर जलते हुये सुगन्धित तैल के पांच दीपों में से दासी ने चार बुझा दिये । केवल एक दीप शेष रह गया, जिसका प्रकाश पर्यंक के नीचे बिछे आस्तरणों पर पड़ रहा था । पृथुसेन को निश्चल देख कर वापा चली गई । व्यजनधारी दासी आहूट किये बिना पृथुसेन की दृष्टि की ओट होकर हवा करने लगी ।

पृथुसेन करवटें लेकर, सिर के नीचे बाहु रख कर, अनेक प्रकार से लेटा परन्तु निद्रा न आई । एक घड़ी बीत गयी । द्वारों और गवाओं से कक्ष में झंझा-बात आने लगा और फिर वर्षा का शब्द और वायु में जल की शीतलता । स्वयं शीतल वायु आने से व्यजनधारी दासी व्यजन एक ओर रख निश्चल खड़ी थी । कुछ समय पश्चात दासी ने पर्यंक के समीप उपस्थित आधार से दुकूल लेकर पृथुसेन का शरीर ढक दिया । वर्षा और वायु की शीतलता पृथुसेन के विचार-विक्षोभ से उत्पन्न मस्तक को शान्ति दे रही थी । उसने शरीर से दुकूल हटा कर करवट ले ली । कुछ क्षण पश्चात उसने दुकूल पुनः शरीर पर खींच लिया ।

पर्यंक ग्रहण करने के पश्चात आर्य को इतने समय तक निद्रा न आती देख कर दासी ने अलिन्द में जाकर प्रतिहारी दासी को निद्रोपचार के योग्य दासी प्रस्तुत करने का आदेश दिया ।

छिल्ले हुये कदली के समान स्निग्ध गौर वर्ण दासी ने निःशब्द पदों से कक्ष में प्रवेश किया । उसका वेश और रूप रुचिर था । ग्रीवा से एक मुक्तावली और नवस्फुटित मालती कुसुमों की मालायें, गुलाबी कौशेय पट से पीठ पीछे बंधे सुगोल उरोजों पर झूल रही थीं । निरावरण क्षीणोदर की त्रिवली से कटि की ओर उठता हुआ वर्तुल उभार । कटि पर पीत कौशेय का शाटक मुक्तावली की मेखला से सम्भला हुआ । उसके कोमल बाहुओं पर मुक्तावली के अंगद और

वलय थे । उन्मुक्त सुगन्धित केश मुक्तावलियों से गुंथे हुये थे । शरीर पर कठोर-स्पर्श स्वर्ण आदि धातु नहीं, केवल शीतल, सुखद-स्पर्श मुक्ता थे ।

एक ओर करवट लेने पर पृथुसेन की दृष्टि दासी पर पड़ी । दासी उसके चरण सहलाने के लिये झुक रही थी । पृथुसेन को करवट लेते देख कर दासी ने उसकी ओर देखा । दासी के ओठों और दीर्घ नेत्रों में दुविधा का भाव था—स्वामी के संतोष के लिए वह मुस्कराये अथवा समवेदना में गम्भीर बनी रहे ? दासी के उस दुविधा-भाव से पृथुसेन को उलझन सी अनुभव हुई । उसने दासी की ओर से दृष्टि हटा ली । दासी उसके चरण दबाने लगी । उस समय स्पर्श से सुख अनुभव न कर पृथुसेन ने पाँव खींच लिये । दासी ने अनुमान किया, आर्य शीत अनुभव कर रहे हैं । एक और दुकूल आधार से लेकर उसने स्वामी के शरीर पर फँला दिया ।

शरीर एक दुकूल से ढंका रहने के कारण पृथुसेन शीत अनुभव न कर रहा था । दूसरा दुकूल शरीर पर आ जाने से उसने दासी की ओर देखा । द्वार से फर-फर कर भीतर आती शीतल वायु में उसके निरावरण शरीर पर रोम खड़े थे । स्वामी के विनोद के लिये उसका शरीर निरावरण था । सहसा पृथुसेन की कल्पना में दिखाई दिया, जैसे सामन्त सर्वार्थ और आचार्य प्रवर्धन के संतोष के लिये सागल विनाश के कुण्ड में धकेला जा रहा है । सागल का अभिजात समाज, सागल का जन समाज, उसके महामति पिता का कठिन प्रयत्न से समृद्धि प्राप्त परिवार, स्वयं वह, उतकी दिव्या ! ...वह किस के प्रति उपालम्भ से निरक्षेप है ? ...तात का कहना ठीक है—आत्म-विनाश में लगे प्रतिस्पर्धियों को हटाने का यही उचित समय है । दिव्या का अनुरोध है—तात धर्मस्थ के समीप जाऊँ । महासेनापति का विश्वास प्राप्त कर... उसने पर्यंक पर करवट ली । उसकी दृष्टि पुनः दुविधा और प्रतीक्षा में खड़ी शीत से रोमांचित शरीर दासी की ओर गई । वह संकेत से दासी को विश्राम के लिये जाने का आदेश देकर फिर विचार में डूबा करवटें लेने लगा । एक और घड़ी व्यतीत हो जाने पर निद्रा ने उसे विश्राम दिया ।

निद्रा समाप्त होने पर दासी पर्यंक के समीप जल, प्रक्षालन-पात्र और श्रौंछन-वस्त्र लिये उपस्थित थी । पृथुसेन ने द्वार से झांका, आकाश घने मेघों से आच्छादित था । अब भी धीमी वर्षा हो रही थी । सूर्योदय हुये विलम्ब जान पड़ता था । उसने दासी से प्रश्न किया—“क्या काल होगा दासी ?”

“आर्य, सूर्योदय के पश्चात् डेढ़ घड़ी !”

पृथुसेन ने कुल्ला कर मुख धो लिया तो दासी ने पोंछने के लिये वस्त्र उसकी ओर बढ़ाते हुये निवेदन दिया—“स्वामी प्रातः से आर्य को दो बार स्मरण कर चुके हैं। आर्य के विलम्ब से निद्रागत होने का संवाद पाकर स्वामी, आर्य की निद्रा समाप्त होने की प्रतीक्षा में अंतरंग-आस्थान में उपस्थित हैं।

पृथुसेन यह सम्वाद पाकर वस्त्र परिवर्तन कर पिता की सेवा में उपस्थित हुआ। श्रेष्ठी प्रेस्थ गम्भीर थे परन्तु उन्होंने पुत्र के प्रणाम का उत्तर मुस्कराकर मंगल-कामना से दिया। पुत्र के कंधे पर हाथ रख, रहस्य से अत्यन्त मन्द स्वर में वे बोले—“पुत्र, मद्र की सेना और सागल की स्थिति से तुम परिचित हो। गत संख्या मद्र सेना के केन्द्रस द्वारा पुनः पराजित होने का समाचार आया है। ये सम्वाद गणपति से गोप्य रखे जा रहे हैं। मैंने आचार्य प्रवर्धन की शूरसेन और मगध से गुप्त अभिसंधि के अकाट्य प्रमाण, प्रचुर धन व्यय कर प्राप्त किये हैं। पुत्र, यह सब प्रमाण और संवाद लेकर तुम गणपति और धर्मस्थ के समीप जाओ। इस आधार पर तुम उनका विश्वास और आदर प्राप्त कर सकोगे। पुत्र, यह स्वर्ण अवसर है और आत्मरक्षा का कर्तव्य भी।”

कुछ क्षण विचार कर पृथुसेन ने उसी प्रकार रहस्यपूर्ण स्वर में परन्तु निराशा से उत्तर दिया—“तात का कथन सत्य है परन्तु आत्मरक्षा का अवसर प्रायः बीत चुका है। प्रासादों में स्थित अभिजात समाज के दो-तीन सौ परिवार क्या कर पायेंगे ? और वे भी तो एक मत नहीं हैं। मद्र का विशाल जन अत्यन्त निरुत्साह और असंतुष्ट है। वे केवल केन्द्रस की प्रतीक्षा कर रहे हैं। गत संख्या अकुलीन और हीन जनसमाज के विचार मैंने स्वयं भी सुने हैं। वे क्षुब्ध, त्रस्त, निराश और असंतुष्ट हैं। तात, सेनापतियों के निर्देश का विशेष महत्व तो है परन्तु युद्ध तो जन ही कर सकेगा। जन अत्यन्त असंतुष्ट है, निराश है। वे केन्द्रस का स्वागत करने की प्रतीक्षा में है। हमारे लिये सम्भवतः समय रहते सागल को छोड़ दूसरे देश में शरण ग्रहण करने अथवा अपमान से रक्षा के लिये युद्ध में प्राण देने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं।”

पृथुसेन को पहले की भांति स्थिति से निरपेक्ष न देख कर श्रेष्ठी उत्साहित हुये। पुत्र को समीप आसन पर बैठा कर उन्होंने समझाया—“जन यदि असंतुष्ट है तो संतुष्ट भी हो सकता है। जन का संतोष और सहयोग आवश्यक है परन्तु वह संतोष और सहयोग सामान्त सर्वार्थ और आचार्य प्रवर्धन के प्रति नहीं,

गणपति, श्रेष्ठी प्रेस्थ और सेनापति पृथुसेन के प्रति होना चाहिये । समझे....”  
श्रेष्ठी बहुत समय तक पुत्र की नीति का उपदेश देते रहे ।

मद्र गण के सैन्य को परास्त कर केन्द्रस के दस्यु-दल तविशा नदी पर पहुँच गये थे । सीमान्त से आये इन भीषण समाचारों से सागल का नगर समाज अत्यन्त त्रस्त और निरुत्साह हो गया । भयभीत जन जब तक आशंका के पुराने कारणों से अभ्यस्त हो कर निरपेक्ष होने का यत्न करते, तब तक अधिक आसजनक नये समाचार आ कर उन्हें व्याकुल कर देते । ऐसी अवस्था में एक अप्रत्याशित घटना ने उन्हें व्यग्र कर दिया । वे विस्मय के आघात से मुँह बाये, घटना के कारण और परिणाम का अनुमान करने लगे ।

महावृद्ध धर्मस्थ देव शर्मा अपने प्रासाद से कदाचित् ही निकलते थे । उसी प्रकार पुत्र-शोक से विह्वल वयोवृद्ध गणपति मिथोदस भी परम एकान्त-सेवी थे । महावृद्ध धर्मस्थ शिविका पर आरुढ़ होकर गणपति महासेनापति के प्रासाद में उपस्थित हुये । उसी संध्या गणपति की शिविका भी धर्मस्थ के प्रासाद में पहुँची । महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र, सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी पृथुसेन अपने चपल श्वेत अश्व की बागुरा दोहरी किये दोनों बार धर्मस्थ और गणपति की शिविका के वक्ष में दिखाई दिया था ।

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का रथ दिन में अनेक बार गणपति और धर्मस्थ के प्रासादों के द्वारों पर दिखाई दिया । सामन्त ओक्रिम, सामन्त मेघवृत्त और इन्द्रसेन और महाशाल समर्थन के रथ भी रहस्यमय व्यग्रता से नगर के पथों पर आते-साते दिखाई दिये । तीन दिन तक यह क्रम रहा । अभिजात समाज और साधारण जन का कौतूहल विकलता की सीमा पर पहुँच गया । तीसरे दिन संध्या समय गणपति ने आवश्यक विचार के लिये परिषद का विशेष आह्वान किया । दो पहर रात्रि तक जनसमाज परिषद के विचार का परिणाम जानने की प्रतीक्षा करता रहा । परिषद का विचार समाप्त न हुआ । मन में कौतूहल लिये जन उत्कट प्रतीक्षा में ही निद्रागत हो गया ।

प्रातः सूर्योदय से पूर्व ही नगर के पथ और वीथियां तुमुल भेरी नाद से गूँज उठे । अनेक कातर गृहस्थ, निरंतर समापन्न विपत्ति की प्रतीक्षा में रहने के कारण केन्द्रस के दिलों को नगर में घुस आया जान कर, भय से पर्यंक पर सहसा

चीत्कार कर उठे। अनेक एक हाथ से शिथिल अन्तरवासक सम्भालते आत्मरक्षा के लिये अपने उपेक्षित शस्त्रों की ओर लपके। अधिकांश स्तम्भित होकर आतंक मिश्रित कौतूहल से अलिन्दों, द्वारों और गवाक्षों से झांकने लगे।

भेरी घोष के पश्चात् राजकीय तूर्य बजा। अश्वारोहियों ने घोषणा की—  
 “श्री मद्र गणपरिषद की अनुमति से मद्र गणपरिषद के गणपति परमभट्टारक महापराक्रमी महासामन्त महासेनापति मिथोद्रस युद्ध के संक्रमणकाल के लिये गणशासन के सर्वाधिकार ग्रहण करते हैं। गणपरिषद की आज्ञानुसार मद्र गण के कुलों और उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति, कुल और व्यक्ति के अधिकार से ऊपर गण-राज्य की है। कोई राजपुरुष संग्राम के लिये जन से बलात् बलि ग्रहण न करेगा। कोई नागरिक बलात् सैनिक कार्य के लिये बाधित न होगा। मद्रगण की सीमा के भीतर की कोई सम्पत्ति स्वर्ण, अन्न, वस्त्र, पशुधन किसी रूप में देश से बाहर भेजने और ले जाने वाला मृत्युदण्ड का अधिकारी होगा। कुलों की उत्तराधिकार प्राप्त अनुपाजित आय का अर्धांश, विहारों और संघों के निमित्त अर्पित आय का अर्धांश और अग्रहार सम्पत्ति की पूर्ण आय संग्रामकोष की बलि में अधिकृत होगी। गण के सम्पूर्ण कुलों और व्यक्ति के सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र, अश्व और रथ संग्रामकाल में गण की सम्पत्ति होंगे। गणसेना में स्वेच्छा से सेवा स्वीकार करने वाले पुरुष की कृषिभूमि राजस्व से मुक्त होगी। स्वेच्छा से सेवाकार्य करने वाला दास, स्त्री और सन्तान सहित दासत्व से मुक्त होगा। संग्राम क्षेत्र में हताहत सैनिक के परिवार का पालन गण करेगा। वह श्री मद्र गणपरिषद की अनुमति से परमभट्टारक गणपति, महासेनापति, महासामन्त मिथोद्रस की आज्ञा है। इस आज्ञा का पालन सम्पूर्ण मद्र प्रजा के लिये धर्म है।”

घोषणा से अभिजात समाज और जन सभी स्तब्ध रह गये। कुछ ही समय पश्चात् कहीं उत्साह से और कहीं क्षोभ से घोषणा पर विचार-विमर्श होने लगा। नयी व्यवस्था की आशा की उषा में ही जन का विचार और व्यवहार बदलने लगा। दूरदर्शी जन नवीन बलाधिकृतों और नवीन सेनापतियों की नियुक्ति का अनुमान करने लगे।



## आचार्य प्रवर्धन

रात्रि तीन पहर व्यतीत हो चुकी थी। दिन भर आशंकित, आतंकित और व्यग्र रह कर सागल नगरी भी अंधकार, मौन और निद्रा के आच्छादन में विश्राम पा रही थी। केवल नगर प्राचीर और गोपुरों से प्रतिहारी सैनिकों की सावधान रहने की ललकारें कुछ-कुछ पलों के अन्तर से अन्धकार से घनीभूत मौन को स्पन्दित कर देतीं। पथों और वीथियों पर सशस्त्र, मौन परन्तु सतर्क सैनिक पहरा दे रहे थे। मध्यरात्रि के पश्चात किसी अज्ञात कुल-शील के अथवा संदिग्ध अवस्था में किसी भी व्यक्ति के पाये जाने पर उसे राजपुरुषों के सम्मुख उपस्थित किये जाने का आदेश था। इस व्यवस्था के कारण सागल के मद्य-पण्यों और वेश्याओं की वीथियों में अर्धरात्रि के एक पहर पश्चात तक रहने वाला कोलाहल-व्यापार संध्या से ही समाप्त हो जाता।

नगर प्राचीर के अतिरिक्त कहीं प्रकाश और आहट था तो गणपरिषद के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के प्रासाद के सिंहद्वार पर। अलसाये सारथी, अश्व-रक्षक और अनुचर जम्हाइयां ले कर निरर्थक वार्तालाप से निद्रा का प्रतिकार कर रहे थे। श्रान्त अश्व सिंहद्वार के सम्मुख शिला-मण्डित भूमि पर अपने सुम पटक-पटक कर श्रान्ति और असन्तोष प्रकट कर रहे थे। अनेक अभ्यागत रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने पर और कुछ दूसरे प्रहर के अन्त में विदा हो चुके थे। अनुचरों और अश्वों की दृष्टि प्रतीक्षा में बार-बार सिंहद्वार की ओर जा कर निराश लौट आती। वे दुविधा में थे, उनके स्वामी उन्हें भूल गये या स्वयं अपने को ही भूल गये हैं।

इससे पूर्व भी अनेक बार कई प्रहर रात बीते तक अनेक प्रासादों के सिंह-द्वारों पर उन्होंने अपने स्वामियों के लिये प्रतीक्षा की थी परन्तु यह अवसर

और वातावरण भिन्न था। आज न नर्तकियों के पायल, न मृदंग की गमक, न गीत की लय, न अट्टहास, न कलरव, न मद्य और न खाद्य पदार्थों की सुगन्ध थी। उनकी सुध लेकर भीतर से किसी ने मद्य और मेरय के पात्र न भेजे थे। द्वार पर खड़े पांच सतर्क सशस्त्र प्रतिहारी अन्य समय की भांति केवल शोभा के लिये न जान पड़ते थे। प्रतिहारियों की आशंकामय तत्परता सारथियों और अनुचरों की प्रतीक्षा को दुस्सह बना रही थी।

सिंहद्वार की भांति आस्थानगार के अलिंद में भी दीप-दण्डधारियों के स्थान पर सशस्त्र प्रहरी तत्पर थे। दीपों का प्रकाश केवल आस्थानागार में ही था। अनेक अभ्यागतों से घिरे, अत्यन्त चिन्तातुर आचार्य प्रवर्धन के समीप काष्ठमूर्ति के समान निश्चल, ग्रीवा झुकाये आर्य रुद्रधीर बैठा था। उनके चारों ओर सामन्त कार्तवीर, सामन्त लक्ष्मण, श्रेष्ठी धर्मजीत, सार्थवाहक बलभद्र महा-सामन्त धर्मस्थ के पुत्र पण्डित विष्णु शर्मा और पौत्र विनय शर्मा आदि भी वैसे ही चिन्तातुर मुद्रा में उपधानों के सहारे प्रायः ग्रीवा झुकाये बैठे थे।

अलिंद में प्रतिहारी ने रात्रि का तीसरा प्रहर समाप्त होने का घड़ियाल बजा दिया। घड़ियाल के स्वर से समय का विचार कर पण्डित विष्णु शर्मा ने उपधान का आश्रय छोड़ कर सामन्त कार्तवीर को सम्बोधन किया—“महा-सेनापति के सहसा जागरूक हो कर परिषद का आह्वान करने और नगर में घोषणा कराने से जो आशंका हुयी थी वह यों पूर्ण हुयी।” उन्होंने चिन्ता से माथा झुकाये आचार्य की ओर दृष्टि की। आचार्य ने केवल एक दीर्घ निश्वास लिया। अन्य उपस्थित समाज भी विष्णु शर्मा की भांति उपधान छोड़कर मतामत प्रकट करने के लिये शरीर को हिलाने-डूलाने लगे। मुख से न कहने पर भी सभी ओर से विलम्ब के कारण चिन्ता प्रकट हो रही थी।

अन्तःपुर के कंचुकी ने सूचित किया—“कुल देवियां पधार रही हैं।” अभ्यागत देवियां अन्तःपुर से आकर अपने सम्बन्धी पुरुषों के समीप बैठ गयीं।

जम्हाई रोकने के लिये स्थूल शरीर को सीधा कर सामन्त कार्तवीर ने उत्तर दिया—“वर्तमान परिस्थिति में प्रतीक्षा के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं। महासेनापति और धर्मस्थ केवल शिखण्डी हैं। कुटिल नीति के यह बाण सामन्त ओक्रिस, इन्द्रसेन और सारथी प्रेस्थ के ही हैं। हमारे सभी बलाधिकृतों और सेनापतियों के स्थान पर अन्य बलाधिकृत और सेनापति पहले से नियत कर और घोषणा द्वारा जन को लुभा कर इन लोगों ने हमें पंगु कर दिया है। कुचक्र

में प्रेस्थ कोटित्य का शिष्य है। प्रातः सारथीपुत्र भी निश्चय बलाधिकृत क्या, सेनापति के पद पर शोभायमान होगा। यह न्याय उसी की भूमिका है।”

प्रसंग के मध्य में ही विष्णु शर्मा ने रुद्रधीर को सम्बोधन किया—“तात, उचित यही होगा कि सूर्योदय से पूर्व ही तुम नगरद्वार पर पहुँच कर द्वार खुलते ही पूर्व दिशा का मार्ग ग्रहण करो। मेरा विचार है कि प्रवास का समय तुम अपने मातुल-गृह वत्का में ही पूर्ण करो। गण के दूसरे नगरों की यात्रा कर परिस्थिति जानो। कुछ पक्ष अथवा कुछ मास पश्चात् ही इन हीन-कुल नास्तिकों का दमन हो जाने से तुम्हारे सागल लौट आने का अवसर आ सकता है।”

भावों को संयत रखने के लिये दोनों हाथों की उगलियाँ परस्पर बाँधे, ग्रीवा झुकाये आचार्य को अस्वीकृति से सिर हिलाते देख कर विष्णु शर्मा चूप हो गये। ग्रीवा झुकाये ही आचार्य ने अवसाद से क्षीण स्वर में कहा—“मेरा मत है, दो सहस्र दिवस के दीर्घ समय का उपयोग आयुष्मान रुद्रधीर मगध की यात्रा द्वारा करे। मद्र अभी कुछ समय तक प्रेस्थ और उसके म्लेच्छ दल के कुचक्र में पीड़ित हो विवश रहेगा। ऐसी स्थिति में वत्का जैसी अरक्षित नगरी में आप्युमान के किसी षड्यंत्र में फस जाने पर हम कुछ जान भी न पायेगे। मेरा शरीर उदर रोग से अत्यन्त जीर्ण हो रहा है। मेरी इच्छा है कि रुद्र मगध में द्विज सेनापति और अग्निमुख नातिज्ञ मर्दषि पतजलि से वर्णाश्रम के उद्धार के लिये दीक्षा ग्रहण करे। मद्र सदा म्लेच्छ-शासित न रहेगा…” वे अधिक बोल न पाये।

श्रेष्ठी धर्मजीत पुनः उपधान का आश्रय लेकर बोला—“तात धर्मस्थ ने यह अद्भुत न्याय किया है। मधुपर्व की घटना तो प्रायः विस्मृत हो चुकी थी…”

सामन्त कार्तवीर आगे बढ़ कर बोला—“यही तो मैं कह रहा था…”

सामन्त लक्ष्मण ने श्रेष्ठी के मुख का प्रसंग लेकर कहा—“यह मधुपर्व की घटना का परिणाम नहीं, यह युद्धकाल की राजनीति है। इसके मूल में तात धर्मस्थ की मिलिन्दकालीन शासन-व्यवस्था में आस्था है, यवन गणपति में उन का विश्वास है। विशेषतः यह अनुशासन दण्ड है। मित्र, गणपति की यह घोषणा कि मद्र की सम्पूर्ण प्रजा गण और न्याय के शासन के सम्मुख समान है, इसका प्रमाण है। यह जन को वश…” विष्णु शर्मा की और देख वे मोन रह गये।

विष्णु शर्मा अप्रतिभ नहीं हुये। वे बोले—“नहीं, तात स्वयं अभिधर्म और मुण्डियो की ‘कम्मणो द्विज भवति’ की धारणा का आदर करते हैं। इस वृद्धा-वस्था में उनके विचारों का क्या हो…”

सार्थवाहक बलभद्र जम्हाई से फँलते मुख को हाथ से ढंक कह बोला—  
 “आयुष्मान के मगध जाने के सम्बन्ध में आचार्य का मत उचित है। मार्ग के सभी नगरों में मेरा परिचय है। सब प्रबन्ध हो जायगा। आयुष्मान को यात्रा में कष्ट न होगा। मगध जा कर ही वे मद्र की मुक्ति का उपाय कर सकेंगे। हमारी आशा केवल मंत्र-अभिषिक्त मगध सेनापति पुष्यमित्र है।”

आचार्य को पुनः ग्रीवा झुकाये सिर हिलाते देख सभी लोग मौन हो उनकी ओर देखने लगे। “द्विज सेनापति !” उन्होंने कहा, “समय की न्यूनता से इस समय हम उनसे सहायता नहीं पा सके। द्विज सेनापति के भरोसे प्रतीक्षा करना उचित न हुआ। समय निकल गया। सेनापति पुष्यमित्र की सहायता पाने के स्थान पर हम म्लेच्छों के कुचक्र में फँस गये। सेनापति शूरसेन से रवि शर्मा को सैन्य दल भेजने का आदेश दे सकते थे। वे सम्भवतः दक्षिणापथ की प्रतिद्वन्द्विता में व्यग्र हैं। उनकी दृष्टि में जम्बूद्वीप की सीमा सम्भवतः केवल शूरसेन ही है। मद्र की रक्षा के लिये गणपति की इस नीति का परिणाम होगा कुलों की सत्ता का पराभव, कुलहीनों का उच्छृङ्खल स्वेच्छाचार ! शासन की व्यवस्था से हीन देश रक्षकहीन खेत के समान हो जायगा...”

एक गहरा निश्वास ले कर, दृष्टि किसी की ओर भी न कर, सभी को सम्बोधन कर आचार्य ने अभ्यागतों की सहानुभूति के लिये धन्यवाद दे कर विलम्ब हो जाने के कारण अभ्यागतों से विश्राम के लिये अपने स्थानों पर लौट जाने की प्रार्थना की। वे विष्टर से उठ खड़े हुये। उनके अनुकरण में अभ्यागत और कुल-स्त्रियाँ भी आसनों से उठ खड़ी हुयीं। मन की अधीरता के कारण कण्ठ और नेत्र आद्र हो जाने से आचार्य मुख से कुछ न बोल केवल बद्ध करों से अभ्यागतों की बन्दना कर अन्तःपुर के द्वार की ओर चले गये।

रुद्रधीर के नेत्र आरक्त और मुख प्रस्तर मूर्ति की भांति गम्भीर था। गुरुजन को प्रणाम कर वे लोग खड़े रहे।

कुल-देवियों ने क्रमशः आगे बढ़ कर उन्हें आशीर्वाद-तिलक कर, मंगल-कामना सूचक नारियल भेंट किये और एक-एक स्वर्ण मुद्रा रुद्रधीर के शिर से निछावर कर पुरोहित को दान के लिये पात्र में डाल दी। गुरुजन उन्हें दीर्घायु, सफल काम और यशस्वी होने का आशीर्वाद देकर दीप-दण्डकारी दासों द्वारा दिखाये मार्ग से देवियों सहित सिंहद्वार की ओर चले गये।

गुरुजन के प्रस्थान के पश्चात् चारों मित्र आयुष्मान सकुद, इन्द्रदीप, विनय

शर्मा और बलजीत यथेष्ट विश्राम की मुद्रा में रुद्रधीर को चारों ओर से घेर कर बैठ गये । रुद्रधीर का अनुज वसुधीर, ज्येष्ठ और ज्येष्ठ के मित्रों के प्रति आदर से एक ओर बैठा था । इन्द्रदीप ने जम्हाई लेकर वसुधीर को आपानक के लिये सम्बोधन किया ।

रुद्रधीर कोहनी उपाधान पर टिका, हथेली पर माथा टिकाये था । धर्मास्थान से लौट कर रात्रि तीन पहर बीत जाने तक उसके मुख से एक शब्द न निकल पाया था । उसके मुख के शब्द मन में धधकती हुई अपमान की प्रचण्ड अग्नि में भस्म हो गये थे ।

धर्मास्थान में दासपुत्र के अपमान के लिये एक सहस्र दिवस का निर्वासन दण्ड सुन कर वह न्याय और शासन की मर्यादा भूल गया था । उसके नेत्र आरक्त हो गये थे और हाथ खड्ग के लिये कटिवन्ध की ओर बढ़ गया परन्तु धर्मास्थान के अनुशासन के अनुसार धर्मास्थान की सीमा में राजपुरुषों के अतिरिक्त वादी-प्रतिवादी अथवा इतर जन का सशस्त्र उपस्थित होना वर्जित था इसलिये उसका हाथ शस्त्र न पा सका । मार्ग अवरुद्ध पाकर उसका क्रोध और उत्तेजना उमड़ पड़ी । महाबृद्ध महापण्डित धर्मस्थ के सम्मुख अवज्ञा से सिर उठा कर धर्मस्थ के नेत्रों में देख कर उसने प्रश्न किया—“क्या मद्र के कुल-गण का शासन दासों की प्रतिष्ठा के लिये है ?”

हिमश्वेत श्मश्रु से आच्छादित धर्मस्थ का मुखमण्डल युवक की इस घृष्टता से विचलित न हुआ । उत्तर में श्वेत श्मश्रु आच्छादित होंठ एक बार और हिले—“गणपरिषद संवाहक अग्रहार आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आयुष्मान रुद्रधीर को महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के पुत्र आयुष्मान पृथुसेन का सार्वजनिक अपमान करने के दण्ड-स्वरूप, धर्मास्थान से अनुशासित सागल नगर से एक सहस्र दिवस के निर्वासन-दण्ड के अतिरिक्त मद्रगण के धर्मास्थान के अनुशासन की अवज्ञा करने के अपराध में मद्र गण का धर्मास्थान एक और सहस्र दिवस के निर्वासन-दण्ड की आज्ञा देता है ।”

धर्मास्थान का वातावरण स्तब्ध रह गया । धर्मस्थ ने पुनः आदेश दिया—“गणपरिषद संवाहक अग्रहार आचार्य प्रवर्धन के पद और कुल के सम्मान के विचार से एक रात्रि और एक दिवस का समय आयुष्मान रुद्रधीर को स्वेच्छा से निर्वासन स्वीकार करने के लिये दिया जाय । इसके अनन्तर राजपुरुष आयुष्मान को बाधित करें ।”

आयुष्मान इन्द्रदीप, सकृद, विनय शर्मा, बलजीत तथा अन्य अभिजात युवकों ने रुद्रधीर के धर्मास्थान से निकलते ही उसके प्रति सम्मान प्रकट किया। युवक उसे बलात् शिविका पर बैठा कर शिविका को अपने कन्धों पर आचार्य के प्रासाद तक ले गये। अपने वर्ण और कुल का अमान सह कर धर्मास्थान से जीवित लौट आना रुद्रधीर के लिए मृत्युपीडा से भी अधिक असह्य हुआ। वह निरन्तर आत्महत्या और पृथुसेन की हत्या की ही बात सोचता रहा।

सुरा के दो चषक पीकर रुद्रधीर का हाथ अपने दोनों हाथों में दबा कर इन्द्रदीप ने कहा—“मित्र, मनुष्य देवताओं की इच्छा का दास है। देवता अपने प्रयोजन से मनुष्य की मति से परे कार्य करते हैं। शूद्र के आदर के लिए ब्राह्मण को निर्वासन का यह दण्ड ही मद्र की मुक्ति का सूत्र होगा।” सुरा का एक और चषक हाथ में लेकर उसने कहा, “द्विज सेनापति आचार्य के सन्देश का महत्व नहीं जान पाये। जिस दिन तुम स्वयं म्लेच्छमर्दिनी मगधवाहिनी के सम्मुख वर्णाश्रम की ध्वजा धारण कर लौटोगे, उस दिन मद्र के सम्पूर्ण म्लेच्छ और अहंकारी शूद्र यज्ञ के लिये बलि-पशु बन कर अपने अपराध का मार्जन करेंगे।” सुरापात्र सिर से ऊपर उठा उसने कहा, ‘अपने कुल की शपथ मे कहता हूँ, मित्र के अपमान का प्रतिशोध सम्पूर्ण प्रेस्थवर्ग को अग्नि समर्पण करके कहेगा। देवता मेरी प्रतिज्ञा के साक्षी रहें !” दूसरे मित्रों ने भी सुरा से पूर्ण चषक आधार से उठा कर होठों से लगाये।

सकृद ने रुद्रधीर के कन्ध से शरीर सटा कर रहस्य के स्वर में कहा—“मित्रो, पुण्यमित्र की प्रतीक्षा मे एक अवसर खोया। इस प्रतीक्षा मे एक युग बीत जा सकता है। मेरा विचार है कि मित्र रुद्र मगध न जाकर दार्व जाय। केन्द्रस से मित्रता स्थापित करें। केन्द्रस साम्राज्य-विस्तार का अभिलाषी है। उससे सन्धि कर यदि हम उससे आधा देश बांट कर वर्णाश्रम पद्धति के रक्षक पौरववंश के राज्य की स्थापना कर पायें तो कालान्तर में शेष देश को भी पुनः प्राप्त कर सकेंगे। महामति चाणक्य का मत है—सम्पूर्ण की हानि की आशंका देखें तो बुद्धिमान आधे को त्याग कर आधे की ही रक्षा करें !”

अन्यमनस्कता त्याग कर रुद्रधीर ने सकृद को सम्बोधन किया—“क्या कहते हो सखा सकृद ? विजयी केन्द्रस हमारी अनुमति से अपने साम्राज्य की व्यवस्था करेगा ? मद्र को एक बार हथिया कर वह मद्र में पौरव वंश अथवा द्विज वंश के स्वतन्त्र राज्य की सम्भावना का बीज नष्ट कर देगा।”

विनय शर्मा ने अपने हाथ का रिक्त चषक आधार पर रख कर समर्थन किया—“मित्र का विचार सत्य है। यवन केन्द्रस को यदि सहानुभूति होगी तो मुण्डियों से। वे उस म्लेच्छ को मिलिन्द की भाति धर्मराज का पद देकर सम्मानित करेंगे और वह उन अनाधिकारियों को प्रश्रय देगा। पुनः यज्ञधर्म और वर्णाश्रम का ह्रास होगा। यवनों से वर्णाश्रम की प्रतिद्वन्द्विता अनिवार्य है। हमारे लिये केवल पुण्यमित्र ही आशा का आधार है।”

अवसाद का शैथिल्य वश में कर रुद्रधीर बोला—“गुरुजन की नीति से हम लोगों ने अवसर को स्वयं खो दिया। केन्द्रस के सम्मुख शैथिल्य दिखा कर, गण को निर्बल बना कर, शासन-शक्ति हाथ से लेने की सामन्त सर्वार्थ की नीति से हमने उनका विश्वास और आदर खो दिया। यदि वृद्ध गणपति को समय पर शस्त्र-शक्ति द्वारा अपदस्थ कर सैन्यदल का नियंत्रण हाथ में ले लिया होता...” सब को मौन देख उसने प्रसंग बदल कर कहा, “अस्तु मित्रो, पितृव्य पण्डित का विचार ठीक है। मार्ग और वीथियों में जन की धृष्ट दृष्टि का सामना करने की अपेक्षा मैं सूर्योदय से पूर्व ही नगरद्वार पर पहुँच जाऊँ। जितना समय बीतेगा, समाचार फैलने से नगर-त्याग का कार्य उतना ही पीड़जनक हो जायगा। अपमान की मृत्यु-वेदना सह कर भी मैं केवल इसी आशा से जोवित हूँ कि किसी दिन कुल, वर्ण और अपने इस अपमान का प्रतिशोध कर सकूँगा।” रुद्रधीर ग्रीवा झुका कर मौन हो गया।

सम्पूर्ण रात्रि पल भर भी निद्रा न पाने के कारण सभी क्लान्त थे। केवल रुद्रधीर और वसुधीर के नेत्रों में निद्रा का चिन्ह न था। सकृदने मुख पर हाथ रख कर जम्हाई से विकृत स्वर में वसुधीर को सम्बोधन किया—“आर्य के प्रस्थान के लिये आयोजन में विलम्ब है?”

सिर हिला कर वसुधीर ने उत्तर दिया—“आर्य, सब आयोजन प्रस्तुत है। आर्य का विचार रथ से नहीं, अश्व द्वारा यात्रा करने का है। केवल विशेष विश्वासपात्र दास माथुर साथ रहेगा।”

इन्द्रदीप के संकेत से वसुधीर ने दास को पुनः मद्य-आधार उपस्थित करने की आज्ञा दी। इन्द्रदीप ने स्वयं चषक पूर्ण कर अपने हाथ से रुद्रधीर के मुख से लगा कर कहा—“मित्र, अपने दैवी अधिकार और कुल की रक्षा के लिये आमरण संग्राम का व्रत लेकर आज हम मित्र विदा हो रहे हैं। मिलन का दिन शीघ्र आयगा।” रुद्रधीर के चषक रिक्त कर देने पर सब ने पुनः एक साथ पान किया।

विनय शर्मा ने प्रस्ताव किया—“सब मित्र नगरद्वार से एक योजन तक रुद्रधीर को विदा देने चलें।” प्रस्ताव के समर्थन में पान हुआ। पान से रुद्रधीर का अवरुद्ध स्वर प्रकृतिस्थ हुआ और फिर कुछ कठोर हो गया। विनय शर्मा को बाहुमूल से थाम कर कक्ष के एक ओर ले जाकर उसने पूछा—“कुमारी दिव्या के भविष्य के प्रति तुम्हारा क्या विचार है मित्र ?”

सुरा-पान से बोझल नेत्र झलक कर विनय शर्मा ने उत्तर दिया—“तात के अति वात्सल्य के कारण कुमारी की स्वच्छन्दता पर कोई नियंत्रण नहीं। ज्येष्ठ प्रबुद्ध तात की उदारता से प्रभ्रय पाकर मुण्डी धर्म के प्रति अपनी प्रवृत्ति के कारण कुमारी की उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहित किये हैं। दो सहस्र दिवस का समय भी बहुत दीर्घ है। कुमारी को इतने दिन...। कुल इससे अवश्य विपन्न होगा।”

रुद्रधीर ने विनय के नेत्रों में देख प्रश्न किया—“क्या सारथीपुत्र पृथुसेन...?”

विनय ने उस दृष्टि से अपने नेत्र हटा कर अस्पष्ट स्वर में उत्तर दिया—“कुछ ऐसा ही अपवाद है।”

जम्हाई लेते हुये बलजीत ने अपने स्थान से रुद्रधीर को सम्बोधन किया—“मित्र, उषाकाल में विलम्ब नहीं है। अन्तःपुर में महादेवी, आर्य और नारी-समाज से विदा लेने में भी समय लगेगा।”



## आत्मसमर्पण

बृद्ध गणपति महासेनापति मिथोद्रस परिस्थिति की गुरुता अनुभव कर केन्द्रस के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये बद्धपरिकर हुये । गणकोष और रण-सामग्री के आयोजन की व्यवस्था का कार्य उन्होंने महाश्रेष्ठी प्रेस्थ को सौंपा और सैन्य-संघान की आयोजना महासामन्त यवन ओक्रिस का । नवशिक्षित सैन्य लेकर तविशा तटवर्ती दुरुद्ध पर्वत उपत्यकाओं में शत्रु से लोहा लेने के लिये उन्होंने पृथुसेन को नियुक्त किया और स्वयं प्रत्येक कार्य का व्योरे से निरीक्षण और निर्देशन करने लगे । नगर और प्रदेश की आन्तरिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व उन्होंने महापण्डित धर्मस्थ को सौंपा । नयी व्यवस्था से जनसमाज का निरुत्साह और त्रास शीघ्र ही दूर हो गया और संग्राम का उत्साह उमड़ पड़ा । आत्म-रक्षा के भाव से प्रेरित सैन्यदल स्वेच्छा से उमड़े चले आ रहे थे । शस्त्रों का निर्माण चतुर्गुण मात्रा में होने लगा ।

गणपति का बाधक्य से शिथिल, जर्जर शरीर असम पथों पर वेगवान् रथ के झकोले सहने में असमर्थ था । वे प्रातः, मध्याह्न, संध्या किसी भी समय शिविकारूढ़ होकर निरीक्षण-कार्य करते हुये नगर और उपान्त के किसी भी भाग में दिखाई दे जाते । पृथुसेन अपने चपल श्वेत अश्व की ग्रीवा बागुरा से दोहरी किये प्रायः उनके पार्श्व में दिखाई देता अथवा वह अश्वारोहियों के दल के साथ व्यग्रता से पथों और वीजियों में बाण के समान द्रुतगति से निकल जाता । वह सूर्योदय से सूर्यास्त तक अपनी अश्वारोही और पदाति सेनाओं को व्यूह रचना और आक्रमण की शिक्षा देने में व्यस्त रहता । उन्हें जंगल-युद्ध का अभ्यास कराने के लिये वह तीन-तीन दिन और रात जंगलों तथा आपगा नदी के कछारों में पड़ा रहता ।

तात धर्मस्थ, आर्य प्रबुद्ध शर्मा और धृति शर्मा से आदर पाकर भी पृथुसेन पण्डित विष्णु शर्मा, विनय शर्मा आदि की मौन विरोध-भावना के कारण समय मिलने पर भी धर्मस्थ के प्रासाद में न आ पाता। पिता की अनुमति से उसने तात धर्मस्थ के सम्मुख उनकी प्रपौत्री के पाणि के लिये भिक्षा मांगी। तात ने उत्तर दिया—“वत्स, इस समय तुम एक महान कार्य का उत्तरदायित्व लिये हो। सम्पूर्ण मनोयोग से उसी में ध्यान दो। पुत्र, सभी प्रसंगों के लिये काल के अनुसार अवसर होता है।”

चिन्तारूपी कलिका-पल्लवों से अवरुद्ध दिव्या के हृदय का पुष्प अभी अपने पटलों को प्रस्फुटित नहीं कर पाया था कि वह दूसरी चन्ता के आतप से कुम्हलाने लगा। पृथुसेन की प्रतीक्षा में उसे तीन-चार दिन बीत जाते और वह उसे एक पलक न देख पाती। पृथुसेन की खोज में वह मल्लिका और वसुमित्रा के प्रासादों के चक्कर लगाती परन्तु वह दिखाई न पड़ता। अघोर होकर वह प्रस्थ के प्रासाद में पहुंची। पृथुसेन की माता और श्रेष्ठी ने उसका सिर सूँघ कर, वात्सल्य से अङ्क में लेकर स्वागत किया परन्तु पृथुसेन न मिला। होठों पर मुस्कान और हृदय में पीड़ा लेकर वह लौट आयी और निराश हो एकान्त में पड़ रही। अपने शैथिल्य और विरक्ति के लिये महादेवी से प्रतारणा और उपालम्भ सुन कर भी वह विवश थी। उत्तर में वह केवल अश्रु बहा सकती थी।

पृथुसेन कभी कार्यभार से अवसर पाने पर वृद्धा दासी बापा द्वारा धर्मस्थ के प्रासाद में दिव्या को सन्देश भेज देता। वे मल्लिका या वसुमित्रा के प्रासाद में, पुष्करिणी के उपवन में अथवा प्रस्थप्रासाद में कुछ समय के लिये एकान्त में मिल पाते। दिव्या उद्रेक के अतिरेक से पृथुसेन के वक्ष में समा जाना चाहती। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती। उसे अङ्क में लेकर सान्त्वना देने के प्रयत्न में पृथुसेन स्वयं विह्वल होकर दिव्या में आश्रय ढूँढ़ने लगता। दिव्या उसके हाथों को अपने हाथों में लेकर वर्जने के लिये बाध्य हो जाती। पृथुसेन निहाल और निराश हो जाता। उसकी वह मुद्रा दिव्या के लिये मर्मन्तिक पीड़ा का कारण बन जाती।

पृथुसेन ने संयम की मुद्रा में दोनों बाहु वक्षस्थल पर बांधे परन्तु अति विह्वल स्वर में कहा—“शीघ्र ही मैं तविशातट पर युद्ध में जा रहा हूँ। यदि तुमने मुझे अंगीकार किया है तो मेरी स्मृति में तुम्हारी वर्जना ही साथ जायगी। यदि न लौटा। सम्भवतः मेरा शव ही सागल आ...” दिव्या उसके होठों पर हाथ

रख फूट-फूट कर रो पड़ी ।

संयम की यंत्रणा से अकुलाकर पृथुसेन ने आत्म-कश्या की व्यथा में वे कठोर शब्द कह दिये परन्तु दिव्या के फूट-फूट कर रो पड़ने से उसका हृदय अपनी कठोरता के लिये परिताप से गल गया । संयम की मुद्रा में वक्षस्थल पर बंधे उसके बाहु शिथिल हो गये । दिव्या को गूढ़ आलिंगन में लेकर उसके केशों, अश्रुसिक्त नेत्रों और कपोलो को चूम कर अपनी कठोरता के लिये क्षमा मांग कर वह उसे सान्त्वना देने लगा । तब दिव्या उसकी अधीरता को आश्रय देने के लिये विह्वल हो उठी । दोनों के हृदय अपने को भूल कर एक दूसरे के लिये प्रवाहित हो उठे ।

दिव्या के दिन अवसाद और क्षोभ में बीत रहे थे । अपने दुःख की बात सोचते समय उसे वैद्यवर स्थविर चीबुक के शब्द याद आ जाते—सुख और दुःख अन्योन्याश्रय हैं । उनका अस्तित्व केवल विचार और अनुभूति के विश्वास में है । इच्छा ही सर्वावस्था में दुःख का मूल है । एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को जन्म देती है । वास्तविक सुख इच्छा की पूर्ति में नहीं, इच्छा से निवृत्ति में है । महास्थविर के उपदेश पर उसे झुंझलाहट होने लगती; वह स्वीकार न कर पाती कि पृथुसेन के धर्मास्थान से न्याय प्राप्त कर बलाधिकृत का पद पा लेने से संतोष नहीं हुआ । कुछ दिन पूर्व उसकी कल्पना में इसके अतिरिक्त और कामना न थी । पृथुसेन के कौशल और व्यस्तता का प्रसंग सुन कर वह उत्साहित होती परन्तु उसे समीप पाने के लिये दिव्या के प्राण और भी व्याकुल हो जाते ।

दिव्या अपनी धाता, छाया की मां को अम्मा पुकारती थी । शंशव में दिव्या की क्रीड़ा-सखी और समवयस्क होने के अतिरिक्त छाया का यह ममता का अधिकार अपरिमित था । दिव्या से प्रयोजन, निष्प्रयोजन निरंतर भर्त्सना सुन कर भी छाया के लिये उससे कठोरता की सम्भावना न थी । दिव्या के क्षुब्ध होने पर छाया उपेक्षित और निरादृत होकर भी दिव्या के पार्श्व में बनी रहती । दिव्या के लिये भी छाया के अतिरिक्त दूसरा कोई सह्य न था । इस समवयस्का, आत्मीया दासी से वह उसी प्रकार निस्संकोच थी जैसे कोई अपने नित्य व्यवहार के वस्त्रों से होता है । छाया का प्रेमी, धर्मस्थ के प्रासाद का दासनायक बाहुल दासता से स्वातंत्र्य लाभ करने के लिये स्वेच्छा से सैनिक सेवा के लिये चला गया था । दिव्या की विरक्ति और शैथिल्य में छाया अपने छिपे दुःख का आभास पाती । दोनों के दुःख की अनुभूति में अन्तर उतना ही था, जितना उनकी दुःख सहने और

दुख प्रकट करने की क्षमता में था ।

छाया दिव्या के पर्यंक अथवा विष्टर के समीप उसके पाँव अथवा शरीर के किसी अंग पर हाथ धरे बैठी रहती और प्रासंगिक-अप्रासंगिक वार्तालाप से उसकी चिन्ता भंग करने का उपाय करती । दिव्या के विवाह के लिये महादेवी की निरंतर चिन्ता उस सम्बन्ध में कितने ही योग्य वरों का प्रसंग और तात के सम्मुख पृथुसेन की दिव्या के पाणि के लिये प्रार्थना और तात के उत्तर पर पंडित विष्णु शर्मा तथा प्रायः उदासीन भृगु शर्मा के कक्षों में प्रकट किये गये क्षोभ का भी समाचार दिव्या को छाया से मिलता रहता ।

पृथुसेन के प्रति अपने परिवार के निरादर भाव से दिव्या का हृदय जल उठता—“तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह न करूंगी । आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिये तात के सम्मुख प्रार्थना नहीं की, मैं स्वयं यहाँ चाहती हूँ । अन्य कुछ नहीं चाहती; यह सब जान लें । मेरे लिये किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं । यह जानने पर ही तात आर्य की प्रार्थना पर उचित ध्यान देंगे । विवाह भी विलम्ब से नहीं आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ ।” छाया के सम्मुख उसने सब कुछ निःसंकोच कह डाला और सोचती रही कि छाया से अम्मा सुनेगी और फिर सब सुनेंगे । ...हाँ सब सुन लें !

पितृव्य प्रबुद्ध की पत्नी आर्य तारा ने दिव्या को स्नेह से अंक में लेकर उपदेश दिया—“वत्से, अधीरता उचित नहीं । तात तुम्हारे प्रति स्नेह के कारण तुम्हारी इच्छा का तिरस्कार नहीं कर सकते परन्तु इस संक्रमणकाल में तुम्हारे विवाह की शीघ्रता का प्रभाव जन पर अनुकूल न होगा । इससे आर्य पृथुसेन के प्रति तात का न्याय पक्षपात का अपवाद ग्रहण कर लेगा...।”

केन्द्रस के सागल की ओर बढ़ते आने के समाचारों से उठी आशंका और आतंक की लहरें नगर के प्रासादों के अन्तःपुरों तक पहुँचने लगी थीं । पत्नी और दिव्या को आश्वासन देने के लिये आर्य प्रबुद्ध शर्मा ने कहा—“...आशंका का कारण नहीं । सामन्त ओक्रिस और पृथुसेन द्वारा सुनियोजित हमारी नयी सेना, नक्षत्रज्ञ विक्रम द्वारा निश्चित शुभ लगन में, एकादशी के चन्द्रमा का दर्शन कर समर यात्रा करेगी । निश्चय ही युद्ध की गति पलट जायगी । बलात घर कर भेजे गये विवश सैनिकों में और आत्मरक्षा के लिये तत्पर सैनिकों में महान अन्तर होता है...।”

दिव्या ने सुना—चौथे दिवस, मध्यरात्रि के पश्चात् पृथुसेन सेना लेकर समर प्रस्थान करेगा। उसके हृदय में शूल धंस गया। युद्ध उसने देखा न था परन्तु उस विषय में यथेष्ट सुना था। सहस्रों पुरुषों का अनेक मारक शस्त्र लेकर परस्पर प्रहार करना। रक्त की नदियाँ, सहस्रों हताहतों का चीत्कार, उनका भूमि पर बिछ जाना। ऐसे कार्य से केवल भय, आपत्ति की ही सम्भावना है...। पृथुसेन अपने वेगवान अश्व पर उसी नरमेघ में धंसा चला जा रहा है। महादेवी के अनुशासन से अन्यमनस्कता और शैथिल्य दूर रखने के लिये दिव्या को अपने हाथों से अनेक गृहकार्यों में योग देना होता। हाथ निर्दिष्ट कार्य में यंत्र की भाँति लगे रहने पर भी उसकी कल्पना में युद्ध के दृश्य छाये रहते। उस विभीषिका में दुस्साहस से सरपट दौड़ाते, ग्रीवा फँलाये, चंचल श्वेत अश्व पर उठी हुई भुजा में खड्ग थामे पृथुसेन संकट की ओर वेग से झपटना दिखाई देता रहता। दुष्कल्पनाओं से दिव्या का शरीर सिहर उठता।

छाया का प्रणयी दासनायक बाहुल स्वेच्छा से सैन्य-सेवा ग्रहण कर, स्वतंत्र नागरिक बन कर पृथुसेन की पदाति सेना में चला गया था। छाया विरह से दुःखित थी। दिव्या उसे समीप बैठा कर बाहुल के सम्बन्ध में वार्तालाप कर सान्त्वना देने के प्रयत्न में स्वयं भी सान्त्वना पाती। छाया ने तांत्रिक पण्डित बैकुण्ठ से बाहुल की रक्षा के लिये एक कवच प्राप्त किया था। दिव्या ने भी स्वर्ण की एक अंगूठी तांत्रिक को भेंट कर महाशक्ति रक्षक कवच पृथुसेन के लिये प्राप्त किया।

जैसे भी बन पड़ा, दिव्या तीनों दिन मल्लिका और वसुमित्रा के प्रासादों, पुष्करिणी के उपवन में और श्रेण्ठी प्रेस्थ के प्रासाद में पृथुसेन की खोज में गयी। पृथुसेन को कहीं भी न पाकर वह निराश लौट आयी। आर्य धृति शर्मा से उसने सुना कि बलाधिकृति पृथुसेन अत्यन्त व्यस्त हैं। दिन और रात्रि उनके अश्व की पीठ पर ही बीतते हैं। एक अश्व थक जाने पर वे दूसरा बदल लेते हैं परन्तु वे स्वयं नहीं थकते।

दिव्या अधीर होकर सोचने लगी, क्या व्यस्तता में मेरे लिये कुछ भी क्षण नहीं निकल सकते? यदि उन्हें ध्यान होता तो क्या बापा को ही न भेजते?... मैं हूँ भी इसी योग्य! उनके अत्यन्त श्रान्त शरीर और चिन्ता से क्लान्त मन को मैंने कब कौन आश्रय और सान्त्वना दी है। उनकी आकुलता को मैंने सदा अपनी कठोरता से कुण्ठित किया है। उस संघर्ष में यदि वे मुझे भुला देना चाहते

हैं तो मैं इसी योग्य हूं। उसके नेत्रों में आंसू छलक आते। आंसू बहाने का भी अधिकार न था... वह छाया की भांति उन्मुक्त होकर रो भी न सकती थी। अश्रु पूर्ण कण्ठ में श्वास-अवरोध अनुभव कर वह निश्चल रह जाती। उसकी कल्पना में प्रतिक्षण वही क्रम दिखायी देता रहता—श्रान्त, क्लान्त, विह्वल पृथुसेन का उसके आलिंगन में विश्रान्ति और संतोष चाहता... उसकी वर्जना में कुण्ठित, क्षुब्ध पृथुसेन का दुस्साहस से युद्ध की विभीषिका में झपटते चले जाना 'जहां से सम्भव है मेरा शव ही सागल में लौटे !'... पृथुसेन का अवसाद से खिन्न कुण्ठित मुख उसकी दृष्टि के सम्मुख आ खड़ा होता। वह स्मृति दिव्या के मन और शरीर को खण्ड-खण्ड कर देती।

आशंका से त्रस्त दिव्या की कल्पना चरम विभीषिका की कल्पना करने लगती। उस समर-भूमि में, चोटी से एड़ी तक रक्त से भीगा पृथुसेन का शरीर अण्व से गिरता दिखाई देने लगता। शोक-ग्रस्त संध्य समूह से घिरा एक शव दिखाई देने लगता और उसके साथ स्वयं उसकी अपनी मृत्यु भी तात के आस्थान में ज्ञान-गोष्ठियों में सुने जीवन-मृत्यु, शरीर, आत्मा और पुनर्जन्म के प्रसंग मस्तिष्क में जाग उठते। वे दोनों पुनः जन्म लेकर अमर प्रणय में बंधेंगे। बौद्ध श्रमणों के वचन स्मरण हो आते—मन की उग्र इच्छायें और व्याकुलतायें ही मनुष्य के वे संस्कार हैं जो मृत्यु को पीड़ामय बना देते हैं। पृथुसेन की विह्वल इच्छा और व्याकुलता अत्यन्त उग्र सजीवता से उसकी कल्पना में जाग उठती। वह स्वयं विह्वल हो जाती—अब मेरा शरीर आर्य का है, मेरा मन आर्य का है, मेरी आत्मा आर्य की है। मैं उन्हें व्याकुल क्यों देखूं ? आर्य जो चाहेंगे, उनका है... सर्वस्व ! परन्तु समर-यात्रा से पूर्व उन्हें पाऊं कहां ? केवल आज की संध्या ही तो शेष है।

तांत्रिक बैकुण्ठ से प्राप्त महाशक्ति-कवच निरन्तर उसके हाथ में था। वह कवच अपने हाथ से पृथुसेन की भुजा पर बांधे बिना वह उसे समर में किस प्रकार जाने दे सकती थी। उसके शरीर के प्रकट शैथिल्य के भीतर उसका प्रत्येक स्नायु अत्यन्त तनी हुई वीणा के तारों की भांति चिन्ता की अंगुली के स्पर्श से निरन्तर थरथरा रहा था।

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ ने समर में पुत्र के मंगल और मद्रसेना की विजय-कामना के उद्देश्य से प्रजापति के देवस्थान पर महायज्ञ की आयोजना की। पुण्य-धातु चंत्य में उन्होंने तीन सौ श्रमणों द्वारा परित्राण दिवासेना के लिये तथागत के

बिम्ब के सम्मुख सूत्रपाठ कराकर, एक सहस्र भिक्षुओं का भिक्षा से सत्कार किया और यवन देवी 'जीयस' के मन्दिर में अश्व-बलि का समारोह किया। छाया को सेवा में लेकर दिव्या तीनों स्थानों पर गयी परन्तु पृथुसेन कहीं दिखाई न दिया। उसने सुना—आर्य निरन्तर शिविर में व्यस्त हैं। वह निराशा लौट आयी परन्तु निराशा से शान्त हो जाना सम्भव न था। उसने धाता से अनुनय कर उसे पुनः प्रेस्थ प्रासाद में और दास गुह को पृथुसेन की खोज के लिये शिविर में भेजा।

दिव्या के मन की अवस्था अत्यन्त विक्षिप्त थी। एक ओर उसे प्रतीक्षा का प्रत्येक क्षण युग के समान दीर्घ जान पड़ रहा था और दूसरी ओर पश्चिम की ओर उतरते जाते सूर्य की गति में ममय अत्यन्त तीव्रगति से हाथ से निकलता जाता जान पड़ रहा था। समाचार ले कर न धाता प्रेस्थ प्रासाद से लौट पायी और न दास गुह सैन्य शिविर से लौटा। सूर्य की किरणें केवल वृक्षों के सिरों पर शेष रह गयी। विलीन होती किरणें दिव्या की आशा को साथ समेटे लिये जा रही थीं।

किरणे वृक्षों के शिखरों से भी लोप हो गयी। दिव्या सुदूर उत्तर में परन्तु मागल से प्रासादों के कन्धों पर सिर उठाये जान पड़ती पर्वत-श्रेणी के शिखर पर, सूर्य की अवशिष्ट किरणों की आर दृष्टि लगाये निराशा से लड़ रही थी। सान्त्वना उसके मन में उतनी ही दूर थी जितनी पर्वत-श्रेणियाँ उसके हाथ से। धाता ने लौट कर निराशा से आर्य को पाने में असफलता का समाचार कहा। उसी समय सम्मुख पर्वत-श्रेणी पर भी सूर्य का शेष प्रकाश विलीन हो गया।

दिव्या क्षण पर्यक पर, क्षण पीठिका पर बैठती, क्षण कक्ष में और क्षण बाहर उद्यान में ठहरती। उसे कहीं चैन न था। पल-पल वह तृषा अनुभव कर छाया से जल मांगती और जल-पात्र समीप रख घूंट भरना भूल जाती।

सहसा दासी माला ने कक्ष में आकर समाचार दिया—“प्रेस्थ प्रासाद की दासी बापा यज्ञ का प्रासाद लेकर महादेव' के कक्ष में उपस्थित हुयी है।”

दिव्या लेटी थी। सहसा उठ कर उसने प्रश्न किया—“क्या ? कब ?”

“इसी क्षण भद्रे !”

दासी से उत्तर पाकर अपनी अशोभन व्यग्रता के लिये संकोच से दिव्या पुनः लेट गयी परन्तु उसकी दृष्टि द्वार की ओर से न हटी। दासी के चले जाने पर लेटे रहते न बन पड़ा। वह उठ कर कक्ष में टहलने लगी। उत्सुकता दमन कराना असम्भव हो जाने पर उसने पुकारा—“छाया, देख क्या दासी बापा लौट गयी ?”

उसी समय बृद्धा दासी ने दिव्या के कक्ष में प्रवेश किया। आयुष्मती कुमारी के लिये कल्याण-कामना कर उसने देवता से आयुष्मती के दुख-सन्ताप अपने हीन, वृद्ध शरीर पर देने की प्रार्थना की। समीप बैठ कर वह यज्ञ के बृहत अनुष्ठान का वृत्तान्त सुनाने लगी। उसकी दृष्टि समीप उत्सुकता से कान लगाये छाया की ओर बार-बार जाती। दिव्या ने छाया को आदेश दिया—“छाया, भण्डार-गृह से वृद्धा वापा के लिये उपायन लाओ !”

छाया के चले जाने पर वापा ने रहस्य के स्वर में सन्देश दिया—“सूर्यास्त के दो घड़ी पश्चात् मल्लिका-प्रासाद मे।”

दिव्या के नेत्र ज्योतिर्मय हो गये। रत्नजटित अंगूठी उतार कर उसने वापा के हाथ में रख दी। उत्साह से उठ दिव्या उपेक्षित, मलिन वस्त्र परिवर्तन कर प्रसाधन में लग गयी। भावावेश के कारण निरन्तर अधिक स्वेद आने से प्रसाधन कठिन हो रहा था और उनके हाथ अटपटा जाते। सहायता के लिये प्रस्तुत छाया के प्रश्नों का उत्तर भी वह न दे पाती। उद्रेक से उसका स्वर अस्वाभाविक हो रहा था। उत्साह और उल्लास आकण्ठ उमग आने के कारण शब्दों के लिये स्थान न था। वह आत्मसमर्पण की विजय यात्रा के लिये प्रस्तुत हो रही थी। प्रसाधन उस यात्रा का अनुष्ठान था।

पृथुसेन मद्र की रक्षार्थ विजयदेवी को सन्तुष्ट करने के लिये आत्मसमर्पण का अर्घ्य लेकर समर-यात्रा के लिये प्रस्तुत था। उसके संकट और भय में उस की अर्धाङ्गिनी बनने के लिये, अपना अस्तित्व उसे सौंप कर उसके हृदय में समा कर उसे साहस और सान्त्वना देने के लिये दिव्या आत्मसमर्पण की विजय-यात्रा के लिये प्रस्तुत हुयी। वही संसार में उसका सबसे अधिक अपना था। उस पर परिवार, समाज और दिव्या का अपना अस्तित्व भी न्यौछावर था। उसने छाया को रथ प्रस्तुत करने का आदेश देकर महाशक्ति का कवच हाथ में ले लिया।

बलाधिकृत पृथुसेन के नेतृत्व में मद्र की पदाति और अश्वारोही सेना को तविशा की ओर गये एक मास बीत गया। अब दूसरे ही समाचार आने लगे। केन्द्रस की गति रुक गयी थी। उसके दस्युदल दार्व की ओर हटने लगे। इन समाचारों से सम्पूर्ण सागल नगरी को कितना उत्साह और सांत्वना हुई, उससे अधिक अकेली दिव्या को। वह आशा करने लगी, लगभग एक और मास में

आर्य विजयी होकर लौट आयेगे। वह कल्पना में पृथुसेन और अपने विवाहोत्सव के दृश्य देखने लगी। विजय के गर्व, पृथुसेन की कल्याण-कामना और शीघ्र ही मिलने की आशा में उसका समय बीतने लगा। अन्यमनस्कता और शैथिल्य होकर उसमें तृप्ति की गम्भीरता आ गयी थी। महादेवी संतोष अनुभव करतीं—पृथुसेन के नगर से चले जाने के कारण कुमारी के चित्त की उद्विग्नता दूर हो गयी।

दूसरा मास बीत कर तीसरा आरम्भ हो गया। केन्द्रस की सेना परास्त होकर पीछे हटती जा रही थी और पृथुसेन उसका पीछा करता दार्व की सीमा में बढ़ता चला जा रहा था। गणराज्य की सीमा के विस्तार के समाचार से सागल के नागरिक उत्साहित हो रहे थे। दिव्या उस विजय में अपना भाग अनुभव कर गर्वित और सन्तुष्ट थी। उसकी गम्भीरता बढ़ गयी। पृथुसेन के लौट आने की उत्सुकता से उसका जीवन सम्बद्ध हो गया।

वह नेत्र मूँदे स्मृति में पृथुसेन की समर-यात्रा की रात्रि का दृश्य देखती। उस रात्रि की अनुभूतियों से वह रोमांचित हो जाती। अपने अवसान को विजय में परिणत हो गया देख कर वह सफलता और अभिमान ले पुलकित हो जाती। अपने शरीर में पृथुसेन की उपस्थिति अनुभव कर गर्व और उल्लास से गदगद होकर उसका हृदय उछलने लगता। पूर्णता की सीमा पर पहुँच कर वह उल्लास व्याकुलता में परिवर्तित हो जाता कि अब आर्य का तुरन्त लौट आना आवश्यक है। उनका अधिक विलम्ब से लौटना चिंता का कारण हो जायगा।

चौथे मास के अन्त में समाचार आया, पृथुसेन ने दार्व का आधा प्रदेश विजय कर लिया है। केन्द्रस युद्ध में पृथुसेन के खड्ग प्रहार से धराशायी हुआ और पृथुसेन भी आहत हुआ। विजयी सेना दार्व से स्वर्ण, रत्न, अश्व और बहुमूल्य पदार्थों तथा दो सहस्र वलिष्ठ दास और सुन्दर दासियों का समूह लिये लौट रही है। समाचार सुन कर दिव्या ने अपना हृदय दोनों हाथों से संभाला। नेत्रों का जल-प्रवाह रोकने में असमर्थ होकर वह दुकूल ओढ़े पर्यंक पर लेट रही।

किसी दूसरे के न जानने और अनुभव न करने पर भी अपने शरीर में आते परिवर्तन से संकोच अनुभव कर अस्वास्थ्य का बहाना कर प्रायः कक्ष से बाहर न निकलती। उसके प्राण प्रति क्षण पृथुसेन को पुकारते रहते—आर्य, अपनी दिव्या और उसके शरीर में सौंपे अपने अंश की सुध लेने के लिये शीघ्र आओ...!



## विकट वास्तव

सूर्योदय से पूर्व ही जनप्रवाह सागल के सभी पथों और वीथियों से बह कर नगर के उत्तर द्वार पर जनसागर का रूप धारण कर रहा था। अनेक नागरिकों ने सम्पूर्ण रात्रि या रात्रि का अधिकांश नगरद्वार पर ही बिता दिया था। स्त्री-पुरुषों के हाथों में पुष्पमालायें और झोलियों में पुष्प और धान की खोलें भरी थीं। द्वार के तोरण पर मंगलवाद्य और सम्मुख नगाड़े बज रहे थे। नगर प्राचीर और उत्तर मार्ग पर खड़े वृक्ष भी उत्सुकता से व्याकुल नागरिकों से लद गये थे। अनेक लोग अपनी उत्सुकता का दमन न कर पाने के कारण मार्ग पर उत्तर की ओर बढ़ते चले जा रहे थे।

सेना के अग्रदूतों ने समाचार दिया था, मद्र की विजयी सेना घायल सेनापति पृथुसेन को लिये शनैः-शनैः सागल की ओर बढ़ रही थी। गत रात्रि नगर से दो योजन के अन्तर पर शिविर डाल कर सेना ने विश्राम किया था। सेनापति युद्ध में लगे घावों के कारण वेग से यात्रा करने में असमर्थ थे। पृथुसेन के आहत होने का समाचार नगर में पहुंचते ही वैद्यवर स्थविर चीबुक तथा नगर के अन्य सर्वश्रेष्ठ अनुभवी वैद्यों को अत्यन्त वेगवान अश्वों से जुते रथों पर पृथुसेन के उपचार के लिये भेज दिया गया था।

सूर्य के प्रकाश की चकाचौंध से नेत्रों को बचाने के लिये हाथों की ओट किये, उत्तर मार्ग पर सुदूर दृष्टि लगाये जनसमूह ने मार्ग पर धूलि का एक मेघ सा देखा। जन के विपुल जयघोष में वाद्यों का स्वर डूब गया।

पृथुसेन पीड़ा और ज्वर से श्रान्त, मन्द गति से चलती सेना से घिरी शिविका में शकटों पर दावों के पराजित प्रदेश से प्राप्त स्वर्ण, मणि-माणिक्य, रत्न तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों का संचय और दो सहस्र दास-दसियों को लिये नगरद्वार

पर पहुंचा ।

उल्लसित सौभाग्यवती कुल-नारियों ने अर्घ्यपात्र में जलते घृत के सी दीपों से विजयी सेनापति की आरती उतारी । वृद्ध सेनापति गणपति मिथोद्रस की पोत्री कुमारी सीरो ने पृथुसेन का विजय अभिषेक कर, यवनप्रथा के अनुसार उसे हरित किसलय का मूकुट पहनाया । वृद्ध गणपति युवक सेनापति का सिर अनेक क्षण तक अपनी श्वेत दाढ़ी में लिये गद-गद मोन बने रहे । महावृद्ध महापण्डित धर्मस्थ देवणर्मा दामों का आश्रय ले कर अपनी शिविका से उतरे । घायल सेनापति के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने उन्मुक्त आशीर्वाद दिया । इसी प्रकार महासामन्त सर्वार्थ, आचार्य प्रवर्धन और गण-परिषद के दूसरे सदस्यों और विशिष्ट-समाज ने भी विजयी युवक सेनापति की अभ्यर्थना की ।

निर्भय सागल नगरी विजय के उन्माद से उन्मत्त हो उठी । राजपथों और चौकियों में सभी ओर रात-दिन उत्सव दिखाई देने लगा । राजपुरुष दावों से प्राप्त बहुमूल्य पदार्थों और दास-दासियों की सार्वजनिक बिक्री कर गणकोष को धन से पूर्ण कर रहे थे । जिन परिवारों के पुरुष सग्राम-यज्ञ में हत आहत हुये, गणपति ने उन्हें निर्वाह के लिये यथेष्ट धन और दास-दासी भेंट किये ।

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ ने कृपा के लिये एक विराट यज्ञ द्वारा देवताओं की तृप्ति की । आचार्य प्रवर्धन ने उस महायज्ञ के अष्टवर्ग्य का पद स्वीकार किया । एक सहस्र याज्ञिकों ने स्वस्तिवाचन द्वारा मन्त्रोच्चारण किया । पुण्यधातु चैत्य में श्रेष्ठी ने तथागत के बिम्ब के सम्मुख एक सहस्र भिक्षुओं द्वारा सूत्र पाठ करा कर उन की भिक्षा सत्कार कर परित्राण के लिये कृतज्ञता प्रकट की । इसी प्रकार देवी जीयस के मन्दिर में उन्होंने बलि दी ।

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का प्रासाद आनन्द-कलरव से मुखरित हो उठा । अन्तःपुर में केवल पृथुसेन के कक्ष में स्तब्धता थी । भिषागाचार्य वैद्यप्रवर स्थविर चीवुक पृथुसेन की चिकित्सा कर रहे थे । शल्य-क्रिया निपुण चीवुक ने पृथुसेन के घावों को कौशेय के तारों से सी कर उन पर औषध का लेप किया । मुख से भी संजीवक औषधि दे कर वैद्य ने आहत को पूर्ण विश्राम का आदेश दिया । पृथुसेन औषध के प्रभाव से निद्रा के पूर्ण विश्राम द्वारा स्वास्थ्य लाभ कर रहा था । महासेनापति मिथोद्रस की पोत्री सीरो प्रायः प्रतिक्षण विजयी सेनापति की परिचर्या में समीप बनी रहती ।

दिव्या ने छाया, दूसरी दासियों, धृति शर्मा और प्रसाद के बालकों के मुख

से पृथुसेन के नगर-प्रवेश के समारोह का सविस्तार वृत्तान्त सुना । स्वयं वह अस्वास्थ्य और अपनी अवस्था के प्रति संकोच अनुभव कर नगरद्वार पर न जा सकी थी । अपनी उस परिस्थिति से वह तड़प कर रह गयी । पृथुसेन के सम्मान से उसने गर्व अनुभव किया । उसके घायल और रोगी होने के समाचार से उसका हृदय विकल था । अपनी संकोचजनक स्थिति से कुण्ठित हो वह सोचती—यदि आर्य के समर प्रस्थान से पूर्व ही उसका विवाह हो गया होता, वह किसी भी अवस्था में शिविकारूढ़ होकर नगरद्वार पहुंचती । घावों से क्षत आर्य का सिर अपनी गोद में रख कर उन्हें प्रासाद में ले आती । सेवा के लिये सीरो का पृथुमेन की रोग-शय्या के समीप रहना दिव्या को कटु विद्रूप मात्र जान पड़ता था । अपनी विवशता में शरीर को वस्त्रों से ढंके, सब यत्नों से अपना रहस्य सुरक्षित किये वह उस क्षण की कल्पना में आत्म-विस्मृत रहती, जब पृथुसेन के स्वस्थ होने पर उनका विवाह विधि का रूप और समर्थन पा सकेगा ।

दिव्या प्रतिक्षण प्रेस्थ प्रासाद से वृद्ध दासी वापा के समाचार लेकर आने की प्रतीक्षा करते-करते व्यग्र हो उठी । संयम का बन्धन असह्य हो गया । सूर्यास्त के पश्चात् शरीर को वस्त्रों में ढक-ओढ़ कर शिविका में बंठ छाया को साथ लेकर वह प्रेस्थ प्रासाद में पहुंची ।

धड़कते हृदय को दोनों हाथों से सम्भाले, आहट बचाकर दासी द्वारा दिखलाये मार्ग से दिव्या पृथुसेन के कक्ष के द्वार की ओर बढ़ी । दासी ने आदर से द्वार का पट हटाया । दिव्या ने देखा—शय्या पर लेटे हुये पृथुसेन का शरीर अत्यन्त कृश होकर पीला पड़ गया था । उसका सिर और कंधे चीरों में लिपटे थे । रोगी की शय्या के समीप, अत्यन्त गौर वर्ण पीठ पर फैले पिगल केशों पर यवन प्रथा का मुक्तावली का किरीट बांधे सीरो एक दासी की सहायता से आधार पर रखे पात्र में रोगी के लिये औषधि का पेय बना रही थी ।

दिव्या को देख कर सीरो ने गृह-स्वामिनी के अधिकार से रोगी की शय्या के उपधान की ओर रखा आसन ग्रहण करने का संकेत किया । उसके कान के समीप मुख कर कठिनता से सुने जा सकने योग्य स्वर में सीरो ने वैद्यराज स्थविर चीवुक का आदेश सुनाया—“किसी भी अवस्था में आर्य की निद्रा भंग न की जाय । अभ्यागत वार्तालाप द्वारा रोगी को को क्लान्त न करें ।”

अपने आसन से दिव्या को पृथुसेन के चीरों से बंधे मस्तक और कंधे के अतिरिक्त शरीर का कोई भाग दिखाई न दे रहा था । पृथुसेन निद्रागत था ।

उसे सम्मुख और समीप पाकर भी उससे बात न कर पाने और उसका स्पर्श न कर पाने की बाधा और अपने और उसके बीच दूसरे व्यक्ति के व्यवधान से दिव्या अधीर हो उठी। पृथुसेन को अपने अंक में पा लेने के लिये उसके अंग स्फुरित हो उठे। बीते 'छः मास का अन्तर दूर होकर वियोग की रात्रि में पृथुसेन का स्पर्श दिव्या की अनुभूति में सजीव हो उठा। सीरो की उपस्थिति और उसका निषेध पृथुसेन को बलात उसके अंग से छीने था। निरन्तर पृथुसेन की ओर लगे दिव्या के नेत्र उसे पूर्ण रूप से पा लेने के लिये फैलते जा रहे थे। यथेष्ट विस्तार के लिये स्थान न पाकर हृदय का वाष्प नेत्रों के जल के रूप में परिणित हो गया।

दिव्या की उस विवशता और क्षोभ में सीरो शिष्टाचार के प्रदर्शन के लिये उसके समीप आकर तात धर्मस्थ और उनके परिवार का कुशलक्षेम पूछने लगी। उसने रोगी की कठिन परिस्थिति और अपने गु भार का विस्तृत वर्णन किया; कैसे दिन-रात रोगी की परिचर्या में उसे तत्पर रहना होता है। परिजन और समाज के अत्यन्त अनुरोध करने पर भी क्षत रोगी की चिन्ता छोड़ कर उत्सवों में सम्मिलित होना उसके लिये कठिन हो जाता है।

सीरो का व्यवहार दिव्या को अपनी स्थिति और दुर्भाग्य के प्रति लांछन और उपहास के रूप में असह्य दम्भ और अहंकार जान पड़ा। उत्तर में वह कुछ न कह सकी। केवल पलक झपक कर मौन रह गयी।

विस्मय की मुद्रा में नेत्र फैलाये, चिबुक पर तर्जनी रख सीरो ने प्रश्न किया—“सखी, तुम भी तो इन महत्त्वपूर्ण उत्सवों में सम्मिलित नहीं हो पाती?.. तुम्हारे बिना कला का प्रसंग तो निर्जीव रह जाता है। देवी मल्लिका के नेत्र सदा तुम्हें ही खोजते हैं। वे सदा ही तुम्हें स्मरण करती हैं।” कीतूहलपूर्ण दृष्टि दिव्या के शरीर पर घुमा सीरो ने अपना उत्तरीय अपने होठों पर रख लिया। उसके पुष्ट रक्त अधर का स्फुरण गोपन के इस प्रयत्न से और उग्र हो गया।

पृथुसेन के निद्रा-भंग की प्रतीक्षा में बैठे रहना दिव्या के लिये असम्भव हो गया। जिस प्रकार भी सम्भव हो सका, शिष्टाचार की रक्षा के लिये आहुत बीर के स्वास्थ्य की मंगल-कामना कर वह लौट गयी।

निद्रा-भंग होने पर पृथुसेन को दासी द्वारा दिव्या के आ कर लौट जाने का

समाचार मिला। नगरद्वार पर जिस समय कुल-नारियों और कुल-कन्याओं ने उसका विजय तिलक किया था, उसके नेत्र निरंतर दिव्या का मुख और उसके कान दिव्या के स्वर को खोज रहे थे। पीड़ा उत्कट न होने की अवस्था में वह निरंतर उसी के विषय में सावता रहता। दिव्या का इतने विलम्ब से आना और दो शब्द बोल पाने की प्रतीक्षा न कर लौट जाना उसके लिये दारुण व्यथा बन गया। दिव्या के समीप स्वयं पहुंच पाने की अक्षमता उसे व्याकुल किये थी। दिव्या की इस उपेक्षा में खिन्न होकर वह निरंतर इसका कारण सोचता रहता। उत्सुकता से व्याकुल होकर पृथुसेन ने सीरो से कुमारी दिव्या के आने और साक्षात्कार के लिये प्रतीक्षा किये बिना लौट जाने के सम्बन्ध में पूछा।

सीरो के मुख पर विडम्बना की मुस्कान आ गयी। अपना स्थूल रक्तग्रधर बिचका कर वितृष्णा से उसने उत्तर दिया—“कुमारी के मन की इच्छा के विषय में मैं क्या कह सकती हूं? आर्य धर्मस्थ की प्रपौत्री के लिये रोगी की निद्रा पूर्ण होने के समय तक प्रतीक्षा सह्य न रही होगी। और क्या जानूँ?” सीरो से उस विषय में पुनः कोई प्रश्न पूछने का साहस पृथुसेन को न हुआ।

चिन्ता प्रकट न कर पाने पर पृथुसेन का मन चिन्ता से और भी अधिक क्षुब्ध हो गया। वह अनुमान न कर पाया, छः मास की उसकी अनुपस्थिति में क्या हो गया? क्या कुल-अभिमान के कारण दिव्या उसके प्रति उदासीन हो गयी? अथवा अपने परिवार से त्रस्त होकर विरत हो गयी? क्या किसी के अधिक प्रबल आकर्षण के सम्मुख वह झुक गयी? अब मृग से मिलने में उसे अनिच्छा क्यों होने लगी? अनेक पहर तक निश्चल पड़ा वह इसी प्रकार की दुष्कल्पनाओं में खोया रहता।

स्थविर चीवुक की चामत्कारिक औषधि और कांधारी फलों के रस से शरीर में शीघ्र ही रक्तवृद्धि होकर पृथुसेन की प्राणशक्ति सामर्थ्य अनुभव करने लगी। उमी अनुपात में दिव्या की स्मृति और उसके लिये व्याकुलता का वेग बढ़ने लगा। जीवन का पांसा फेंक कर प्राप्त की हुयी सफलता दिव्या के अभाव में उसे निस्सार जान पड़ने लगी।

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ पुत्र के स्वास्थ्य में सुबार से प्रसन्न थे। पुत्र के चितित और शिथिल रहने के समाचार से उसकी अन्यमस्कता दूर करने के लिये पृथुसेन के ही कक्ष में उन्होंने नृत्य-संगीत और विनोद के दूसरे प्रबन्ध किये जाने का आदेश दिया। पृथुसेन को वे आयोजन केवल कोलाहल जान पड़ते। वह विरक्ति

से ऐसे आयोजनों को हटा देने का संकेत कर मौन पड़ा रहता। श्रेष्ठी स्वयं भी पुत्र के पर्यंक के समीप पीठिका पर उपादान का आश्रय लिये घड़ी-आधी घड़ी बैठ कर अनेक प्रसंगों से पुत्र का शैथिल्य दूर करने का यत्न करते। पृथुसेन उस वार्ता में भी रस न पाता। वह अपने मन की बात पिता के सम्मुख प्रकट करने का उपाय निरन्तर सोचता रहता परन्तु साहस न कर पाता।

वीणा हाथ में लिये, स्निग्ध श्याम वर्ण नवीन दासी के कंधे का आश्रय लिये महाश्रेष्ठी कक्ष में आये। पृथुसेन के पर्यंक के समीप पीठिका पर आसन ग्रहण कर बोले—“पुत्र, स्यविर चीवूक की लाभकारिक औषधि से तुम्हारे स्वास्थ्य में सन्तोषजनक सुधार हो रहा है। वत्स, कहो तुम्हारे शैथिल्य का कारण क्या है? मन का अवसाद स्वास्थ्य के लिये घातक है। पुत्र, प्रसन्नता और स्फूर्ति पाने का यत्न करो। तुम्हें संगीत के ममं मे गति है। दक्षिणापथ से आई यह दासी उल्का वीणा-वादन में अद्भुत क्षमता रखती है। इसका वादन तुम्हारे मन की चिन्ता हरेगा।

श्रेष्ठी ने दासी को वादन आरम्भ करने का संकेत किया। दासी की अंगुली के स्पर्श से वीणा की तार से प्रथम झनकार होते ही पृथुसेन के मुख में विरक्ति का स्वाद भर गया। हाथ उठा दासी को मौन रहने का संकेत कर सिर झुकाये उसने पिता को सम्बोधन किया—“तात, मेरी इच्छा है, शिविकारूढ़ होकर एक बार धर्मस्थ के प्रासाद में हो आऊ। अनुमति दीजिये।”

“स्वास्थ्य की इस क्षीणता और शैथिल्य में? वत्स, किस प्रयोजन से?” अपनी श्वेत-पीली दाढ़ी हाथ में सूतते हुये श्रेष्ठी ने विस्मय प्रकट किया।

नेत्र झुकाये ही पृथुसेन ने उत्तर दिया—‘समर-यात्रा से पूर्व मैं महापण्डित धर्मस्थ की प्रोत्री से विवाह का आवेदन कर चुका हूँ। उस कार्य को मैं अविलम्ब पूर्ण करना चाहता हूँ।

वृद्ध श्रेष्ठी अपनी दाढ़ी को शनैः-शनैः हाथ में सूतते रहे। ईषत् मुस्कान से वे बोले—“पुत्र, देवताओं ने प्रसन्न होकर तुम्हें विद्या, बुद्धि, कौशल, धन और रण में विजय का सम्मान दिया है। समय पर वे देवता तुम्हें स्त्री-सुख देने में भी कृपणता न करेंगे। एक दिव्या कन्या, अनेक लावण्यमयी, कलामयी ललनायें तुम्हारे भोग के लिये प्रस्तुत रहेंगी। जो बुद्धिमान अवसर के अनुकूल व्यवहार करता है, उसके लिये देवता इस लोक और परलोक के सभी सुखों का वरदान देते हैं। पुत्र, अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करो।”

पिता के सम्मुख संकोच से मौन रह कर पृथुसेन मन ही मन अधिक व्याकुल हो जठा। उसकी कल्पना में दिव्या अनेक अत्यन्त कमनीय रूपों में आ उपस्थित होती। नृत्य के समय अनेक मुद्राओं में वलयित उसके बाहु, क्षीण कटि के ऊपर विस्तृत होता अस्पष्ट गोलाइयों में बंटा वक्षस्थल, चिकने शाटक से झलकती उसकी मांसल, लम्बी, पुष्ट लौकी के समान जंघाएं, उसका कोमल गौर अण्डाकृत मुख, पतले रक्तओष्ठ, सुडौल नासा, फैले हुये नेत्र जिनमें विश्वास की गहराई थी। प्रथम परिचय के अवसर पर दिव्या का सहज सौजन्य, उसकी अधीरता में दिव्या के नेत्र सजल हो जाना। हृदय पर सिर रख कर उसका आश्वासन देना। उसके अंगों का स्फूर्तिदायक स्पर्श। समर-यात्रा की रात्रि में उसका अनुरागमय आत्मसमर्पण।

पृथुसेन का रक्तस्त्राव से निर्बल शरीर कण्टकित हो जाता। उसकी भावना दिव्या को पाने के लिये अदम्य वेग से उमग उठती और फिर असामर्थ्य और अमफलता की बाधा पा कर तट से टकरा कर पलटती लहरों की भांति वह भावना कुछ दूर दूसरी दिशा में भी जाती। क्यों वह मेरे प्रति इस प्रकार विरक्त हो गयी? उस प्रकट कोमलता और कमनीयता में इतनी निष्ठुरता छपी थी? जैसे कठोर शिला पर ठहरे धियले जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के सौन्दर्य का कुछ सार नहीं...

सीरो उसके प्रति अनुराग प्रकट करती थी परन्तु पृथुसेन उपेक्षा करता था। अब वह सीरो के प्रति अपनी उपेक्षा से संकुचित होने लगता। फिर सोचता— नहीं, वह दिव्या को पायेगा ही। दृष्टि छन की ओर लगाये। दिव्या से एकान्त मिलन के क्षणों में अपनी अधीरता और उसका निग्रह, उसकी विह्वलता के सम्मुख दिव्या का आत्मसमर्पण। इस घटना-क्रम पर विचार कर उसे विस्मय होता, क्या दिव्या इतनी अस्थिर हो सकती है?

पृथुसेन ने पिता के मुख से गणपति की पौत्री सीरो की प्रशंसा सुन कर, उनका अभिप्राय जान कर विश्वशता के स्वर में कहा—“तात, धर्मस्थ की प्रपौत्री से प्रतिज्ञाबद्ध होने और उसके प्रति अत्यन्त अनुराग के कारण मेरे लिये किसी दूसरी कन्या से विवाह का प्रसंग मन में लाना सम्भव नहीं।”

वृद्ध श्रेष्ठी का हाथ अभ्यास के अनुसार अपनी दाढ़ी शनैः-शनैः सूतते हुये थम गया। माथे पर भृकुटी की रेखा गहरी हो गयी परन्तु मुख पर मुस्कराहट दिखाई दी। श्रेष्ठी की यह मुस्कान दृढ़ निश्चय का संकेत थी। ताड़-पत्र का

विशाल व्यजन डुला कर वातास करते दास चीर को श्रेष्ठी ने आदेश दिया—  
“अपने स्थान पर दास वाक को सेवा में भेजो।”

दास वाक बहरा और गूंगा था। उसका कार्य विशेषतः गुप्त मंत्रणा के समय सेवा में उपस्थित रहना था। इस आयोजन से पृथुसेन समझ गया कि पिता प्रसंग पर गम्भीरता से वार्तालाप करेंगे। वह भी अपने निश्चय पर दृढ़ था।

श्रेष्ठी मुख और नेत्रों में मुस्कान लिये बोले—“वत्स, यौवन के आरम्भ में नारी के प्रति आवेग प्रबल होता है। पुत्र, आवेग एक वस्तु है, जीवन दूसरी। जीवन जल का पात्र है, आवेग उसमें एक बुदबुदा मात्र है। जीवन की सफलता लिये किसी समय आवेग का दमन आवश्यक हो जाता है, जैसे रोग में पथ्य अहचिकर होने पर भी उपयोगिता के विचार से ग्रहण किया जाता है। कामना की तृप्ति के लिये तुम अपने सामर्थ्य के अनुकूल अनेक कमनीय स्त्रियों से अनुराग कर सकते हो। विवाह को जीवन में सामर्थ्य और सफलता का साधन बनाओ। सामर्थ्य से ही मनुष्य भोग और कामना करने का अधिकारी होता है।”

श्रेष्ठी ने पुत्र को उत्तर देने के लिये क्षण भर अवसर दिया परन्तु उसे सिर झुकाये मौन देख वे फिर बोले—“पुत्र, स्त्री जीवन की पूर्ति नहीं, जीवन की पूर्ति का एक उपकरण और साधनमात्र है। सामर्थ्यवान, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियाँ प्राप्त कर सकता है। परन्तु सफलता के अवसर जीवन में अनेक नहीं आते। पुत्र, ससार में बल ही प्रधान है; धन-बल और जन-बल। तुम मद्र गण के राजा गणपति की कृपा की उपेक्षा कर वृद्ध देव शर्मा की कृपा पर निर्भर रहना चाहते हो? पुत्र, तुम नीतिवान हो, विचार करो, यवन गणपति की पौत्री से विवाह कर तुम अनायास, बिना किसी विरोध के महाकुलीन सामन्त बन जाओगे परन्तु देव शर्मा की प्रपौत्री से विवाह की इच्छा करने पर, उदार देव शर्मा के आपत्ति न करने पर भी, सम्पूर्ण द्विज समाज को अपना शत्रु बना लोगे। द्विजवर्ग की सत्ता, इतर जन की हीनता और इतर जन से सेवा प्राप्त करने के अधिकार पर आश्रित है। इतर जन को अपने समान बना लेने पर उनका विशेष अधिकार क्या रह जायगा? इतर जन का सशक्त होना उन्हें स्वीकार नहीं परन्तु समर्थ की सत्ता वे भी अस्वीकार नहीं कर सकते। हम किसी को शत्रु क्यों बनायें? पुत्र, हमें शत्रुओं की नहीं, मित्रों और सहायकों की आवश्यकता है।”

अनुमोदन की आशा में श्रेष्ठी क्षण भर पुत्र की ओर देखते रहे। उसे पुनः मूक विरोध में सिर झुकाये देख उनका स्वर आर्द्र हो गया—“पुत्र, एक दास की

स्थिति से उठ कर मैं इस अवस्था में पहुँचा हूँ कि मेरा पुत्र सेनापति बन कर महासेनापति बनने की आशा कर सकता है। पुत्र, सामर्थ्य और अधिकार की चरम सीमा यही नहीं है। द्रव्य और वैभव का उपयोग केवल क्षुद्र भोग में नहीं, उससे प्राप्त शक्ति में है। पुत्र, प्रधान सुख शक्ति का भोग है। पुत्र, अवसर है कि तुम मद्र के गणपति का विश्वास प्राप्त कर, सामन्त पद का अधिकार पाकर अपने द्रव्य से मद्र की रक्षा के लिये एक सेना रख सकते हो। वह सेना तुम्हारी शक्ति होगी। तुम मद्र गणराज्य का रूप बदल सकोगे। मैं तुम्हें परमभट्टारक, मद्र के गणपति के आसन पर देखना चाहता हूँ, मद्र के छत्रपति राजा के आसन पर देखना चाहता हूँ। यदि मगध में क्षुद्र मौर्य वंश का राज्य स्थापित हो सकता था तो मद्र में प्रेस्थ वंश का राज्य क्यों नहीं स्थापित हो सकता !”

प्रेस्थ पुत्र की ओर दृष्टि लगाये मौन बैठे रहे। पृथुमेन हथेली पर ठोड़ी टिकाये अवाक् रहा। पिता ने उसे कल्पना और महत्वाकांक्षा के अनुकूल सागर की तरंगों में धकेल कर छोड़ दिया। इस विस्तार में पृथुमेन का मस्तिष्क चकरा रहा था। उसकी निजी अनुभूति के विपरीत उस प्रवाह की गति अति प्रबल थी। वह किसी प्रकार सिर उठा कर श्वास ले पाने का यत्न कर रहा था।

श्रेष्ठी ने सिर झुकाये उपधान के सहारे करबट ली। पृथुमेन ने समझा, पिता उठने का विचार कर रहे हैं। अपना मौन, स्वीकृति का सकेत समझे जाने की आशंका से उसने सिर झुकाये ही साहस किया—“परन्तु तात, मैं दिव्या से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। मैं उसे पत्नी रूप में ग्रहण कर चुका हूँ। यह विश्वासघात होगा।”

वृद्ध की भूकुटि अधिक गहरी होकर उनके नेत्रों पर झुक आयी और मुख पर और नेत्रों में विद्रूप की मुस्कराहट गहरी हो गयी—“पुत्र, यह विश्वासघात नहीं। कालान्तर में तुम चाहो तो धर्मस्थ देव शर्मा की प्रपौत्री से भी विवाह कर सकते हो। समर्थ पुरुष को अनेक स्त्रियों और विवाहों की आवश्यकता होती है परन्तु इस समय नहीं। तुमने उसे छलने के विचार से प्रतिज्ञा नहीं की। जिस परिस्थिति में तुमने यह विचार और प्रतिज्ञा की थी, वह अब नहीं है। प्रतिज्ञा की परिस्थिति बदल जाने से प्रतिज्ञा का आधार नहीं रहता। उस समय देव शर्मा की कन्या से विवाह ही उचित लक्ष्य था। अब उससे अधिक श्रेय मार्ग सम्मुख है। भविष्य में तुम्हारी सफलता गणपति की कन्या से विवाह करने में ही है।”

सिर झुकाये पृथुमेन का मौन अस्वीकृति का भाव जान कर महाश्रेष्ठी पुनः आग्रह स्वर में बोले—“पुत्र, तुम मेरे सम्पूर्ण जीवन के प्रयत्नों को, अपने वंश के

कर उसे निगल जाना चाहती थी। कौन चमत्कार इस समय उसकी रक्षा कर सकेगा ? पृथुसेन की सन्तान धारण करने के लिये ही पृथुसेन से उसका विवाह होगा—फिर वही विषय अब इतना प्राणान्त क्यों बन गया ?

दिव्या निरन्तर अत्यन्त शिथिल होकर कक्ष में पर्यंक पर लेटी रहती। महादेवी उसके स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित होने लगीं। धाता को उन्होंने दिव्या की विशेष परिचर्या में नियत कर दिया और उससे प्रायः उस विषय में जिज्ञासा करती रहती। धाता और छाया आशंकामय परिस्थिति की गुरुता जान कर भी दिव्या के प्रति अनुराग के कारण, महादेवी के सम्मुख तथा अन्य कक्षों में कुमारी के केवल साधारण अस्वास्थ्य की ही बात कहतीं। छाया अपने प्रेमी बाहुल को दाब के युद्ध में खोकर विरह-व्यथिता और वंचिता स्वामिनी के प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो उठी थी। वह पूर्ण रूप से दिव्या की छाया ही बन गयी। वह स्वामिनी के पर्यंक से दूर न होती। रात्रि अधिक बीत जाने पर भी जब वह निश्चय न कर पाती कि दिव्या निद्रागत है अथवा चिन्ताग्रस्त हो मौन पड़ी है, वह पल-पल स्वामिनी की ओर देखती पर्यंक के स्थूण का सहारा लिये ही सो जाती।

दासी आस्सा महादेवी के आदेश से नित्य कुमारी के स्वास्थ्य-संकल्प के लिये नैवेद्य लेकर प्रजापति के देवस्थान और धातु चैत्य जाती थी। उससे पाये अनेक समाचार छाया दिव्या को सुनाती। आस्सा ने कहा था—जैसे धर्मस्थ के प्रासाद से कुमारी के स्वास्थ्य-संकल्प का नैवेद्य प्रजापति के देवस्थान और धातु चैत्य में जाता है; उसी प्रकार आर्य पृथुसेन के स्वास्थ्य-संकल्प के लिये प्रेस्थ प्रासाद से भी नैवेद्य जाता है और सुना है कि गणपति के प्रासाद से भी।

उत्साह से छाया ने समाचार दिया—“आर्य अब स्वस्थ हैं।”

दिव्या छाया के उत्साह का अंश न पा सकी। गणपति के प्रासाद से पृथुसेन के स्वास्थ्य-संकल्प के लिये नैवेद्य जाने के समाचार से वह दूसरी ही कल्पना में व्यस्त हो गयी। उसे पृथुसेन के पर्यंक के समीप सीरो का गृहस्वामिनी के अधिकार से धृष्टतापूर्ण व्यवहार नेत्रों के सम्मुख दिखाई देने लगा।

दिव्या ने छाया से आस्सा द्वारा पाये, गणपति की पौत्री और पृथुसेन के एक शिविका पर आरुढ़ होकर मल्लिका-प्रासाद, पुष्करणी और गणपति के प्रासाद में जाने के वृत्तान्त भी सुने। उसका मन चिन्ता के गहरे कूप में उतर गया। वह सोचती, आर्य को क्या हो गया ? वह अति कोमल और दुर्घर्ष, वह युद्ध का विजेता, वह आत्मसम्मान के लिये प्राणों पर खेल जाने के लिये तत्पर ! ...जो

मेरे बिना जीवन निरर्थक समझ रहा था, मुझे पा लेने के आश्वासन से जो आम्लान-मुख समर में मृत्यु का आलिङ्गन करने चला गया था, उसे हो क्या गया ? ...क्या आर्य मुझे भूल ही गये ? क्या वह प्रणय और विकलता सब छल और प्रवंचना थी ? उसके लिये अब शरण कहाँ है ? यदि पृथ्वी फट कर उसे अपने गर्भ में आश्रय दे देती ! वह त्राण पाने के लिये उत्पन्न ही नहीं हुई, इसीलिये तो उसे जन्म देने वाली माँ भी उसे पृथ्वी पर छोड़ अन्तर्धान हो गयी । संसार भर में जिसे उसने अपना समझा, वही प्रवंचना कर रहा है । और आर्य रुद्रधीर वह स्वयं उसके अपने ही तात से निर्वासन का दण्ड पाकर दूर चला गया ।

मध्याह्न में नेत्र मूँदे विष्टर पर लेटी दिव्या को निद्रागत जान कर छाया कुछ समय के लिये महादेवी के कक्ष में अपनी माता की ओर चली गई थी । दुर्भाग्य का समाचार सुन वह तुरन्त ही दिव्या के कक्ष की ओर लौटी । दिव्या अब भी भित्ति की ओर मुख किये निश्चल लेटी थी । प्रतीक्षा छाया के लिये असह्य हो रही थी । भयंकर दुर्घटना से वह कुमारी को कैसे अज्ञान रहने दे ।

मन की दुविधा को वश करने के लिये कक्ष की सामग्री यथास्थान रखने के प्रयत्न में छाया के पांव की ठोकर से घातु का दीपस्तम्भ गिर कर कक्ष झंकार से गूँज उठा । आहट से दिव्या ने करवट लेकर उस ओर देखा । स्वामिनी की निद्रा में व्याघात के लिये विनीत स्वर में क्षमा मांग कर विष्टर के समीप आकर छाया ने भग्न स्वर में संवाद कहा—“आर्य पृथुसेन से गणपति की पौत्री के वाग्दान के उत्सव का निमंत्रण प्रासाद में आने से तात और महादेवी अपने-अपने कक्ष में अत्यन्त चिन्तित हैं । आर्य धृति शर्मा और विनय शर्मा में इस प्रसंग को ले कटु विवाद हो गया ...।”

दिव्या विष्टर पर निश्चल पड़ी छत की ओर दृष्टि लगाये रही । डेढ़ घड़ी तक वह उसी प्रकार पड़ी रही । छाया हृदय से उछल आये क्रन्दन को कण्ठ में दबाये, स्वामिनी की दृष्टि बचा कर आंसू पोंछ लेती और फिर स्वामिनी की ओर देखने लगती ।

छाया एक पहर रात बीत जाने पर दिव्या को सहारा देकर उसके पर्यंक पर ले गयी । हेमन्त के भीषण शीत में भी दिव्या को वस्त्रों की सुघ न थी । छाया ने दुकूल और अर्ध से उसके शरीर को भली-भांति ढंक दिया और पर्यंक की पाटी पर चिबुक रख कर समीप भूमि पर बैठ गयी ।

दिव्या के नेत्र सूखे थे परन्तु छाया के नेत्र निरन्तर आंसू बहाने और पोंछे

भविष्य को एक युवती के मोह में नष्ट कर देना चाहते हो ! महापण्डित चाणक्य ने कहा है, 'आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।' पुत्र, स्त्री भोग्य है। मतिभ्रम होने पर मोह में पुरुष स्त्री के लिये बलिदान होने लगता है। वत्स, ऐसी ही परिस्थिति में नीतिज्ञ, महत्वाकांक्षी और परलोककामी पुरुष के लिये नारी को पतन का द्वार कहते हैं।"

पृथुसेन उसी प्रकार निश्चल मौन बैठा रहा। क्षण भर चिन्तामग्न रह कर वृद्ध ने पुनः पुत्र को सम्बोधन किया—“पुत्र, मुझे विश्वास है तुम मेरे सम्मान और अपने भविष्य की रक्षा करोगे। गत पूर्णिमा के अवसर पर सामन्त कार्तवीर के प्रासाद में मल्लिका के नृत्य के समय धर्मस्थ देव शर्मा ने तुम्हारे स्वास्थ्य के विषय में कुशल-क्षेम पूछ कर तुम्हारे और दिव्या के अनुराग का उल्लेख किया था। उस समय मैंने धर्मस्थ को उत्तर दिया था—अपने कुल और वंश के विचार से अपने पुत्र के लिये द्विज परिवार की कन्या की कामना करके मैं सदा मद्र के द्विजवर्ग के कोप का भाजन बनने का साहस न करूंगा। इस समय गणपति की पौत्री सीरो और पृथुसेन में विशेष अनुराग है। उस सम्बन्ध में वर्ण विचार बाधक नहीं। मैं गणपति के सम्मुख पृथुसेन के लिये उनकी पौत्री के पाणि का प्राथी हूँ।”

पृथुसेन की ग्रीवा और अधिक झुक गयी। पिता की ओर न देख वह सिर उपधान पर रख कर करवट से लेट गया।

पृथुसेन का शरीर शीघ्र पूर्णतः स्वस्थ हो गया परन्तु मन उसका अत्यन्त खिन्न रहता। वह कभी बाहर चतुश्शाल में और कभी अन्तःपुर के प्रासाद में अन्यमनस्क सा बैठा रहता। सीरो के आने पर भी वह विशेष उत्साह प्रकट न कर पाता। सीरो वीर पृथुसेन की गम्भीरता पर मुग्ध थी। सीरो के विशेष आग्रह से केवल एक बार वह मल्लिका प्रासाद में और एक बार गणपति के प्रासाद में उसके साथ शिविका पर गया। उसके मन में निरन्तर एक ही समस्या थी—सीरो से विवाह करके भी वह दिव्या को पा सके।

गम्भीर विचार और दृढ़ निश्चय से मन को वश कर पृथुसेन सीरो के प्रति अनुराग और उत्साह दिखाने लगा। एक दिन उसने भावावेश की अवस्था में सीरो को अंक में लेकर उससे दिव्या को सपत्नी के रूप में स्वीकार करने का अनुरोध किया।

सीरो नागिन की भांति फुंकार कर दूर जा खड़ी हुयी। उसके स्फूर्त रक्त

ओष्ठ फड़फड़ा उठे और नेत्रों से क्रोध के ऊष्ण अश्रु बह आये ।

इसके पश्चात् सीरो ने पृथुसेन के कंधे के आश्रय बैठ कर आँसुओं से नेत्रों का काजल बहाते हुये, जम्बू द्वीप के आर्यों की कुत्सित बहु-पत्नी प्रथा के प्रति घृणा प्रकट की—आर्यों में स्त्री केवल भोग्य सम्पत्ति और दासी है । वह तो अपने प्रियतम को किसी के साथ बंटा नहीं सकती । वह तो अपने प्रियतम के हृदय की एकछत्र रानी और अन्तःपुर की एकमात्र स्वामिनी बनेगी ।

पिता के तर्क को उचित मानने के कारण साच-सोच कर पृथुसेन के लिये स्त्री नीरस विषय और जीवनपथ की अरोचक बाधा मात्र बन गयी । वह अपने असाधारण-बुद्धि और दूरदर्शी पिता के निर्देश से मन को जीवन के संघर्ष के लिये सन्नद्ध कर रहा था । अपने आप को सीरो की प्रणय क्रीड़ा का कन्दुक अनुभव कर उसे स्त्रियों के प्रति अनुराग की कल्पना केवल विडम्बना मात्र जान पड़ने लगी । वह अपनी तुलना सम्पन्न और अभिजात वंशी परिवारों में कामुकता की साधन, विवश सुन्दर युवती दासियों से करने लगता ।

दिव्या पृथुसेन को भली-भाँति देखे बिना, उससे एक भी शब्द बोलने का अवसर न पाकर, विवश लौट कर हताश हो गयी । आशंका से वह सोचती—दो-अढ़ाई मास से पूर्व आर्य शैव्या से उठ न सकेंगे...मेरा क्या होगा ? पृथुसेन के विजयी होकर लौट आने से धर्मस्थ के अन्तःपुर में दिव्या के विवाह की बात एक अप्रिय अनिवार्य प्रसंग के रूप में उठने लगी थी । ऐसे समाचार छाया द्वारा दिव्या तक पहुँच जाते । विष्णु शर्मा और पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा के कक्ष में पृथुसेन की कुलीनता के सम्बन्ध में विवाद, महापितृव्य भृगु शर्मा की उदासीन तटस्थता, इस प्रसंग से महादेवी की विरक्ति, तात की अनुमति के कारण उनका उसे सह लेना । ऐसे विरोध और अपमान को दिव्या वरदान के रूप में अंगीकार करने के लिये विह्वल थी परन्तु पृथुसेन के रोग-शैव्या पर पड़े रहते क्या हो सकता था ।

विवाह की विधि से पृथुसेन को पाये बिना अपने शरीर में उपस्थित पृथुसेन के अंश की रक्षा वह विरोधी दृष्टियों से किस प्रकार करे ! उसके जीवन की सम्पूर्ण महत्वाकांक्षा और माधुर्य कलक और अपराध बना जा रहा था । विकल और विह्वल पृथुसेन को आश्रय देकर और उसे पाकर उसने गर्व और सन्तोष अनुभव किया था । उसको वह आत्मगरिमा ही अब उसके पाँव के नीचे अंधकूप बन

छाया श्वास रोके द्रुत गति से दिव्या के कक्ष की ओर लौटी। स्वामिनी अब भी उसी प्रकार गाढ़ निद्रा में शान्त और निश्चल थी। नियमित श्वास से उसके सुगोल वक्ष नियमित अन्तर से ऊपर नीचे हो रहे थे। नियमित और दीर्घ निश्वास नियमित अन्तर से सुनाई दे रहे थे। छाया ने उत्तेजना में पर्यंक का चक्कर लगाया और दिव्या के मुख की ओर देखती खड़ी रह गयी। स्वामिनी की निद्रा किस प्रकार भंग करे ? भयंकर आपत्ति से उसे अज्ञान कैसे रहने दे ?

छाया कुछ क्षण कक्ष के बाहर जाकर खड़ी रही। लौट कर निद्रागत स्वामिनी की ओर देखा और दोनों हाथों से अपना सिर थाम कर पर्यंक का आश्रय ले बैठ गयी। फिर स्वामिनी के मुख की ओर देखा। उठ कर फिर कुछ क्षण के लिये बाहर गयी। लौट कर फिर देखा। स्वामिनी के लिये जल, प्रक्षालन-पात्र और प्रौद्यन-वस्त्र पर्यंक के समीप लाकर रखा। स्वामिनी अब भी गूढ़ निद्रा में अचेत विश्राम पा रही थी। छाया के शरीर का रोम-रोम दुश्चिन्ता से कांप रहा था।

दिव्या ने नेत्र खोले। आपत्ति का प्रसंग छाया के मुख पर आकर रह गया, क्या कहे ? किस प्रकार कहे ? दुविधा में उसने मुख धोने के लिये जल से पूर्व प्रौद्यन-वस्त्र आगे बढ़ा दिया। कुछ कहने में असमर्थ छाया के नेत्रों से अश्रु टपकने लगे।

दिव्या के कारण पूछने पर छाया अत्यन्त अवश हो गई। जल का पात्र हाथ से छूट जाने की आशंका से उसे भूमि पर रख कर आंसू भरा मुख उत्तरीय में लपेट वह पर्यंक की पाटी पर सिर रख कर बैठ गयी। दिव्या के अनेक बार प्रश्न करने पर छाया ने उत्तरीय में लिपटा सिर पर्यंक पर टिकाये ही, उच्छ्वासों से भग्न स्वर में कठिनता से कहा—“मार्य मोक्षा के कक्ष में, सब देवियों और महा-देवी के सम्मुख आर्यो अमिता ने सबको सुनाकर कहा—कुमारी दिव्या का स्वास्थ्य क्या...समी लक्षण गर्भ के हैं !”

दिव्या के नेत्र काष्ठ की प्रतिमा की भांति अपलक खुले रह गये। मुख सहसा बहुत पीला और भाव-रहित हो गया। पर्यंक पर गिरने की आहट सुन कर छाया ने सिर उठा कर देखा, दिव्या एक ओर लुढ़क गई थी। उसने व्यग्रता से स्वामिनी को सम्भालने का यत्न किया। देखा—वह मूर्छित थी।

छाया की व्यग्रता ने उसके नेत्रों का जलप्रवाह रोक दिया। वह दिव्या के मुख पर शीतल जल के छींटे देकर, वस्त्र से वातास कर, उसके पांव के तलवे सहला कर उसे सचेत करने का यत्न कर रही थी। लगभग आधी घड़ी के

पश्चात् दिव्या ने नेत्र खोले । अपने शुष्क ओष्ठों को जिह्वा से सिक्त कर उसने जल माँगा ।

छाया ने अत्यन्त संयम से अपने आंसू वश में किये । वह अनेक बातों की ओर दिव्या का ध्यान आकर्षित कर उसे पुनः मूर्छा से बचाने के लिये सतर्क रही । दिव्या छाया की किसी बात का उत्तर न देकर शून्य, निष्फलकदृष्टि कभी कक्ष की छत की ओर, कभी भित्तियों की ओर और कभी द्वार से बाहर उद्यान की ओर लगाये थी ।

मध्याह्न से पूर्व दासी आस्सा कुमारी के लिये पथ्य लेकर उपस्थित हुयी । अत्यन्त अनुनय से छाया ने पथ्य का कुछ भाग लेने के लिये दिव्या को विवश किया । आस्सा के लौटते समय छाया ने उसे घाता को तुरन्त आने के लिये कुमारी का आदेश दिया ।

चौथे पहर सहसा टिप्पणी (शहनाई) और मृदंग के स्वर से सम्पूर्ण प्रासाद गूँज उठा । मुस्कराने का यत्न कर छाया ने कहा—“आर्यो मोक्षा ने सन्तान प्रसव की है ।”

उत्तर में दिव्या ने केवल दीर्घ निश्वास लिया । मन ही मन मन वह सोचने लगी—आर्यो मोक्षा का गर्भ परिवार के लिये उल्लास का कारण है और मेरा गर्भ कलंक का ! क्योंकि मेरे गर्भ का पिता नहीं ! अपने गर्भ को मैं उसके पिता के पास ले जाऊँगी । क्या प्रेस्थ प्रासाद में पृथुसेन से मेरा गर्भ इसी प्रकार विपत्ति और कलंक का कारण होता ! .. मेरा स्थान वहीं है ।

छाया को सम्बोधन कर उसने कहा—“अम्मा को बुलाओ । मैं प्रेस्थ प्रासाद जाऊँगी ।”

धर्मस्थ का प्रासाद नवसन्तान प्रसव के उत्साह और उल्लास में व्यस्त और व्यग्र था । धर्मस्थ और महादेवी मर्यान्तिक दुश्चिन्ता में अपने कक्षों में पड़े थे । उल्लास और दुश्चिन्ता के मिश्रण से फैली अव्यवस्था में दिव्या किसी से कहे-पूछे बिना, अपने कौमार्य के गर्भ की लज्जा को यथासम्भव कौशेय पट में छपेटे, शिविका पर बैठ कर, दासी घाता का साथ लेकर प्रेस्थप्रासाद की ओर चल पड़ी । सब विपत्तियों को सहने के लिये प्रस्तुत होकर वह मन ही मन देवताओं से अनुनय कर रही थी—केवल इस समय सीरो आर्य के प्रासाद में उपस्थित न हो ! शेष सम्पूर्ण आयु उसकी दासी बन कर चरण-सेवा के लिये प्रस्तुत रहना मुझे अस्वीकार न होना ।

जाने के कारण सूज कर लाल हो गये । उसकी ओर देख कर उपधान से सिर उठाये बिना ही दिव्या ने पुकारा—“छाया !”

बहुत समय पश्चात स्वामिनी के मुख से सम्बोधन सुन कर छाया की ग्रीवा उत्साह से उठ गई—“एक बार मैं आर्य से साक्षात्कार करूंगी ।” क्षीण स्वर में परन्तु निश्चय से दिव्या ने कहा ।

“भद्रे, गणपति की पौत्री ने निश्चय ही तांत्रिक द्वारा आर्य पर वशीकरण किया है ।” छाया स्वामिनी के समीप होकर नेत्रों में प्रतिहिंसा भरे रहस्य के स्वर में बोली, “भद्रे का आदेश हो तो तांत्रिक वैकुण्ठ पण्डित से गणपति की पौत्री के वशीकरण का उच्चाटन मंत्र और भद्रे के लिये वशीकरण कवच प्राप्त करूँ ।”

“हां छाया, जो भी सम्भव हो ।” निराशा से क्षीण स्वर में दिव्या ने कहा, “देव जाने आर्य को क्या हो गया है ? ... आर्य के लिये सीरो यदि उतनी ही काम्य हो गयी है तो भी वे मेरी अवज्ञा क्यों कर रहे हैं ? मैं सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूंगी । सभी कुलीन आर्यों के परिवार में अनेक पत्नियां हैं । क्या सीरो भी मेरे साथ आर्य की पत्नी नहीं बन सकती ? एक वृक्ष की छाया में अनेक प्राणी विश्राम पाते हैं ; गजराज की अनेक पत्नियां होती हैं ; उसी प्रकार आर्य की भुजा के आश्रय में हम दोनों ही रहेंगी ।” दिव्या मौन हो गई ।

दिव्या शरीर पर ओढ़ाये दुकूल और अर्घ से ऊष्णता अनुभव करने लगी । उसने वस्त्रों को सहसा शरीर से परे हटा दिया । तुरन्त वस्त्र पुनः उसके शरीर पर खींच कर छाया ने अनुनय की—“भद्रे, अत्यन्त शीतल हिमवात गवाक्ष से आ रहा है, शरीर कष्ट पायेगा ।” छाया दिव्या के ऊष्णता से तपते पांव उछाड़ कर उसका शेष शरीर वस्त्रों से ढंके रही ।

दिव्या ने ऊष्णता के क्षोभ से सिर के केशों को उपधान पर फैला पुनः छाया को पुकारा—“आर्य के प्रासाद में बीसियों दासियां अनेक सेवा कार्यों के लिये हैं क्या मेरे लिये वहां स्थान नहीं है ?”

उत्तर देना छाया के लिये सम्भव न रहा । मुख और नेत्रों पर उत्तरीय दबा कर वह पर्यंक के स्थूण के आश्रय सिर घुटनों पर टिका कर बैठ गयी । क्रन्दन के उच्छ्वास से उसका हृदय बाहर आ जाना चाहता था । बहुत समय तक किसी प्रकार अपने आपको बश कर उसने पुनः स्वामिनी की ओर देखा । दिव्या मौन पड़ी थी । अपने आंसुओं और सिसकियों से स्वामिनी को क्षुब्ध करने की आशंका के कारण वह उसके मुख के समीप जाकर देख न पाई कि

दिव्या निद्रागत है या जाग रही है। रात्रि के तीसरे पहर तक इसी दुविधा में कभी उठते कभी बैठते उसे नींद का झोंका आ गया। अत्यन्त शीत के कारण शरीर को घुटनों और कोढ़नियों में समेटे वह स्वामिनी के पर्यंक के नीचे उस के स्नेह-रज्जु से बंधे कुत्ते की भांति पड़ी रही।

निद्रा भंग होने पर छाया ने देखा घाम फैल चुका था। विलम्ब तक सोने की लज्जा से यह वस्त्रों को संभाल कर उठ खड़ी हुयी। हेमन्त के तुहिन आवृत्त सूर्य की सुखद रंगीन किरणें गवाक्ष से आकर दिव्या के पीत मुख पर पड़ रही थीं। वह गाढ़ निद्रा में थी। उसका श्वास सम गति से चल रहा था। स्वामिनी की निद्रा भंग होने की आशंका से आहट न कर छाया कक्ष से निकली। स्वामिनी की गत रात्रि की वेदना का वृत्तान्त मां घात्री से कहने वह अन्तःपुर के उद्यान के उस पार आर्य धृति शर्मा के कक्ष की ओर गयी।

आर्य धृति शर्मा की युवा पत्नी मोक्षा के प्रथम प्रसव की असुविधा के कारण अनुभवो घात्री निरन्तर उन्हीं की परिचर्या में थी। प्रभात की प्रथम किरणों में उद्यान की हरी घास और लता कुंजों पर ओस की बूंदें झलक रही थीं। उदास छाया को जान पड़ा, रात भर सम्पूर्ण प्रकृति भी उसकी स्वामिनी और उसकी भांति आंसू बहा कर अभी ही शान्त हुयी है।

आर्य मोक्षा की चिन्ताजनक अवस्था के कारण महादेवी और आर्य विष्णु शर्मा, भृगु शर्मा, विनय शर्मा, प्रबुद्ध शर्मा, आदि के कक्ष से आर्य अमिता, तारा, उमा आदि देवियां धृति शर्मा के कक्ष में एकत्र थीं। बाहर धृति शर्मा चिन्ता, की मुद्रा में विनय शर्मा से परामर्श कर रहे थे। भीतर पर्यंक पर पीड़ा से करा-हती आर्य मोक्षा को घात्री अपनी बाहों में संभाले थी। महादेवी दुकूल में शरीर लपेटे समीप ही पीठिका पर बैठी थीं। कुल वधुयें मोक्षा की पीड़ा से निरपेक्ष, प्रसूत के अवसर से उत्साहित परस्पर वार्तालाप में मग्न थीं।

छाया ने सुना आर्य अमिता सुविधा से सुने जाने योग्य रहस्य के स्वर में कह रही थीं—“कुमारी दिव्या के अस्वास्थ्य का क्या कहना; सभी लक्षण तो गर्भ के हैं!”

छाया महादेवी को प्रणाम करने के लिये उनके सम्मुख भूमि पर सिर टिकाये थी। आर्य अमिता के शब्द उसके कानों में गये; जैसे मस्तिष्क पर व्रजपात हो गया। नेत्र ऊपर उठा उसने देखा, महादेवी प्रणाम स्वीकार करने की सुध भूल वार्धक्य से निस्तेज नेत्र आर्य अमिता की ओर उठा कर ओंठ खोले रह गयीं।

“माताल ? कौन माताल...?” वृक ने ऊँचे स्वर में ललकारा, ‘यूथप वृक अभिजात कुलीनों की भांति सखाओं की संगति में उत्तम सुरा का पान कर कलावती वेश्याओं से रमण करता है।”

घाता का स्वर भय से विकृत हो गया, “माताल, कुलीन नारी के सम्मुख घृष्टता का परिणाम कठिन होगा।”

वृक ने अपने माताल साथियों सहित और आगे बढ़ कर अट्टहास किया—  
“हा-हा कुलीन ! धन सबसे बड़ा कुल है। महाश्रृंखला प्रेस्थ का कुल ! वक्ष पर शस्त्र प्रहार सहने वाले सेनापति पृथुसेन के सैनिकों को कौन अकुलीन कहता है ? ...नारी का कुल क्या ? उसे भोगने वाले पुरुष के कुल से नारी का कुल होता है ! दावं के कुलीन के हृदय पर पांव रख कर छौनी हुई शत स्वर्ण मुद्रा अभी शूर वृक की बसी में समाप्त नहीं हुई। वृक ने दावं की भय से कांपती महाकुलीन सुन्दरियों का भोग उनके रजत पर्यंकों पर किया है। कुलीन सुन्दरी ! बोलो, तुम्हारे सहवास का क्या मूल्य है ? यदि तुम वसुमित्रा और मल्लिका भी हो तो भी स्वर्ण का दण्ड तुम्हारे द्वार पर खड़े प्रतिहारियों के खड्ग को नत कर देगा। तुम स्वयं उसके सम्मुख विनीत प्रार्थिनी हो जाओगी। सुन्दरी, मेरे मुख से मेरय की कटु गंध नहीं, द्राक्षी की मधुर सुवास सूंघो जो तुम्हारे प्रसाधन उपचार से सुवासित शरीर के स्वेद के समान प्रिय है।

उन्माद में डगमगाते दूसरे माताल ने अपना सिर पीछे की ओर झुका कर किलकारी भरी—“हाय, हाय कुलीन सुन्दरी !” और होंठों से रस लेने का शब्द कर भूमि पर पांव पटकने लगा।

“आओ सुन्दरी ! सुख दो और धन लो !” वृक ने भुजा फैला कर निमंत्रण दिया।

घाता ने भय कंपित स्वर से पुनः पुकारा—“घृष्ट माताल, कुलीन वंश की कन्या के अपमान का फल अत्यन्त कठोर होगा !”

वृक के दाहिनी ओर खड़े शिथिल पद माताल ने आगे बढ़ कर अट्टहास से चीत्कार किया—‘कुलीन नारी !” और दूसरे माताल साथी की भांति शब्दों का रस जिह्वा से ओठों पर अनुभव कर, उन्माद से विलम्बित स्वर में उसने दोहराया, “यूथप वृक, कु-ली-न-नारी का लो-ल-गात !” और हाथ का मद्यकुतुप पुनः मुख से लगा लिया।

दिव्या का धैर्य शिथिल हो गया। मन का आतंक वश कर उसने अपने स्वर

को कठोर कर प्रतारणा की—‘सैनिको, इस धृष्टता का फल दारुण होगा !’

मदमत्त वृक शिविका की ओर बढ़ आया । हिसक पशु की भांति गुर्रा कर हाथ का कुतुप पथ पर पटक कर उसने उत्तर दिया—“नारी का यह अहंकार ? क्या मूल्य है तेरे अभिमान का ? तुझे अहंकार है कुलीन पुरुष की भोग्य होने का ? यूथपति वृक ने दार्व में कुलीन का सिर अपने पद से कुचला है ।” उसने अपना भारी यवन जूता शिला-मण्डित पथ पर पटका, “तुझे रजत के पर्यंक और कौशेय के विष्टरों पर कुलीन-धनी पुरुषों द्वारा भोगी जाने का गर्व है ? तेरी भांति अनेक शिविकारोही अभिमानी कामिनियों का मर्दन वृक ने अपने अंगों से किया ।” दांत किटकिटा कर, कमर से बोझल बसी खींच कर अधर में दिखाकर वृक ने ऊंचे स्वर में पुकारा, “मैं तेरे अहंकार का मूल्य दे सकता हूं ।”

वृक ने भुजा घुमा कर अपने साथी को आज्ञा दी—“वारण, शिविकारोही कुलीन सुन्दरी को यूथपति वृक की सेवा में उपस्थित करो ।”

शिविका पर बैठी दिव्या थर-थर कांप रही थी । धाता दोनों हाथ उठा कर शिविका के सम्मुख खड़ी होकर चीत्कार कर उठी—“आततायी ! आततायी ! नागरिको, रक्षा करो !” बाहूकों को उसने कुमारी की रक्षा के लिये ललकारा ! बाहक उतावलों में शिविका पथ पर टिका कर आगे बढ़े ।

सहसा समीप ही शिलामण्डित पथ पर द्रुत वेग से दौड़े आते अश्वों की टाप सुनाई दी । सम्मुख पथ के मोड़ पर शीघ्रता से बढ़ते प्रकाश की झलक दिखाई दी । क्षण भर पश्चात ही एक दीपदण्डधारी अश्वारोही सशस्त्र दास सहित आता दिखाई दिया ?

धाता पुकार उठी—“आयें रक्षा ! आततायी से धर्मस्थ की प्रपौत्री की रक्षा !”

कुलीन युवक के अश्व की वागुरा खिंच गयी । दूसरे अश्व भी सहसा रुक गये । तीनों माताल स्तम्भित रह गये । कटि से लटकी खड्ग खींच कर अपने अश्व को शिविका के सम्मुख कर युवक ने कहा—“महासामन्त सर्वार्थ वर्मा का पुत्र अजेय वर्मा कुमारी की सेवा में प्रस्तुत है । इस असमय, इस अशोभन स्थान में भद्रे का आगमन किस प्रकार हुआ ?”

आदर से मस्तक झुका कर धाता ने उत्तर दिया—“आयें, कुमारी एक सखी के निमंत्रण से लौट रही हैं । राजपथ के जमघट में विलम्ब से बचने के लिये शिविका निराले पथ से जा रही थी । माताछ आतताइयों ने मार्ग अवरोध

धर्मस्थ की प्रपौत्री की शिविका अनेक दिन पश्चात देखकर अन्तःपुर के द्वार की प्रहरी खड्गधारी यवनी ने आदर से मस्तक झुका कर निवेदन किया—  
“आर्य इस समय प्रमदोद्यान में गणपति की पौत्री आयुष्मती सीरो की संगति में हैं।”

दिव्या सूचना से किकर्तव्यविमूढ़ रह गयी। लौटने का अवसर न था। द्वार पर वह कब तक और कैसे प्रतीक्षा कर सकती थी? उसने आदेश दिया—  
“प्रतिहारी, आर्य को समाचार से अवगत करो।”

उत्तर की प्रतीक्षा में दिव्या आत्मविस्मृत सी शिविका पर बैठी रही।

प्रमदोद्यान से दासी द्वारा आया पृथुसेन का उत्तर यवनी ने निवेदन किया—  
“आर्य क्षमा निवेदन करते हैं। वे अस्वास्थ्य के कारण संगति लाभ करने में असमर्थ हैं।”

दिव्या के कानों ने उत्तर सुना परन्तु हृदय ने विश्वास न किया। वह मूक रह कर यवनी की ओर निष्पलक नेत्र लगाये रही; मानो अभी उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है परन्तु यवनी अपना कर्तव्य समाप्त कर चुकी थी। दिव्या को कुछ भी सूझ न पड़ रहा था। व्याप्त झंझावात में आशा के जिस दीपक को यत्न से आंचल में सम्भाले हुये वह मार्ग खोजती यहां तक पहुंची थी, उसे पृथुसेन के उत्तर के झोंके ने सहसा बुझा दिया। वह कुछ देख न पा रही थी।

अन्तःपुर के द्वार पर लगी दिव्या की भाव-शून्य दृष्टि देख कर अनुभवी धाता आशंकित हो गयी। उसने अमर्यादित व्यवहार की आशंका से शिविकावाहकों को शिविका लौटा ले चलने का आदेश दिया। शिविका पथ पर पहुंचने पर दिव्या को चेत हुआ। अपनी स्थिति के ज्ञान ने उसके दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बहा दी। अभिजातवंशीय कुमारी के राजपथ पर रोदन की अमर्यादा से भयभीत होकर घात्री ने शिविका के पट गिरा दिये।

पटों में ढंके जाने के अपमान ने दिव्या को उद्बोधित किया। सहसा उसे याद आ गया, प्रायः दो वर्ष पूर्व मधुपर्व के उत्सव की संध्या उसका सरस्वती-पुत्री का मुकुट धारण कर, अभिजातवंशीय कुमारों के कन्धों पर गर्व से शिविका-रूढ़ होना! ... वह कातर हो पट की शरण लेगी? नेत्रों से बहते आंसुओं की चिन्ता न कर उसने अपने हाथ से पट उठा दिये और उत्तरीय से नेत्र पोंछ कर मस्तक उठा लिया।

चतुर घाता ने वाहकों को अधिक प्रकाश से पूर्ण राजपथ छोड़ कर दूसरे

मार्ग से धर्मस्थ के प्रासाद की ओर बढ़ने का संकेत दिया। प्रकाशित समूह पण्यों, अट्टालिकाओं और जनसमूह से आकीर्ण मार्ग छोड़ कर शिविका निम्न श्रेणी से बमे, प्रकाशहीन पथ से चली जा रही थी। इस पथ पर व्यवसाय सूर्यास्त के समय ही स्थगित हो जाने से मार्ग प्रायः अन्धकारपूर्ण और निजंन था। शिविका के साथ दीपदण्ड न होने के कारण वाहक निश्चिन्त होकर शिथिल गति से पथ के मध्य में चलने वाले नागरिकों को 'वक्ष-वक्ष !' 'पार्श्व-पार्श्व !' कह कर सचेत करते जा रहे थे।

सहसा ललकार सुनाई दी—“कौन है हमें मार्ग से हटाने वाला ?”

अधियारे संकीर्ण पथ के बीचोंबीच अस्पष्ट सा दिखाई दिया कि एक पुरुष माथा ऊंचा किये और कन्धों को अकड़ाये मार्ग रोके खड़ा है। उसकी फँली हुई दाहिनी भुजा के हाथ में एक कुतुप थमा था और दूसरे हाथ की मुट्ठी से वह ललकार के भाव से अपनी छाती ठोक रहा था। उसके दोनों ओर भी दो पुरुष मध्य के कुतुप हाथ में लिये डगमगा रहे थे। उनमें से एक ने हास्य से ललकारा—“यूथप वृक, स...स्स...स्सुन्दरी ! शि...श्शि...श्शिविकारोही वेश्या !”

वाहक शक्ति होकर परस्पर कहने लगे—“माताल ! मातालों का दल... उपद्रव !”

धाता ने भी भय अनुभव किया परन्तु स्वर दृढ़ कर उसने प्रताड़ा—“अभिजात-वंशीय कुमारी को शिविका के लिये मार्ग छोड़ दो माताल !”

माताल स्त्री के स्वर से आकर्षित होकर मार्ग से हटने की अपेक्षा शिविका की ओर बढ़े। उन्माद से डगमगाते माताल ने पुनः उन्मुक्त हास्य का चीत्कार किया—“स...स्स...स्सखा वृक- स...स्स...स्सुन्दरी ! ह...हा...स...स्स स्स...स्सुन्दरी !”

वृक अपनी लम्बी मूछों को बायें हाथ से मरोड़ कर बोला—“यथेष्ट द्राक्षी का पान कर यूथप वृक तुम्हारी ही खोज में जा रहा था सुन्दरी ! शूर वृक के द्वयहीन होने पर तुमने उसे अपने सुखद अंक में स्थान देना अस्वीकार किया...”

दिव्या के शरीर में भय की सिहरन दौड़ गयी। धाता से अपना स्वर कठोर कर पुनः प्रतारणा की, “मातालो, अभिजातवंशीय कुमारी के लिये मार्ग छोड़ो।”

धाता की पुकार से आश्वासन पाकर दिव्या ने भी प्रताड़ा—“पथ छोड़ दो नागरिक !”

उसके लिये अम्यत्र शरण कहाँ ? उसे सब भोगेंगे ही । भय किस से नहीं ? क्या तात से भय नहीं ? महापितृव्य से भय नहीं ? वे मुझे आर्य रुद्रधीर को देना चाहते थे । मैंने स्वेच्छा से पृथुसेन को आत्मसमर्पण किया, उसका फल यह है । अम्मा क्या उपाय है ?”

घाता कुछ उत्तर न देकर दिव्या को अपने उमड़ते हृदय से लगाये मौन रोती रही । कण्ठ के आंसू निगल कर क्रन्दन से विकृत स्वर से उसने कहा— ‘बच्छे स्वामिनी, हिस्सों से पूर्ण इस ससार में तुम्हें अकेली कैसे जाने दूँ ? मेरी माणिक, दासी तेरे साथ रहेगी । कोमलांगी कन्या के लिये प्रसव कठिन समय होता है । बच्छे, दास की गति स्वामी के साथ है । मैं तेरी ही दासी हूँ । विपत्ति में तुझे छोड़ कर परलोक के लिये किस प्रकार पातक संवय करूँ ? मैंने जीवन और समाज देखा है, सुख-दुख देखा है, स्त्री-पुरुष देखे हैं, छल-छन्द देखा है । मेरी अबोध स्वामिनी, तेरी माता ने तुझे मुझे सौंपा था । तेरे कण्ठ में तेरी दासी अम्मा तुझे आंचल की ओट लिये तेरे साथ रहेगी ।”

दिव्या और अम्मा वमुमित्रा के उद्यान के अन्धकार में दो घड़ी मौन बैठी रहीं । चतुश्शाल में समाज विसर्जन होने के समय दिव्या और धात्री सिंहद्वार पर प्रतीक्षा करते शिविकावाहकों को छोड़ कर उद्यान के पृष्ठद्वार से निकल पुनः नगर की अंधियारी वीथियों में फिरने लगीं । शरीर के भार के कारण दिव्या के लिये निरंतर चलते जाना दूभर था । उसने नगर की किसी पान्थशाला में आकर विश्राम करने की इच्छा प्रकट की । घाता ने समझाया—“बच्छे, पुरुष साथ न होने से पान्थशाला आपत्तिजनक है । वहाँ राजपुरुषों की शंका का उत्तर देना होगा । शिविकावाहकों के रिक्त शिविका लेकर प्रासाद लौटने पर तुरन्त खोज होगी ।”

रात्रि का दूसरा प्रहर समाप्त हो रहा था । सब ओर अन्धकार था । केवल पथ के समीपवर्ती घरों के गवाक्षों और अलिन्दों से ही जहाँ-तहाँ प्रकाश पड़ रहा था । प्रकाश था तो मद्य के पण्यों और वेश्याओं के घरों के सम्मुख । दिव्या और घाता को प्रकाश में पहचाने जाने का भय था । अन्धकार में भी अज्ञात का भय था ; पुरुष का भय था । इस समय पथों पर केवल पुरुष ही थे, स्त्रियाँ न थीं । स्त्रियाँ थीं तो केवल वेश्याएँ । पुरुष भी ऐसे जिन से स्त्रियाँ

आशंकित होतीं । बीथी या पथ के किसी स्थान पर बैठना या खड़े होना सन्देह का कारण था ।

घाता और दिव्या शिथिल पदों से इस बीथी से उस बीथी और उस पथ से इस पथ पर घूम रही थी । भयंकर शीत में भी अत्यन्त श्रान्ति के कारण दिव्या के वस्त्रों के नीचे स्वेद की धारा बह रही थी । कभी वायु सम्मुख होने पर वह ठिठुर कर कांपने लगती । वे आश्रय खोज रही थीं परन्तु जानती न थीं, आश्रय कहाँ है और वह कैसा होगा !

लक्ष्यहीन चलते-चलते दिव्या और धात्री दूसरी बार वेश्याओं के मार्ग पर निकलीं । वहाँ मद्य और खाद्य के पण्यों पर अब भी पर्याप्त प्रकाश और कोलाहल था । भवनों के दूसरे खण्ड पर वेश्याओं के अलिन्दों में जलते दीपों का प्रकाश मार्ग पर पड़ रहा था । उन दीपों के समीप, प्रकाश मुख पर लिये, पुष्पों से केश गूँथे, मुख और होंठ रगे अनेक वेश्याएं बैठी थीं । वे मार्ग पर आने-जाने वाले पुष्पों का ध्यान संकेत से आकर्षित कर रही थीं । अनेक अलिन्दों से वीणा, वंशी और मुरज के स्वर सुनाई दे रहे थे ।

मार्ग पर भी वेश्याएं गले में पुष्पहार पहने और ओठों पर ताम्बूल और नेत्रों में मद की लाली और मुख पर उद्दीपन और उन्माद का भाव लिये पुष्पों को आमंत्रित कर रही थीं । अनेक अपने ग्राहकों के बाहु का आश्रय लिये मार्ग पर घूम रही थीं । घाता ने दिव्या के कान के समीप मुख ले जाकर कहा— 'वेश्याओं का स्थान है, यहाँ से शीघ्र चली चलो !'

संकोच अथवा आशंका प्रकट न कर दिव्या ने उत्तर दिया—“अम्मा, अधिक चला नहीं जाता । कहीं विश्राम करें ।”

एक आपानक के समीप से जाते समय पान में रत किसी पुरुष ने उन्हें परिहास के संकेत से पुकारा । अपनी पुकार की उपेक्षा से उस पुरुष ने आगे बढ़ घाता के कंधे पर हाथ रख कर प्रश्न किया—“मौसी, मौसी, इतने उत्सुक रसिकों की अवज्ञा कर इस सुन्दरी को किस भागवान के प्रयोजन से लिये जा रही हो ?”

कुछ घड़ी पूर्व शिविकारूढ़ रहने और रक्षार्थ शिविकावाहकों के उपस्थित होने पर भी दिव्या ने माताल वृक की ललकार से आशंका अनुभव की थी । इस समय पथ पर निराश्रय होकर उसने घाता से पूर्व ही निःशंक स्वर में उत्तर दिया—“नागरिक, हम वेश्या नहीं हैं । हम विदेशी हैं । पान्थशाला का मार्ग भूल गयी हैं ।”

कर लिया ।”

अजेय वर्मा ने क्रोध से मातालों की ओर देखा । वृक के दोनों साथी भय से कांप रहे थे । वृक भाग जाने की चेष्टा में अश्वारोही सशस्त्र दास द्वारा रोक लिया गया । वृक का सैनिक वेश देख कर अजेय वर्मा क्रोध से ओंठ काट कर बोला—“विजयी बलाधिकृत दास पृथुसेन के सैनिकों के अतिरिक्त यह दुस्साहस कौन करेगा ?”

तीनों मातालों को बन्दी बना कर राजपुरुषों को सौंपने का आदेश सशस्त्र दास को देकर अजेय वर्मा ने दीपदण्डधारी दास को महापण्डित धर्मस्थ के प्रासाद का मार्ग दिखाने का आदेश दिया । वह स्वयं शिविका के पार्श्व में चला । दिव्या के प्रति सहानुभूति में वह अपना असंतोष प्रकट कर रहा था—“अकुलीनों का उत्साह बढ़ा कर उन्हें कुलीनों का पद देने का परिणाम अभी और क्या होगा ? सम्भवतः हमें अपने प्रासादों से निकाले जाकर, उनके कंधे से कंधा मिलाकर पण्यों में अपना अस्तित्व भी खो देना होगा ।”

शिविका के कुछ पद आगे बढ़ने पर दिव्या ने निवेदन किया—“आर्य की अत्यन्त सामयिक कृपा के लिये अनेक धन्यवाद । आर्य कष्ट न करें । देवी वसुमित्रा को दिये वचन के अनुसार कुछ क्षण के लिये मुझे उनके चतुश्शाल में उपस्थित होना आवश्यक है । इस कारण भी इस मार्ग का अवलम्बन किया था । देवी वसुमित्रा के प्रासाद से दीपदण्ड का प्रबन्ध सुविधा से हो सकेगा और मार्ग भी प्रशस्त है ।”

धाता ने विस्मय से दिव्या की ओर देखा परन्तु उसकी बात में योग दिया—“देवी वसुमित्रा के प्रासाद में कुमारी की प्रतीक्षा है । आर्य को दासी का प्रणाम ।”

अजेय वर्मा के आदेश से दीपदण्डधारी दास ने मार्ग बदल दिया । वसुमित्रा के प्रासाद के अनेक दीपों से प्रकाशित सिंहद्वार के तोरण के नीचे पहुंच कर आर्य अजेय वर्मा कुमारी का नमस्कार आदर से ग्रहण कर अपने मार्ग पर विदा हो गया ।

दिव्या ने वसुमित्रा के सिंहद्वार पर शिविका छोड़ कर उद्यान में प्रवेश किया । धाता स्वामिनी का अभिप्राय न समझ कर मूक तत्परता में पीछे-पीछे चली । द्वार से चतुश्शाल की ओर न जाकर दिव्या अंधकारमय उद्यान में एक

घने कुंज में जाकर पृथ्वी पर बैठ गयी। धाता को सम्मुख देख उसने सम्बोधन किया—“अम्मा, तुम जाओ। शिविका सहित प्रासाद लौट जाओ। मेरे लिये अब प्रासाद में स्थान नहीं। आर्य पृथुसेन के यहां भी स्थान नहीं। मैं बचिता हूं, किकर्तव्यविमूढ़ हूं। नहीं जानती, कहां स्थान पाऊंगी। पथ पर, वीथियों में, वन के वृक्षों के नीचे अथवा आपगा के जल में! अम्मा, आओ! तुमने सन्तान की भांति अपने स्तन से मेरा पालन किया। माता पुत्री को पति के घर के लिये विदा देती है, वैसे ही मुझे विदा दो। मेरे पति ने मेरी वंचना की है। अब प्रपितामह और किसी के यहां मेरे लिये स्थान नहीं।...कह नहीं सकती कहां जाऊंगी।”

धाता के नेत्रों से आंसू उमड़ पड़े। अपना स्तन मुख में देकर हृदय पर रख कर पाली हुयी दिव्या, स्वामिनी होकर भी उस असहाय अवस्था में उसकी अपनी बेटी के ही समान हृदय का अंग हो उठी। समीप ही भूमि पर बैठ कर दिव्या को अंक में लेकर धाता ने अश्रु-अवरुद्ध कण्ठ से कहा—“बच्छे, क्या कह रही हो? ...मैं तुम्हें कैसे छोड़ जाऊं? तुम कहां जाओगी?”

दिव्या के नेत्र सूखे रहे, स्वर भी संघत रहा—“अम्मा, विवाह बिना गर्भ धारण कर मैं तात के प्रासाद में किस प्रकार रह सकती हूं? जिस का गर्भ है, उसी के यहां स्थान नहीं तो कहां स्थान होगा? जहां मेरा गर्भ है, वहीं मैं हूं। कहीं भी स्थान न पाने पर दासी कर्म कर, अपने आप को बिक्री कर उदर के प्राणी की रक्षा करूंगी। देव की जो इच्छा हो.....!”

“क्या कहती हो बच्छे?” अपने आंसुओं से दिव्या के केश भिगो कर उसे बलपूर्वक आलिगन में समेट कर धाता ने कहा, “तुम पथ-वीथी में जीवन बिताओगी? ...तुम दास्य करोगी? .....मेरे माणिक, जिस ने हाथ से कभी काण्ठ स्पर्श नहीं किया, चरण से रज का स्पर्श नहीं किया, घाम नहीं देखा, शीत नहीं देखा। मेरी माणिक, तुम वीथी में, निर्जन वन में जीवन बिताओगी? तात, आततायियों और निष्ठुर हिंस्रों से पूर्ण इस समाज में तुम अकेली...”

“अम्मा उपाय क्या है?” दिव्या ने पूछा, “किस से भय है? ...भय किस से नहीं है? माताल वृक से भय है? पृथुसेन से भय नहीं किया था, क्या हुआ! वृक से भय किस कारण? नारी है क्या? माताल वृक ठीक ही कहता है, अम्मा! कठोर धीर रुद्धधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक; नारी के लिये सब समान हैं। जो भोग्या बनने के लिये उत्पन्न हुई है,

उस मद्यप के पीछे और भी पुरुष मद्य के पण्य से उठ आये। उसी समय समीप की वीथिका से निकल आयी एक वृद्धा ने धाता, दिव्या और मद्यपों के बीच होकर दोनों बाहु फँला कर विरोध में कहा—“वाह, कैसे भद्र हो तुम सागल के नागरिको ! तुम कुल-बधुओं और वेश्याओं में अन्तर नहीं जानते !”

मद्यप ने परिचय के स्वर में वृद्धा को सम्बोधन किया—“वाह ! मौसी जया, तुम बीच में क्यों बोलती हो ?”

“अरे, मैं बीच में बोल रही हूँ ? क्या कहते हो युवक !” विस्मय से आहत होने के भाव से दोनों हाथों की हथेलियाँ दिखा कर वृद्धा ने कहा, “मैं बीच में बोल रही हूँ ? मेरी बहिन की बेटियाँ वल्का से आयी हैं; उन्हें स्थान पर पहुँचाने जा रही हूँ। देखो तो, इन्हें पांव चलने का अभ्यास कहाँ है ? कैसे क्लान्त और विश्रो हो रही हैं।”

वृद्धा, धाता की पीठ और दिव्या के सिर पर स्नेह से हाथ फेरने लगी। युवकों को सम्बोधन कर उसने कहा—“तुम्हें वेश्याओं के यहां जाने का प्रयोजन है तो जाओ न ! वासा के यहां जाओ ! उसके यहां दो नवीन पर्वतीय आयी हैं। मद्य के प्रभाव से नेत्र क्यों मूढ़ रहे हो !”

“चलो बेटो, चलो !” वृद्धा ने धाता और दिव्या को आगे बढ़ने का संकेत किया।

कुछ पग आगे पथ के अन्धकारपूर्ण भाग में पहुँच कर वृद्धा चिन्तापूर्ण वात्सल्य के स्वर में बोली—“हाय हाय, देखो तो कैसे दुष्ट पुरुष हैं। यदि मैं देख न लेती ! चलते-चलते बेटियों के पांव शिथिल हो गये। पथ भूल गयीं तो क्या; पान्थशाला बहुत दूर है तो क्या; सूर्योदय होने पर पान्थशाला पहुँचा आऊंगी।”

धाता ने दिव्या का बाहु छूकर संकेत किया। दिव्या ने उसके मुख की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि उठायी परन्तु अन्धकार के कारण कुछ जान न पायी। वृद्धा कहती जा रही थी—“देवताओं का दिया तुम्हारा अपना घर है। सेट्ठी की भाँति अट्टालिका न सही परन्तु विश्राम के योग्य स्थान, भोजन, वस्त्र सब कुछ है। मेरी भी तुम्हारे जैसी बेटो है।”

धाता के पांव में दासी के चिह्न रूप लोहे का कड़ा पहचान कर वृद्धा ने उसे सम्बोधन किया—“आहा, तुम स्वामिनी की कितनी अनुगत हो। तुम निश्चय ही पुण्यात्मा हो।”

धाता ने उत्तर दिया—“मौसी, तुम अत्यन्त कृपालु हो परन्तु हम लोगों को

पाथशाला पहुंचना आवश्यक है। परिजन प्रतीक्षा से उद्विग्न होंगे....।”

दिव्या बोल उठी—“परन्तु अम्मा, मैं अत्यन्त श्रान्त हूं, चलना कठिन है !”

घाता ने पुनः उसकी बाहु दबा कर संकेत किया। अभिप्राय न समझ कर दिव्या पुनः उसके मुख की ओर देखने लगी।

परिस्थिति भाप कर वृद्धा दिव्या के सिर पर हाथ रख कर करुणा स्वर में बोली—“हाय-हाय, ठीक तो कहती है बेटी। इसकी अवस्था क्या चलने योग्य है ? यदि ऐसा ही है तो घर में आधी घड़ी भोजन-विश्राम करो। न होगा, बिटिया को पालकी में पाथशाला पहुंचा दूंगी। हां, अभी विलम्ब ही क्या हुआ है और ऐसा दूर भी क्या है !”

घाता विवश मौन रह गयी। वृद्धा कहती गयी—“और क्या, ऐसी सकट-बेला में कुलवधू क्या अज्ञात पुरुषों से भरे पथ पर जाती है ? बेटी, युवती को पुरुष से सदा आशंका है। इस वृद्धावस्था में भी निर्जन पथ पर पुरुष को देखकर मेरे रोम कांप जाते हैं। यह सागल नगरी युवतियों के लिये खीहड़ बन से अधिक भयानक है। यहां के छलिया पुरुष नारी-मांस के विकट आखेटक हैं। मैं तो जराकीर्ण हो गयी। अब अन्धकार मे पथ भी नहीं देख पाती....।”

घाता और दिव्या को लिये वृद्धा ने एक अंधियारी वीथी पार कर एक जीर्ण, साधारण भवन के सामने ठहर कर द्वार खटखटाया। कुछ क्षण में द्वार खुला। एक प्रौढ़ व्यक्ति दिखाई दिया। दिव्या और घाता सहित वृद्धा के प्रवेश कर लेने पर प्रौढ़ ने द्वार बन्द कर ताला लगा दिया। पीठ पीछे द्वार में ताला लगाया जाने से दिव्या और घाता दोनों की ही पीठ पर भय की सिहरन दौड़ गई।

ड्योढ़ी के सम्मुख आंगन और आंगन के आगे अलिन्द और कोठे थे। कोठों के द्वार मुंदे थे। अलिन्द के एक कोने में दीपक जल रहा था। दूसरे कोने में छोटे पर्यंक पर श्वेत विष्टर बिछा था। पर्यंक के समीप भूमि पर एक दास बालक शीत से सिमटा बैठा था। आंगन में पहुंच कर दीर्घ प्रवास के साथ दिव्या के मन में प्रश्न उठा—विश्राम के लिये आश्रय पाया या बन्धन ? उसने घात्री के नेत्रों की ओर देखा। वहां भी उसे भय और आशंका दिखाई दी।

प्रौढ़ गृहस्वामी की जिज्ञासु दृष्टि के उत्तर में वृद्धा ने कहा—‘देखो तो, मेरे अपने पेट की बैटी जैसी यह भद्र युवती, दासी सहित मार्ग भूल कर क्लेशित हो रही थी। देख कर मेरा हृदय उछल आया। माताल पुरुष भी कैसे होते हैं !

अस्तु, तुम इन्हें विश्राम के लिये आसन और क्षुधा-निवृत्ति के लिये कुछ जल-पान दो न ।”

प्रौढ़ पुरुष ने स्थिति जान कर हमी भरी और पर्यंक के विष्टर पर बैठ कर हाथों से ताली बजाई । समीप बैठे दास बालक का ध्यान आकर्षित होने पर प्रौढ़ ने भूमि पर बिछाने के संकेत से आसन और मुख की ओर हाथ कर खाद्य पदार्थ के लिये आदेश दिया । वृद्धा प्रौढ़ के सम्मुख भूमि पर अति निकट बैठ कर रहस्य के स्वर में उससे परामर्श करने लगी ।

कुछ क्षण पश्चात बालक काँख में चटाई और हाथ में काष्ठ का एक पात्र लिये लौटा । घाता ने बालक के हाथ से चटाई लेकर भूमि पर बिछा दी । दिव्या के बैठ जाने पर वह स्वयं समीप भूमि पर ही बैठ गयी । दिव्या ने उसे हाथ से समीप चटाई पर खींच कर अपने शरीर से चिमटा लिया । बालक ने भुने अन्न से भरा काष्ठ का पात्र उनके सम्मुख रख दिया था । पात्र हाथ से हटा कर घाता ने बालक से जल मांगा ।

ध्यान वृद्धा की बात की ओर होने पर भी प्रौढ़ ने घाता की बात सुन पुनः बालक का ध्यान आकर्षित कर उंगलियों से संकेत किया । बालक फिर आंगन के भीतरी द्वार से चला गया और क्षण पश्चात एक युवती के पीछे-पीछे लौटा ।

युवती सुन्दरी थी । आयु में प्रायः दिव्या की समवयस्का । वर्ण गोरा, कृष्ण दीर्घ नेत्रों और मुख पर चपलता और अधिकार का भाव । उसके कण्ठ और बाहु पर स्वर्ण के आभूषण थे । शीत से बचने के लिये वह अर्ध ओढ़ थी । घाता और दिव्या की ओर अर्धपूर्ण दृष्टि डाल कर उसने प्रौढ़ की ओर देखा ।

युवती की जिज्ञासा के उत्तर में कुछ शब्द दुर्बोध भाषा में बोल कर प्रौढ़ ने शेष बात सुलभ भाषा में कही—“अजना यह कुलवधू दासी सहित हमारी अतिथि है । इसके जलपान के लिये कुछ लाओ ।”

युवती अनुमति में ग्रीवा झुका कर पुनः आगन्तुकों की ओर देखती हुयी चली गयी । शीघ्र ही वह बालक के एक हाथ में काँसे के एक पात्र में भुना हुआ मांस और दूसरे हाथ में सुरा का कुतुप और पान-पात्र लिये उपस्थित हुयी ।

युवती दोनों वस्तुएँ दिव्या के सम्मुख रख कर बोली—“भद्रे, इस समय केवल यही शेष है । किंचित आहार और पान से श्रान्ति दूर होगी ।”

दिव्या के आहार के लिये अनिच्छा प्रकट करने पर घाता ने युवती से जल के लिये अनुरोध किया । युवती के संकेत से बालक पीतल के एक पात्र में जल

ले आया । अभ्यास न होने के कारण दिव्या ने भारी पात्र को तनिक असुविधा से थाम कर यथेष्ट जल पिया और शीत से कांप गयी ।

दिव्या को कुछ आहार न लेते देख कर वृद्धा ने आत्मीयता से आग्रह किया, “बेटी, कुछ तो खाओ न ! यह मांस अत्यन्त कोमल और स्वादु है, आम्रव अत्यन्त उत्तम है । इसके सेवन से मन स्वस्थ होगा । बेटी, संकोच न करो ! तुम्हाग अपना ही घर है ।”

वृद्धा कुछ समय तक दुर्बोध भाषा में प्रौढ़ से बात करता रही । उसके स्वर व्यग्रता के कारण ऊंचा हो गया । पर्यंक की पाटी का आश्रय लेकर वह असंतोष के भाव से उठ खड़ी हुयी और बड़बड़ाती हुई द्वार की ओर चल दी । प्रौढ़ भी उठा । वह वृद्धा को सान्त्वना दे रहा था । कटि पर अन्तरवासक की लपेट में से निकाल कर उसने एक स्वर्णमुद्रा वृद्धा के हाथ में दी ।

वृद्धा ने असंतोष से हाथ झटक दिया । कुटी हुई भूमि पर मुद्रा के गिरने की झंकार हुई । गिरी हुई मुद्रा उठा कर पुनः वृद्धा के हाथ में थमा कर प्रौढ़ दुर्बोध भाषा में उसे सान्त्वना देता हुआ वृद्धा को द्वार की ओर ले चला । वृद्धा के लिये उसने द्वार का ताला खोल कर मार्ग दिया और पुनः ताला लगा कर चाभी को कटि पर अपने अन्तरवासक की लपेट में खोस कर आंगन के द्वार से दूसरी ओर चला गया ।

शीत से सिमटा हुआ दास बालक अलिन्द के स्तम्भ से पीठ लगाये अपने दोनों दुर्बल काले जानुओं को बाहुओं में लपेटे, उन पर ठोढ़ी टिकाये निरन्तर उन दोनों की ओर देख रहा था । दृष्टि दूसरी ओर होने पर भी दिव्या को निरन्तर ताला लगा द्वार दिखाई दे रहा था । वह बन्धन और विवशता अनुभव कर रही थी । घाता ने उसके कान के समीप मुख ले जाकर अत्यन्त धीमे स्वर में कहा—“भद्रे, सद् गृहस्थ का निवास नहीं जान पड़ता ।”

“जो भी हो ।” दीर्घ निश्वास से दिव्या ने उत्तर दिया, “उपाय क्या है ?” अपना सिर उसने घाता के कंधे से लगा दिया ।

आंगन की कुटी हुई भूमि गोबर से लिपी थी और भित्तियां नीलापन लिये श्वेत मिट्टी से । अलिन्द में दीपाधार पर जलते दीप से आंगन की भूमि पर धीमा प्रकाश पड़ रहा था । भित्तियां आधी ऊंचाई तक प्रकाशित थीं । ऊपर का भाग अन्धकार में विलीन हो जाने से अन्धकारमय आकाश में जा मिला था । नेत्र प्रकाश में रहने के कारण खुले आकाश का अन्धकार और भी निबिड़ जान

पड़ रहा था। शीत से जमे वाष्प से भरे आकाश में तारे गहरे कुर्रों की तलहटी में हिलते जल की भांति झिलमिला रहे थे। दिव्या और घाता चिरकाल तक मौन बैठी अपने आपको अन्धकूप में बन्दी की भांति निस्सहाय और परवश अनुभव करने लगीं।

मन की क्षुब्ध स्थिति में दिव्या और घाता को आकाश के चिर-परिचित नक्षत्र भी अपरिचित और विचित्र जान पड़ रहे थे। दिव्या कुछ पल आकाश की ओर देखती और फिर जानु पर चिबुक टिका कर सोचने लगती—कहां आ गयी ? आगे क्या होगा ? प्रपितामह के प्रासाद में सब कुछ था परन्तु वहां पर अपराधिनी और कलंकिनी बन गयी। यदि वह अपराधिनी और कलंकिनी न बने तो वह भृत्या, दासी सभी कुछ बनने और सहने के लिये प्रस्तुत है। वह माता बन रही है, माता बन सके।

दिव्या को कल्पना में तात का प्रासाद दिखाई देने लगा। धृति शर्मा की पत्नी आर्ये मोक्षा के प्रथम गर्भ-प्रसव के उपलक्ष में सम्पूर्ण प्रासाद उल्लास से गूँज उठा है और वह स्वयं उसी अपराध के कारण निराश्रय हो कर गर्भ-रक्षा के लिये भाग रही है। उसने एक दीर्घ निश्वास लिया—हाय वंचक पृथुसेन ! सुख और गर्व का कारण गर्भ कलंक और अमार्जनीय अपराध बन गया। कल्पना में रक्ष और गम्भीर रुद्रधीर भी दिखायी दिया और अभद्र चारवाक मारिश भी। मारिश को वह स्तुति स्मरण हो आयी—भद्रे, तुम्हारी कला, तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार मात्र है; जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।

दिव्या का मन कटुता से भर गया—नारी के उस आकर्षण में, नारी में निहित सृष्टि की शक्ति में उसके लिये कितना अभिशाप अन्तर्निहित है... इस सब के लिये वह कब प्रस्तुत थी... परन्तु दैव की इच्छा ऐसी ही थी।

प्रौढ़ आंगन के भीतरी द्वार से लौटा। युवती उसके पीछे थी। “बेटो, यहां शीत में कण्ठ होगा,” प्रौढ़ ने दिव्या को सम्बोधन किया तथा हाथ बढ़ा कहा, “लाओ, यह तुम्हारे आभूषण सुरक्षित रख दूँ।”

दिव्या के नेत्र प्रौढ़ की ओर उठे। घाता ने भी उस ओर देखा। मुख से न कह कर दिव्या ने कण्ठ की मुक्तामालायें उतार कर प्रौढ़ के हाथ में दे दीं।

प्रौढ़ के साथ खड़ी युवती अपना कौतूहल वश में न कर सकी। उसने मालायें प्रौढ़ के हाथ से झपट कर ले लीं और विस्मय से नेत्र फैला कर उन्हें दीपक के समीप ले जाकर देखने लगी। प्रौढ़ ने उस ओर ध्यान न देकर दिव्या

के बाह्रमूल की ओर संकेत कर कहा—“बेटी, यह अंगद भी।”

दिव्या ने अपना बाहु घाता की ओर बढ़ा दिया। घाता ने विवशता से कांपती उंगलियों से रत्नजटित अंगद के बन्धन खोल कर अंगद भी प्रौढ़ के फेले हुये हाथ पर रख दिया। युवती ने वह भी झपट लिया। प्रौढ़ ने अपनी बात दोहरायी—“बेटी, यहां आकाश के तले शीत में भूमि पर कष्ट होगा। आओ, कक्ष में विश्राम करो।”

दिव्या और घाता प्रौढ़ के संकेत से उठ कर उसके पीछे-पीछे आंगन के द्वार से चलीं।

दिव्या और घाता एक अधिक विस्तृत आंगन में पहुंचीं। आंगन के चारों ओर अनेक कक्षों के मुँदे हुये कपाट भित्तियों में दिखाई दे रहे थे। दक्षिण के कोने की ओर एक प्रकाशित कक्ष के अतिरिक्त सब ओर गहरा अन्धकार था। प्रौढ़ इसी दिशा में घाता और दिव्या के आगे-आगे चला। कक्ष का द्वार खुला था। प्रकाशित कक्ष के समीप द्वार के बाहर एक व्यक्ति प्रहरी के से मलिन वेश में, कमर में खड्ग और हाथ में कोड़ा लिये खड़ा था। तीन पुरुष कक्ष से निकले जीर्ण, मलिन और अपर्याप्त वस्त्रों में शीत से सिमटते वे दास से जान पड़ते थे। प्रहरी उन तीनों को दूसरी ओर ले गया।

मूक बालक कांख में चटाई लिये और हाथों में दीपक सम्भाले शनैः-शनैः उनके पीछे-पीछे चला आ रहा था। प्रौढ़ के संकेत से बालक ने दीपक कक्ष के कोने में रख कर चटाई भूमि पर बिछा दी। वृद्ध ने दिव्या की पीठ पर हाथ रख कर उसे भीतर जाने का संकेत किया—“बेटी, यहां शीत से कष्ट न होगा, विश्राम करो।”

घाता भी कक्ष में जा रही थी परन्तु प्रौढ़ ने अपने बाहु से द्वार रोक कर कहा—“तुम्हारे लिये अन्यत्र स्थान है।”

दिव्या ने बिलख कर प्रार्थना की—“अम्मा को यहीं आने दो।” परन्तु कक्ष के द्वार बन्द हो गये। दिव्या ने बाहर द्वार पर ताला लगा देने का शब्द सुना।

कक्ष में दिव्या और बाहर घाता के कण्ठों में चीत्कार उठा परन्तु स्वयं ही उसकी व्यर्थता अनुभव हो जाने से वह निःशब्द श्वास में बह गया। उसे कौन सुनता? दोनों के नेत्रों से विवशता के अश्रु बहते रहे।



## तात धर्मस्थ

प्रहर रात्रि बगेत जाने पर वसुमित्रा के चतुश्शाल में समाज का अन्त हुआ । अभ्यागत अपने रथों, अश्वों और शिविकाओं पर आरूढ़ होकर अपने-अपने स्थानों की ओर चले गये । धर्मस्थ की प्रपौत्री दिव्या की शिविका के वाहक भी दूसरे अभ्यागतों को विदा होते देख कर आलस्य छोड़, कुमारी के प्रासाद से लौटने की प्रतीक्षा में उठ खड़े हुये । दिव्या और उसकी दासी धाता न लौटी । वसुमित्रा के प्रतिहारियों ने सिंहद्वार के तोरण का प्रकाश बुझा कर द्वार मूदने का आयोजन किया ।

दिव्या की शिविका के वाहकों ने प्रतिहारियों से धर्मस्थ की प्रपौत्री के न लौटने के विषय में जिज्ञासा की । कुमारी के चतुश्शाल अथवा उद्यान में कहीं भी न पाये जाने के समाचार से विक्षिप्त और अत्यन्त आंशकित होकर भय से कांपते हुये वाहक धर्मस्थ के प्रासाद में लौटे ।

कुमारी के विलम्ब तक न लौटने से अन्तःपुर में चिन्तित पितृव्यों और देवियों को वृद्ध दास तारुक द्वारा रिक्त शिविका आ जाने का समाचार मिला । आर्य प्रबुध्द शर्मा, विनय शर्मा, धृति शर्मा और अत में पण्डित विष्णु शर्मा आस्थानागार में पहुँचे । अनेक देवियाँ भी चिन्ता से आशंकित मुद्रा में साथ थीं । कुछ ही समय में तात धर्मस्थ, महादेवी और शिशुओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण परिवार आस्थानागार में एकत्र हो गया ।

आस्थानागार, चतुश्शाल, उद्यान और सिंहद्वार के भृत्यों, दासों आर प्रतिहारियों से पण्डित विष्णु शर्मा ने जाना कि सूर्यास्त से कुछ पल पूर्व कुमारी दिव्या दासी धाता सहित देवी मल्लिका अथवा वसुमित्रा के सगीत-समाज में सम्मिलित होने के लिये प्रासाद से शिविका पर गयी थीं । महादेवी के विक्षिप्त तथा अस्वस्थ

होने और शेष परिवार के नवजात सन्तान के उत्सव में व्यस्त होने के कारण कुमारी के लौटने में विलम्ब की सूचना निवेदित न की जा सकी ।

पण्डित विष्णु शर्मा ने तत्काल द्रुतगामी अश्वों के लिये आज्ञा दी । कुमारी की खोज में अश्वारोही नर्तकी वसुमित्रा, देवी मल्लिका, प्रेस्थ प्रासाद, सामन्त सर्वार्थ के प्रासाद आदि अनेक स्थानों की ओर सरपट दौड़ गये ।

शिविकावाहक और दासी धाता की पुत्री युवती दासी छाया, विष्णु शर्मा की आज्ञा से तत्काल बन्धन में ले लिये गये । चारों शिविकावाहकों को पृथक-पृथक ले जाकर, उन्हें पीड़ित कर रहस्य जानने का आदेश उन्होंने प्रतिहारियों को दिया । भृत्य, दास, दासियां, कचुकी पृथक-पृथक पंक्तियों में, अपने दोनों हाथ घुटनों के सम्मुख फैलाये बैठे भय से कांप रहे थे । सशस्त्र प्रहरी हाथ में कोड़े लिये उपस्थित थे । अनेक प्रासादों और भवनों में दासों के अनेक प्रकार के कठोर दण्डों और पीड़नों से परिचित होते हुये भी धर्मस्थ के प्रासाद में इस प्रकार के काण्ड की स्मृति किसी को न थी ।

एक घड़ी व्यतीत होने के पूर्व ही सभी स्थानों से अश्वारोही असफल लौट आये । क्षोभ और अवसाद की घटा गहरी हो गयी । शिविकावाहकों से कुछ भी रहस्य न पाकर विष्णु शर्मा ने प्रत्येक को काष्ठ-बद्ध करने की आज्ञा दी ।

दिव्या के साथ धाता की अनुपस्थिति के कारण पण्डित विष्णु शर्मा ने धाता की पुत्री छाया के अभिसन्धि में सम्मिलित होने की शंका की । उन्होंने कुल-वधुओं को अपने कक्षों में लौट जाने का आदेश दिया । स्त्रियों के चले जाने पर उन्होंने दो प्रतिहारियों, वक्कट और छवज को आज्ञा दी— ‘ दासी धाता की पुत्री छाया को विशेष पीड़ित कर रहस्य जाना जाय । ’

छाया ने आंसुओं से भीगा मुख पृथ्वी पर रख कर त्रस्त, कम्पित स्वर में गिड़गिड़ाते हुये अज्ञान प्रकट कर करुणा की भिक्षा मांगी । विष्णु शर्मा के संकेत से दोनों प्रहरी छाया को दोनों बाहुओं से उठा कर ले गये । जाते हुये प्रतिहारियों को विष्णु शर्मा ने पुनः आदेश दिया—“रहस्य प्रकट करने पर दासी को उपस्थित किया जाय ।”

अन्तःपुर की दासियों से उन्होंने जाना, दासी आस्सा भी मध्याह्न में कुमारी का पथ्य लेकर उनके कक्ष में गयी थी । दो प्रतिहारियों को उन्होंने आस्सा को ले जा उस से भी रहस्य जानने का आदेश दिया ।

कुछ समय पश्चात् प्रबुद्ध शर्मा और धृति शर्मा अपने कक्षों की ओर चले

गये । विष्णु शर्मा जानु पर कोहनी और हथेली पर ठोड़ी टिकाये, पीठिका पर चिन्तामन बैठे थे और समीप आर्य विनय शर्मा खड़े थे । पीठिका के दोनों ओर दो-दो प्रतिहारी आदेश की प्रतीक्षा में उपस्थित थे । शेष भृत्यों, कंचुकियों और दास-दासियों को निर्दिष्ट सेवाकार्य में जाने की आज्ञा हुई ।

दो घड़ी समय बीत जाने की सूचना अलन्द के सम्मुख लटके घडियाल पर पड़े प्रहार द्वारा प्रतिहारी दो बार दे चुका था । दो बार वे प्रतिहारी को भेज कर छाया से जाने गये रहस्य के विषय में जिज्ञासा कर चुके थे । उन्होंने प्रतिहारी को पुनः एक बार और समाचार के लिये भेजा । उत्तर प्रत्येक बार नकार से आने से वे खिन्न हो मौन बैठे थे ।

सहसा अन्तःपुर की यवनी प्रहरी की पुकार सुनाई दी—“परिजन सादर सावधान ! तात धर्मस्थ पधार रहे हैं ।”

चिन्ता से झुका मस्तक उठा कर विष्णु शर्मा ने देखा—दो कंचुकियों के कन्धों का आश्रय लिये तात शनैः-शनैः अत्यन्त कष्ट से पग धरते चले आ रहे हैं । विष्णु शर्मा ने आसन छोड़, नतमस्तक हो प्रणाम कर तात से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की ।

कंचुकियों के कंधे के आश्रय ही खड़े रह कर तात ने प्रश्न किया—“मैंने कक्ष से आर्त्त क्रन्दन का चीत्कार सुना है । दासी छाया कहां हैं ? ... उपस्थित की जाय ।”

आज्ञा पाकर एक प्रतिहारी तुरन्त आस्थानागार से चला गया । तात के चरण और ग्रीवा निर्वलता से कांप रहे थे परन्तु वे उसी प्रकार कंचुकियों के कन्धों के आश्रय ही खड़े रहे । कुछ क्षण पश्चात् प्रतिहारी ने लौट कर, धर्मस्थ के सम्मुख जानु पृथ्वी पर टिका, सिर झुकाये प्रार्थना की—“आर्य भट्टारक अभयदान दें, दासी छाया नहीं है ।”

कम्पित स्वर में तात ने प्रश्न किया—“दासी छाया नहीं है ?”

“आर्य भट्टारक अभयदान दें, दासी छाया जीवित नहीं है ।” ग्रीवा झुकाये प्रतिहारी ने समाधान किया ।

तात का श्वास तीव्र हो गया । उनके जानु हिल गये । दोनों कंचुकियों ने उन्हें बांहों में लेकर पीठिका पर टिका दिया । श्वास की गति में अति तीव्रता और अवरोध के कारण वे कुछ बोल न सके । विष्णु शर्मा, विनय शर्मा और कंचुकी सिर झुकाये पीठिका पर घिर आये । वृद्ध कंचुकी विल्हण तात का सिर

अपने जानु पर लिये था ।

कंचुकी बिल्हण के संकेत से दूसरा कंचुकी तुरन्त दौड़ कर आसब और जल ले आया । कुछ बिन्दु आसब-मिश्रित जल धर्मस्थ के ओष्ठों में डालने से उनके कण्ठ की घरघराहट दूर हुई । विष्णु शर्मा को समीप आने का संकेत कर वे क्षीण और कम्पित स्वर में बोले—“पुत्र, अन्याय का प्रतिकार करने के आदेश में तुम ने यह अन्याय किया है । इस अन्याय के प्रतिकार का प्रयत्न एक दूसरे अन्याय का आरम्भ होना…पुत्र, प्रतिकार और प्रतिहिंसा न्याय नहीं है । तुम्हें बेटी के चले जाने पर आक्रोश है । वह किसके अपराध से गई ? मेरे…तुम्हारे समाज के अनु…शासन से…।”

पुनः उनका कण्ठ घरघरा कर हिचकी आने लगी । बिल्हण ने पुनः कुछ बूंद आसब मिला जल उनके मुख में दिया । तात अत्यन्त कठिनाई से फिर और भी क्षीण स्वर में बोले—“छाया को…उसकी माता के…स्वामी स्नेह का…परिणाम ! पुत्र…मुझे खोकर तुम्हारे…इस अन्याय का प्रायश्चित्त हो ।”

बिल्हण ने पुनः कुछ बूंद आसब धर्मस्थ के मुख में दिया । हिचकियों के बीच अवसर में तात ने अस्पष्ट शब्दों में कहा—“पुत्र…बेटी…पर…आक्रोश न…करना ।”

बिल्हण के ओर जल देने पर वे निगल न सके । श्वास की गति सरल करने के लिये बिल्हण ने उनकी ग्रीवा सीधी कर दी । वह स्वयं श्वास रोकें अपलक धर्मस्थ के नेत्रों की ओर दृष्टि लगाये था । तात का माथा विष्टर पर रख कर बिल्हण दोनों हाथों से सिर पीट चीत्कार कर उठा ।

आस्थानागार पुनः परिवार के स्त्री-पुरुषों से भर गया । प्रासाद में क्रन्दन का चीत्कार उठ खड़ा हुआ । तात के पुत्र, प्रौत्र, प्रपौत्र, कुन-वधुये, भृत्य, कंचुकी, दास-दासियाँ और प्रतिहारी सब रो रहे थे ।

हेमन्त के पाले से निबिड़ आकाश में नक्षत्र भी अस्थिर और द्रवित जान पड़ते थे ।



## दारा

मद्र गणराज्य की दक्षिण-पूर्वी सीमा शतुद्री नदी थी। नदी के पश्चिम पत्तन पर दास-व्यवसायी श्रेष्ठी प्रतूल का सार्थ गत संघ्या से डेरा डाले था। अन्य दो व्यवसायी सार्थ भी नदी पार करने के लिये शौलिकक राजपुरुषों की अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे थे। मद्र गण की सीमा नदी लांघ कर दूसरी ओर जाने से पूर्व, शौलिकक राजपुरुष व्यवसायियों के द्रव्य की परीक्षा कर राजस्व-शुल्क उगाह रहे थे।

श्रेष्ठी प्रतूल ने शुल्क-स्थान के प्रधान राजपुरुष के साथ रात्रि में आपानक और भोजन किया था। श्रेष्ठी के इस मार्ग से प्रायः आते-जाते रहने से राज-पुरुष से उसका परिचय और सख्य था। सात मास पूर्व दक्षिणापथ से कृष्ण वर्ण दास लेकर मद्र आते समय प्रतूल ने राजपुरुष को सिंहल के मुक्ता की एक अंगुलीय भेंट की थी और उत्तर से लोटने पर काश्मीर का नीलम भेंट करने की प्रतिज्ञा की थी। मित्रता और रात्रि के आपानक का शंथित्य होने पर भी शौलिकक को मद्र के राजनियमों का उपचार तो पूरा करना ही था।

दास-व्यवसायी श्रेष्ठी प्रतूल सात मास पूर्व दक्षिणापथ के एक सौ तैंतीस दास-दासी लेकर आया था। लोटते समय उसके पास एक सौ पैंसठ दास-दासी थे। वे सभी नये थे; कुछ यवन, कुछ काश्मीरी, कुछ उत्तरापथ के गौर वर्ण और अधिकांश दार्च प्रान्त की गौर वर्ण, चपल नेत्र, ललित-अंग दासियां थी। सीमान्त के प्रत्येक युद्ध के पश्चात् दास-व्यवसाय के लिये अनुकूल अवसर होता था। शौलिकक राजपुरुष ने प्रत्येक दास-दासी के क्रय का ताड़पत्र देख कर निश्चय किया कि उनमें से कोई अपहृत अथवा अपने स्वामी की सेवा से भागा हुआ दास-दासी तो नहीं अथवा कोई द्विज-सन्तान तो नहीं।

मद्र गणराज्य की राजमुद्रा धारण किये आधीन शौलिकक ने ताड़ पत्र देख कर प्रधान शौलिकक का ध्यान आकर्षित किया—“सात मास पूर्व के लेख के अनुसार श्रेष्ठी प्रतूल ने मद्र गणराज्य की सीमा में एक पत्नी, छः प्रतिहारी दास और परिचर्या के लिये एक दास और एक दास बालक सहित बिक्री के लिये एक सौ पैंतीस दास-दामी लेकर प्रवेश किया था। अब श्रेष्ठी दो पत्नियों सहित सीमा लांघना चाहते हैं। परिचर्या के लिये कृष्ण दास के स्थान पर अब गौर दास हैं। श्रेष्ठी ने परिचर्या के लिये लाये कृष्ण दास को मद्र की सीमा में बेचा है। परिचर्या के दास का शुल्क उस समय नहीं लिया गया था। उसके बेच दिये जाने पर उसका शुल्क एक निष्क मिलना चाहिये।”

प्रतूल ने हंस कर उत्तर दिया—“कर्त्तव्य-तत्पर आर्यो का वचन सत्य है। मेरी ही भूल थी। आप एक निष्क और लें।”

मुद्राधारी शौलिकक ने प्रधान शौलिकक को धीमे स्वर में पुनः सम्बोधन किया—“श्रेष्ठी की द्वितीया पत्नी क्रीत दासी है अथवा विवाहित पत्नी ?”

यह रहस्य सम्बोधन सुन कर श्रेष्ठी प्रतूल ने विनोद से हंस कर उत्तर दिया—“आयुष्मान की सतर्कता स्तुत्य है परन्तु श्रेष्ठी एक निष्क के लिये चोरी नहीं करता। भद्र द्विजकुलों में दास-दासी का क्रय-विक्रय लेख के साक्ष्य द्वारा होता है। कन्यादान और पत्नीग्रहण केवल मुख के शब्द और अदृश्य देवता के साक्ष्य से होता है। उसके लिये ताड़-पत्र का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। भद्र, ‘त्वं च पत्नी अहं च भर्ता’—जम्बू दीप के आर्यों की यही कर्मादित पद्धति है। मैंने सागल के श्रेष्ठ कुलज वणिक नैमित्यक को कन्या के रूप और गुण पर मुग्ध हो कर उसे पत्नी रूप से ग्रहण किया है और देखो कुलवती का गुण; वह मेरी वंश-वृद्धि का अंकुर इतने शीघ्र अपने शरीर में धारण किये है। मेरी प्रथम युवा पत्नी तीन वर्ष के सहवास से भी बंध्या ही है। इसी से यह विवाह...” प्रतूल हसने लगा।

“सौभाग्य ही, वृद्धि हो !” प्रधान शौलिकक ने भी हंस कर उत्तर दिया, “परन्तु श्रेष्ठी की सौभाग्यवती पत्नी मद्र की शीतल, स्वतन्त्र भूमि छोड़ कर राजाओं के उत्पीड़ित ऊष्ण देश में जा कर क्या भाग्यवती होगी ? उस अबोध को राजाओं से उत्पीड़ित देश की अवस्था और वहाँ की ऊष्णता का क्या ज्ञान ? अस्तु, मनुष्य दैव की लीला का साधन-मात्र है श्रेष्ठी !”

शुल्क-स्थान की पान्यशाला के अलिन्द में प्रौढ़ की पत्नी अंजना के साथ

आस्तरण पर बैठी दिव्या दास-व्यवसायी प्रतूल और शौलिकक का विनोद-विवाद सुन रही थी। एक अंकुश सा उसके हृदय में चुभा—मद्र की स्वतंत्र मातृभूमि, प्यारी सागल नगरी, जहाँ उसने अल्हड़पन के खेल खेले, उस से सदैव के लिये छीन कर उसे ले जाया जा रहा है। इस समय विरोध का एक चीत्कार उसे दास-व्यवसायी के पाश से, दासत्व से मुक्त कर सकता है परन्तु फिर वह कहाँ जायेगी ? उसके लिये स्वतंत्रता कहाँ है ? उसके लिये शरण और स्थान कहाँ है ? उसकी सम्भावित सन्तान के लिये शरण और स्थान कहाँ है ? जिसके लिये जीवित रहने का अवसर नहीं, उसके लिये स्वतंत्रता कहाँ ?

उसने सुना, पौढ़ प्रतूल राजपुरुष को उत्तर दे रहा था—“आर्य, भूमि और देश का प्रेम जीवन से सम्बद्ध है। व्यक्ति जहाँ जीविका पाता है, वहीं उसका देश है और क्या प्रेमी का प्रणय कुछ भी नहीं ?”

‘प्रणय’ शब्द दिव्या के लिये त्रास और आशंकाग्र हो गया था। इस शब्द का अर्थ था—पृथुमेन की प्रवचना। पौढ़ प्रतूल से भी उसने त्रास ही पाया था। बेटी सम्बोधन करके भी उसने निर्दयता ही की थी। उसने दिव्या की एकमात्र अवलम्ब धात्री को छीन कर न जाने कहाँ लोप कर दिया। उस संध्या कक्ष में पृथक मूंदी जाने के पश्चात् धाता का कोई चिह्न अथवा संकेत न मिला। धाता के लिये बिलखने पर प्रतूल ने स्नेह का नाट्य कर धीरज धरने के लिये कहा। अंजना बार-बार विस्मय प्रकट कर कहती—“हाय, वह छलिया जाने कहाँ चली गयी ?”

असहाय दिव्या ने अनुमान कर लिया—अम्मा सम्भवताः डर कर प्रासाद लौट गयी और वह मौन रह गयी।

प्रतूल के प्रत्यक्ष स्नेहमय व्यवहार के पीछे बन्दी को सन्तुष्ट, सुरक्षित रखने की छलना और सतर्कता प्रतिक्षण झलकती रहती थी। दिव्या समझती थी, प्रतूल की सहृदयता केवल उसे मद्र की सीमा से सुरक्षित पार ले जाने तक है। मद्र की सीमा के परे दासत्व और उत्पीड़न का पाश उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। वह मौन रह कर अपनी अनुमति से उस पाश में बंध रही है। पुनः आवेश कण्ठ तक आया—एक चीत्कार से, एक शब्द से वह उस यंत्रणा से रक्षा पा सकती है परन्तु वह जायेगी कहाँ ? सागल में तात के प्रासाद में ? ...असंभव !

उत्पीड़ित होकर भी वह शरण पाये है। अशरण हो वह कहाँ जायेगी ? वर्षा से गूह्यहीन स्तम्भ की ओट पाने का ही यत्न करता है...। उसके नेत्र भीग गये

और वह मौन रह गई। सोचा—प्रतूल और अंजना भी उसके दुर्भाग्य का रहस्य जानते हैं इसीलिये स्थूल बन्धनों का उपयोग करना आवश्यक नहीं समझते। स्थूल बन्धनों से कहीं अधिक दृढ़, परिस्थिति के सूक्ष्म, अदृश्य बन्धन ही उसे बांधे हैं।

प्रधान शौलिकक की अनुमति पाकर श्रेष्ठी प्रतूल का साथ शतुद्री की धार के तट पर छिछले जल में खड़े एक बहुत बड़े बड़े पर बैठा। नाविकों ने बेड़े को धकेल कर धार की ओर किया और फिर बेड़ा स्वयं ही तीव्र गहरी धार में बह चला। नाविक बेड़े को दूसरे तट की ओर ले जाने के लिये मुख से शब्द करते हुये पूरी शक्ति से डांड चलाने लगे।

दिव्या के कानों के लिये डांड में एक साथ बल लगाने के प्रयोजन से नाविकों का सम्मिलित कोलाहल, मद्र के विषय में दूसरे यात्रियों का वार्तालाप और नेत्रों के लिये नदी की धार के दोनों ओर फैले सिकता के विस्तृत तट, नदी की गहरी, तीव्र फेन उछालती नीली लहरे—सब निरर्थक था। वह सोच रही थी—अपनी जीवन नौका को उसने घटनाओं की तीव्र धारा में, स्वयं ठेल दिया है—वह जाने कहां जाकर दकेगी ?

नदी की धार में बेड़ा शनः-शनः पूर्व की ओर बढ़ रहा था। मद्र की भूमि दूर हो रही थी। उस भूमि से प्रताड़ित होकर भी उसके विछोह से एक उच्छ्वास मन में उठ आया। वह उच्छ्वास दिव्या के ओठों पर 'मां' शब्द की ध्वनि में प्रकट होना चाहता था। उस भूमि में जन्म देने वाली मां के जीवित रहते भी क्या वह इस प्रकार विवश हो चली जाती ? और फिर दूसरी मां, 'अम्मा' घाता का रूप कल्पना में साकार हो उठा। सभी कम्पाये एक दिन मां की गोद छोड़ कर श्वसुर-गृह जाती हैं परन्तु उनके मन में पति के घर जाने की साम्त्वना और उत्साह रहता है...

पति के प्रसंग से कल्पना में पृथुसेन जाग उठा। ओठों को दांत से दबाये दिव्या के विचार ने कहा—वंचक पृथुसेन और दास-व्यवसायी प्रतूल में क्या अन्तर ? आशंका से शरीर के रोम सिहर उठे; जैसे नदी तीर की सिकता उस के दांतों तले आ गई हू। उसे ठुकरा देने वाले मद्र की ममता को वह क्या करे ? दीर्घ निश्वास ले उसने नेत्र मूंद लिये।

दास-व्यवसायी श्रेष्ठी प्रतूल की पत्नी अंजना दिव्या के प्रति सहृदय थी। चार दासों के मूल्य से बहुमूल्य दिव्या के आभूषण अंजना ने अपना लिये थे। दिव्या ने इस विषय में एक शब्द भी न कहा था। दिव्या की इस मौन उदारता

के प्रति अंजना कृतज्ञता प्रकट किये बिना न रह सकी। दिव्या के कण्ठ की मुक्ता-मालायें, रत्नजटित अंगद और कौशेय वस्त्रों से अंजना को निश्चय था कि युवती अवश्य ही उच्च सामन्त वंश के प्रासाद में पली है। उसका गर्भ देख कर वह यह भी जान गई कि इसी कारण वह स्वेच्छा से दुःख और दैन्य का मार्ग स्वीकार कर रही थी। कुछ दिव्या के प्रति सहानुभूति और कुछ कौतूहल से अंजना ने उससे सख्य स्थापित कर उसका रहस्य जानना चाहा। दिव्या ने कातरता से संक्षेप में उत्तर दिया—“मैं अभागी वंचिता हूँ। मेरे पितृगृह में सब कुछ था परन्तु मेरे लिये स्थान न रहा। इस अवस्था में मेरा कुल मेरी सहायता नहीं कर सकता। आश्रय की खोज में भटकती तुम्हारे स्वामी के हाथों पड़ गई हूँ। अब बच की जो इच्छा हो।”

श्रेष्ठी प्रतूल को आशा थी कि दिव्या को मगध के समृद्ध, रसिक ग्राहकों के हाथ बेच कर ऊँचा मूल्य पायेगा। ऐसी रूपवती, लावण्यमयी दासी के लिये चार सौ स्वर्णमुद्रा भी अधिक न था परन्तु शूरसेन देश की मथुरापुरी नगरी पहुँचते-पहुँचते दिव्या की अवस्था यात्रा योग्य न रही। उसे किसी प्रकार का कष्ट सहने का अभ्यास न था। रथ पर चलने में भी उसे कष्ट होता था। पथ असम होने पर तो उसके प्राण निकल जाने की आशंका होने लगती।

यदि प्रसव हो जाने पर सन्तान को दूर कर चार-पाँच मास तक खिला-पिला कर उसे पुष्ट करके बेचा जा सकता तो कोई भी रसिक उसके लिये नेत्र मूंद कर दोनों हाथों से स्वर्ण दे देता परन्तु एक दासी के ही कारण वह कितने समय तक शूरसेन में टिका रह सकता था? ...सार्थवाह में नये एक सौ पैसठ दास-दासियों का दीर्घ समय तक व्यर्थ भरण-पोषण का बोझ! इस विलम्ब के कारण वह चैत्र मास में दक्षिणापथ के दासों के मेले में पहुँचने से भी रह जाता।

दास-दासियों के रूप में मनुष्यों का व्यवसाय करते रहने के कारण प्रतूल अनेक श्रेणी के मनुष्यों के शरीरों और स्वभावों की सूक्ष्मताओं से उसी प्रकार परिचित था जैसे कुम्हार अनेक स्थलों की मिट्टी, उससे बने पात्रों की उपयोगिता और मूल्यों से अवगत रहता है। पाटलिपुत्र में उसके घर पर चार दासियाँ थीं। इन दासियों का काम केवल गृहसेवा या स्वामी के लिये वृत्ति कमाना न था। वे प्रति अठारह मास पश्चात् सन्तान उत्पन्न करती थीं। प्रतूल इन दासियों को न बेच कर उनकी सन्तान बेचता था। अभ्यस्त हो जाने के कारण वे दासियाँ सन्तान-वियोग का दुःख सहज ही सह जातीं। एक सन्तान का वियोग होते समय

भी दो, तीन सन्तान उनके समीप रहतीं । पीष्टिक भोजन से उनके प्रसव की निबलता तुरन्त दूर हो जाती ।

परन्तु दिव्या से ऐसी आशा न कर सकने के कारण प्रतूल और भी चिन्तित था । वह जानता था कि प्रसव इस युवती का लावण्य दीर्घ समय के लिये हर लेगा । इसकी सन्तान इससे छीन लेने पर इसे जीवित रखना कठिन होगा । दाम-दासियों को कोड़े की मार या भूख से वश किया जा सकता है परन्तु जो स्वयं ही मृत्यु के लिये आतुर हो, उसका क्या उपाय ? अनेक स्थितियों में बल-प्रयोग से कुछ नहीं हो सकता । प्रतूल ने दिव्या के शरीर से पाये बहुमूल्य आभूषणों से ही संतोष कर, उसे मथुरापुरी में ही निबटा देने का निश्चय किया ।

श्रेष्ठी प्रतूल ने मथुरापुरी के दास-व्यापारी भूधर से अपनी यात्रा की असुविधा वर्णन कर काश्मीर देश की एक गर्भवती परन्तु अत्यन्त लावण्यमयी दासी बेचने का प्रस्ताव किया । प्रतूल ने कहा—पुष्पपुर के एक सामन्त-प्रासाद से उसने इस दासी 'दारा' को डेढ़ सौ स्वर्ण में क्रय किया है । निश्चय ही वह उसे मगध के राजप्रसाद में चार सौ स्वर्ण मुद्रा में बेच सकता है परन्तु यात्रा की असुविधा है और दासी कोमलांगी है ।

भूधर ने पानी दृष्टि से दारा को सिर से पैर तक देखा और बीस स्वर्ण मुद्रा देना स्वीकार किया ।

“क्या कहते हो मित्र ?” अत्यन्त विस्मय से नेत्र फैला कर प्रतूल ने ऐसे अनसुने अन्याय का विरोध किया, “क्या तुम उसके अवयवों का लास्य, उसका चम्पाकली सा वर्ण नहीं देखते ? गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या ? यह नहीं देखते कि एक के मूल्य में दो जीव पा रहे हो ? और फिर यह मलिनता कितने काल तक रहेगी ? माणिक पर धूल रहने से क्या वह माणिक नहीं रहता ? उसके नेत्र और वर्ण,” भूधर के कान के समीप मुख ले जाकर प्रतूल ने कहा, “शुद्ध रक्त को लजाते हैं । किस राजकुमारी से कम है ? मैं जानता हूँ, चार मास पश्चात् तुम उसके पांच सौ स्वर्ण मुद्रा पाओगे ।”

अपने श्वेत-श्याम श्मश्रु में उंगली चलाते हुये भूधर ने उत्तर दिया—“मित्र, वही सब देख रहा हूँ । गोघन और अश्वघन नहीं, मनुष्यों का ही व्यवसाय करता हूँ । उसकी जाति देखते हो ? पर्यंक पर पली है । द्विजकन्या है मित्र, निश्चय । गर्भिणी, वह भी प्रथम गर्भ ! तिस पर यह दीर्घ यात्रा ! यदि फिसल गयी तो बीस मुद्रा भी गये !”

प्रतूल के कान के समीप मुख ले जाकर भूधर ने फिर कहा—“मित्र, अज्ञात-शत्रु और वृहद्रथ का समय गया। अब पुण्यमित्र का शासन है और शूरसेन का उपरिक है, उग्र रवि शर्मा। किसी ब्राह्मण ने इस के रूप पर मुग्ध होकर अपने परिवार की वधू कह दिया तो वृद्धावस्था में राजदण्ड भोगने-भोगते लुंजा हो जाऊंगा। तुम इसे मगध ले जाकर व्यथं राजदण्ड में फंसेगें।”

दासी दारा अभी प्रसव-वेदना से मुक्त न हो पाई थी कि देव ने उसको दास-व्यापारी भूधर के द्वार पर भेज दिया।

याज्ञिक पुरोहित चक्रधर की पत्नी एक बालक प्रसव करते ही विषम-ज्वर से पीड़ित हो गई। वैद्य ने रोगी माता का स्तन नवजात शिशु को देने का निषेध किया। घर की गैया का दूध निर्बल बालक पचा न सकता था।

पुरोहित चक्रधर ने सुना कि दास-व्यवसायी भूधर के यहां सद्यः प्रसूता दासी है। वह पचास स्वर्ण-मुद्रा में दासी दारा को उसकी सन्तान सहित क्रय कर ले आया। अपनी सन्तान गोद में लिये दारा ने पुरोहित पुत्र को भी हृदय से लगा लिया। उसने देवताओं की कृपा के लिये धन्यवाद दिया कि वह अपनी सन्तान का पोषण कर सकेगी। अपनी ही सन्तान जैसे एक और नवजात शिशु के प्राण बचा सकने के सुख से उसने अपार सन्तोष अनुभव किया। विषम ज्वर से मुक्ति पाने पर द्विजपत्नी के स्तन सूख गये। दारा दोनों नवजात शिशुओं को हृदय से लगाकर उनमें अन्तर अनुभव न करने लगी।

परन्तु दारा वह सन्तोष पा न सकी। शीघ्र ही उसकी अनुभूति बदल गयी। स्वामिनी की आज्ञा थी—पहले स्वामिनी के पुत्र को स्तन-पान कराकर वह अपने पुत्र को स्तन दे। वह आज्ञा शूल की भांति दारा का हृदय बेध गयी परन्तु आज्ञा-पालन के अतिरिक्त उपाय न था। द्विजपुत्र को स्तनपान करा देने के पश्चात् उसके अपने पुत्र शाकुल के लिये दूध शेष न रहता। अपनी सन्तान को क्षुधित देख दारा का हृदय रो उठता। वह द्विजपत्नी की दृष्टि की ओट होकर अपनी सन्तान को स्तनपान कराने का अवसर खोजती रहती। वह अपने स्तन के दूध की चोरी करने लगी। द्विजपुत्र के क्षुधित होने पर उसके स्तन दूध रहित होते। अपनी सन्तान के क्षुधित रहते अपना स्तन द्विजपुत्र को देना दारा के लिये असह्य यंत्रणा बन जाता। स्वामी की सन्तान के प्रति उसके हृदय में दारुण घृणा बैठ गयी। छाती में दूध होने पर भी स्वामी की सन्तान के मुख में स्तन देने से दूध उतर ही न पाता।

द्विजपत्नी अपनी सन्तान के प्रति दासी की कुटिलता, निर्दयता, और चोर कर्म से अत्यन्त क्रुद्ध हुई। उसने दारा की कठोर प्रतारणा की। उसे सदमार्ग पर आते न देख कर उसकी सन्तान छीन कर अन्यत्र बेच देने की भर्त्सना की। उसने आज्ञा दी—स्वामिनी की सन्तान को अपने स्तन से सन्तुष्ट किये बिना वह अपनी सन्तान को न छूये।

दारा का पुत्र एक फटे वस्त्र पर अलिद में पड़ा रहता। स्वामी की सन्तान को गोद में लिये वह सजल नेत्रों से अपने बालक की ओर देखती रहती। दारा को ऐसी अवस्था में देखकर स्वामिनी क्रोध से क्षुब्ध हो जाती अपनी सन्तान के प्रति दासी के मानसिक विश्वासघात के लिये वह उसकी घोर प्रतारणा करती।

स्वामी की सन्तान के मुख में अपना स्तन दिये अपने पुत्र को क्षुधार्थ देखते रहना दारा के लिए असह्य था। वह उस ओर से दृष्टि हटा लेती। ऐसी अवस्था में दूध न पाने के कारण द्विजपुत्र घात्री का स्तन अपने दांतहीन जबड़े से तोड़ कर छटपटा उठता। चतुर द्विजपत्नी ऐसी परिस्थिति का उपाय जानती थी। वे दारा के पुत्र शाकुल को उसके सम्मुख लाने की आज्ञा देती। अपने पुत्र के प्रति ममता की अनुभूति से दारा के स्तनों से दूध और नेत्रों से जल बह चलता। उससे स्वामी की सन्तान तृप्त होती।

यही क्रिया प्रति प्रातः-संछया पुरोहित चक्रधर के आंगन में बंधी गाय के साथ भी होती। गो-दोहन से पूर्व बछिया को गाय के स्तनों पर छोड़ दिया जाता। अपने स्तनों पर अपनी सन्तान के मुख का स्पर्श पाकर जब गाय स्तनों में दूध ढील देती, बछिया को गले की रस्सी से खींच कर गाय के खूंटे पर बांध दिया जाता और उसका दूध द्विजपत्नी या दासी पात्र में ले लेती। दारा इस आयोजन की ओर निष्पलक देखती रहती।

द्विजपत्नी दारा की प्रतारणा कर उपदेश देती—‘तू कितनी दुष्ट और कुटिल है। अपने पाप का फल इस जन्म में दासी होकर भोग रही है और उस जन्म में स्वामी के प्रति विश्वासघात के पाप का दण्ड जाने कितने जन्म पर्यन्त भोगेगी। पशु होकर भी यह गाय तुझ से अधिक धर्मशील है।’

कोई उत्तर न देकर दारा स्वयं ही अपनी तुलना गाय से करती। केवल उसके गले में रस्सी न थी। रस्सी न होने पर भी वह गाय की ही भांति विवश थी। वह अनुमान करती कि गाय का हृदय भी अन्याय की भावना और प्रतिहिंसा अनुभव करता है या नहीं? यदि नहीं तो क्यों? वह स्वयं ऐसा क्यों अनुभव

करती है ? दासी होकर अपने शरीर को अपना समझना उसके विश्वास में पाप था परन्तु वह विवश थी। वह सोचती उसकी सन्तान को जीवन के लिये पोषण का अधिकार क्यों नहीं ?

प्रायः मौन रहने के कारण उसकी कल्पना बावली हो उठती—यदि उसके शाकुल का जन्म इन परिस्थितियों में न होकर पृथुसेन के प्रासाद में होता तो उत्सव और समारोह से दिशायें गूँज उठतीं। पृथुसेन की सन्तान होने से शाकुल के लिये सभी कुछ प्राप्य होता और उसकी अपनी सन्तान होने से शाकुल के लिये कुछ प्राप्य नहीं; जीवन में उस के लिये कोई स्थान नहीं ! वह जैसे पात्र से छलक गई जल की बूंद की भाँति है जो केवल सूख कर समाप्त हो जाने के लिये ही है परन्तु वह अपनी सन्तान को दुष्ट पृथुसेन की सन्तान स्वीकार न करेगी। उसके लिये उसने जो सम्भव था किया और करेगी।

दारा की कल्पना अतीत की ओर चली जाती। उसके अपने जन्म के समय भी उसकी माता रोग-ग्रस्त हो गयी थी। उसका पोषण भी धात्री के स्तन से हुआ था। क्या यह उसी कर्म का फल है ? बौद्ध श्रमण कहते हैं—मनुष्य अपने कर्म से ही दुख पाता है परन्तु मेरे बच्चे का क्या कर्म है ? अभी तो वह उत्पन्न ही हुआ है। उत्पन्न होने से पूर्व ही उस का कर्मफल फूट गया ? वह भी नहीं जानता कि किस कर्म का दण्ड वह भोग रहा है। यह भी नहीं जानता कि वह दण्ड भोग रहा है। हे देवता, अपना अपराध या दुष्कर्म जाने बिना यह अबोध बालक दुष्कर्म से बचने का निश्चय कैसे करे ? यदि दुष्कर्म मैंने किया है तो दण्ड और भोग के लिये प्रस्तुत हूँ। मेरा पुत्र क्यों क्षुधा-पीड़ित हो ? ...मैंने कौन दुष्कर्म किया है ? क्या पृथुसेन से अनुराग पाप था ? क्या गर्भ धारण करना ही पाप था ? ...सम्पूर्ण सृष्टि गर्भ धारण करती है; मैंने ही क्या किया ? ...केवल द्विजसमाज की आज्ञा के बिना गर्भ धारण किया, इसी कर्म का यह फल है ? क्या कर्मफल देने वाला द्विजसमाज ही है ?

पुरोहित चक्रधर के द्वार पर भिक्षा के लिये उपस्थित होने वाले काषाय-चीवरधारी श्रवण उपदेश दे जाते—कर्म और जीवन केवल दुख की शृङ्खला है। सुख केवल अस्थायी अनुभूति है।

दारा की कल्पना पुनः अपने अतीत की ओर चली जाती। श्रमण का वचन उसे सत्य जान पड़ता। उसने जीवन में सुख कब अनुभव किया ? जब भी अनुभव किया वह केवल उड़ते हुये मेघों की छाया की भाँति था। ...उस का

कला की देवी, सरस्वती-पुत्री निर्वाचित होना ।...पृथुसेन के अंक में एकान्त क्षण ! उस मिलन से पूर्वं और पश्चात् की कल्पना ! ...सब दुख ही तो है । संसार केवल शक्तिशालियों के लिये है । दुखियों के लिये वैराग्य ही सुख है । जीवन से मोह व्यर्थ है...परन्तु शाकुल का अस्तित्व तो काल्पनिक न था ।

मथुरापुरी के पथों और वीथियों पर भिक्षाटन के लिये विचरते भिक्षु नित्य दुखियों को शरण का निमंत्रण देते—दुख से पीड़ित मनुष्यो, तथागत की शरण आओ ! धर्म की शरण आओ ! वही कृपामूर्ति तुम्हारे संतत संताप को दूर करेंगे ।

सूर्योदय से पूर्व अन्धकार में, आंगन में पृथ्वी पर सोई दारा के वक्ष में शाकुल रो उठा । दारा ने स्तन शिशु के मुख में दे दिया । शाकुल यथेष्ट स्तनपान कर सो गया । कुछ ही समय पश्चात् स्वामिनी और उसके पुत्र की निद्रा भग होने पर स्वामी की सन्तान की क्षुधा-निवृत्ति के लिये दारा की पुकार हुई । प्रातः बालक की प्रथम क्षुधा के समय धात्री के स्तन में दूध न पाकर पुरोहित पत्नी अत्यन्त क्रुद्ध हुयी । दारा की भर्त्सनाकर उसने उसे धान कूटने के कठोर कार्य पर नियत कर दिया ।

मध्याह्न में मिट्टी के पात्र में भोजन पाकर शाकुल को वक्ष पर लिये दारा उदर-पूति के लिये अलिन्द में बैठी थी । स्वामिनी को सोया देख कर बुद्धा दासी लोमा दारा के समीप बैठ कर सहानुभूति के स्वर में बोली—“बेटी, स्वामिनी को क्षुब्ध कर तूने भला काम नहीं किया । आज स्वामी और स्वामिनी ने शाकुल को कहीं दे डालने का निश्चय कर लिया है । जा अभागी, स्वामिनी से क्षमा मांग ले ।”

मिट्टी के पात्र में सम्मुख रखा रूखा अन्न वैसे ही रह गया । दारा सोचती रही क्या करे ?

ज्येष्ठ के मध्याह्न में पुरोहित और स्वामिनी निद्रागत थे । बूढ़ी लोमा भी एक ओर जाकर सो गई । ग्रीष्म के मध्याह्न में सब ओर हेमन्त की मध्य निशा जैसी स्तब्धता छायी थी । सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश दृष्टि को रात्रि के गूढ़ अन्धकार की ही भांति असमर्थ किये था । झुलसा देने वाली तप्त वायु से त्रस्त नागरिक भवनों में और पक्षी तथा वानर तप्त वायु से मरमर करते वृक्षों के पत्तों की ओट में शरण पाकर विश्राम कर रहे थे । दारा अपनी सन्तान के छीन लिये जाने की आशंका में झुकेली पर माथा रखे मौन बैठी थी ।

भिक्षाटन में विलम्ब से लौटते किसी श्रमण की पुकार मागं से सुनाई दी—  
“संसार के संतप्त प्राणियों, शान्ति के लिये बुद्ध की शरण आओ ! धर्म की शरण  
आओ ! संघ की शरण आओ !”

शरण के लिये व्याकुल दारा भिक्षु के शरण देने के निमंत्रण की अवहेलना  
न कर सकी ।

मध्याह्न सूर्य के प्रचण्ड ताप से मागों पर घूसर ज्वालाओं के रूप में धूलि  
आकाश की ओर उठ रही थी। हू-हू करती संतप्त वायु आश्रय की खोज में वनों  
की ओर दौड़ी जा रही थी। उस विभीषिका में दारा अपने शाकुल को हृदय से  
लगाये, तवे की भांति तपे, पत्थर मढ़े पथ पर पुरोहित-गृह से निकल पड़ी।  
शाकुल की कोमल त्वचा को सूर्य के उत्तप्त बाणों से बचाने के लिये दारा ने  
शिशु को अपने छिन्न, जीर्ण, मलिन उत्तरीय में लपेट लिया।

दारा के शरीर पर स्तनों को पीठ पीछे गांठ से बांधे वस्त्र के एक टुकड़े  
और कटि पर बंधे जीर्ण, छिन्न, मलिन अन्तरवासक के अतिरिक्त अन्य वस्त्र न  
था। सामर्थ्य भर द्रुत गति से चलने के कारण उसके रूखे केश बिखर गये।  
जीर्ण अन्तरवासक पांव में उलझ-उलझ कर फटता जा रहा था। सिर और शरीर  
पर सूर्य की किरणें चुभ रही थीं, पांव तले तपे हुये प्रस्तर-खण्ड थे। शरीर  
स्वेद से लथपथ हो रहा था। दारा का ध्यान इस सब की ओर न था। उसके  
कान श्रमण के करुण निमंत्रण के उच्च घोष से पूर्ण थे—संसार के संतप्त प्राणियों,  
शान्ति के लिये बुद्ध की शरण आओ ! ... उस की दृष्टि, घने अश्वत्थ वृक्षों के  
समूह के ऊपर धूलि- घूसरित उत्तप्त आकाश में सिर उठाये महाबोधि चैत्य के  
गगनचुम्बी शिखर की ओर थी।

एक सौ वर्ष से अधिक समय से वह चैत्य-शिखर संसार के संतप्तों के लिये  
अभिधर्म की करुणामय शरण की घोषणा कर रहा था। दारा उसी ओर दृष्टि  
लगाये, झुलसती वायु की हू-हू में शरण का निमन्त्रण सुनती, अपने शाकुल को  
अंक में दबाये शरण की भिक्षा के लिये दौड़ी जा रही थी।

विहार के विशाल सिंहद्वार के पट मुंदे थे। मुंदे पटों के दूसरी ओर करुणा  
और शरण का स्थान था। दारा ने सिंहद्वार से लटके विशाल घंटे को हिला  
दिया। ग्रीष्म की दोपहर का स्तब्ध वातावरण गम्भीर नाद से गूँज उठा। उस  
गुंजन से कृपा के कण बरस रहे थे।

विशाल द्वार के पटों में एक छिद्र खला। छिद्र से एक तरुण भिक्षु ने निद्रा-

लसित प्रशनात्मक दृष्टि से दारा की ओर देखा। दारा अकुला उठी—“भन्ते, शरण चाहती हूँ ! बुद्ध की शरण, धर्म की शरण, संघ की शरण चाहती हूँ !”

तर्षण भिक्षु के नेत्र अदृश्य हो गये। छिद्र मुंद गया। प्रतीक्षा में कांपती हुयी दारा ने द्वार के पट से सिर टिका दिया। कुछ क्षण पश्चात द्वार के पट का एक भाग खुला। एक कर्णामूर्ति पौढ़ स्थविर प्रकट हुये। कम्पित तन और कम्पित स्वर से दारा पुकार उठी—“शरण दयामय, धर्मपिता शरण !”

शान्त मुद्रा में कृपा-हस्त उठाकर स्थविर ने आश्वासन दिया—“चित्त को स्थिर करो, उपासिका !”

युवक भिक्षु ने विहार के द्वार के सम्मुख अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बने पत्थर के चौतरे पर एक कुशासन बिछा दिया। स्थविर ने आसन ग्रहण कर दारा को सम्मुख बठने का संकेत कर प्रश्न से सम्बोधन किया—“हे उपासिके, चित्त का संकल्प कहो।”

दारा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से स्थविर के सम्मुख याचना की—“कर्णा के सागर भन्ते, इस अभागी सन्तान और इसकी माता के लिये शरण की भिक्षा।”

कुछ विचार के पश्चात स्थविर ने उत्तर दिया—‘देवी, जिन सांसारिक उपकरणों की इच्छा तुम करती हो वे बुद्ध की शरण, धर्म की शरण और संघ की शरण के मार्ग में नहीं हैं।’

दारा कलप उठी—“नहीं पिता, दासी कुछ इच्छा नहीं करती। केवल अत्याचार से शरण मांगती है। कृपामागर, तथागत की शरण में दासी केवल अपनी सन्तान को पा सके।”

स्थविर के शान्त मुख पर कर्णा की मुस्कान प्रकट हुई। वे बोले—“देवी; संसार के सभी सम्बन्ध मोह हैं, दुख का कारण हैं। मोह से संक्लेशित चित्त शान्ति और शरण नहीं पा सकता।”

दारा स्थविर के मुख की ओर निष्पलक देखती रह गई। निराशा ने उस की व्यग्रता को दबा दिया। वह पुनः साहस कर बोली—“हे धर्मपिता, दासी तथागत के सर्वभूत दया के धर्मचक्र में, इस विहार में शरण की भिक्षा मांगती है। दासी विनय और शील का पालन कर त्रिशरण में मोह से मुक्ति पायगी।”

स्थविर की अद्रवित, शान्त मुद्रा की ओर कुछ क्षण निष्पलक देखती रह कर दारा ने शाकुल को स्थविर के चरणों के समीप रख, अपना मस्तक चौतरे पर टिका कर फिर याचना की—“देव, इस असहाय के लिये दासी धर्म की शरण

चाहती है। दासी धर्म का पालन करती हुई मोह-मुक्त होकर चेरी धर्म ग्रहण करेगी।”

निद्रागत बालक कठोर पत्थर के स्पर्श से मुख खोल कर चीत्कार कर उठा। उस विरूपता से नेत्र मूंद कर स्थविर ने आदेश दिया—“देवी, बालक को अंक में ग्रहण करो।”

स्थविर ने प्रश्न किया—“चेरी धर्म ग्रहण करने की इच्छा करने वाली तुम कौन हो?”

“धर्मपिता, मैं इस असहाय सन्तान की माता हूँ।” दारा ने उत्तर दिया।

“क्या तुम्हारे चेरी धर्म ग्रहण करने में तुम्हारे पति की अनुमति है?” स्थविर ने कुछ विचार कर, दृष्टि झुकाये प्रश्न किया।

“नहीं देव, पति नहीं है।” दारा ने स्थविर के मुख की ओर देख कर अस्वीकार किया।

“यदि तुम्हारा पति नहीं है तो क्या तुम्हारे पिता की अनुमति तुम्हारे चेरी धर्म ग्रहण करने में है?” स्थविर ने पुनः प्रश्न किया।

दारा ने पुनः सिर हिला कर अस्वीकार किया—“नहीं देव, पति नहीं है, पिता भी नहीं है।”

ग्रीवा झुकाये ही स्थविर फिर बोले—“यदि पति और पिता नहीं है तो क्या तुम्हारे पुत्र की अनुमति चेरी धर्म ग्रहण करने में है?”

“देव, दासी का पुत्र भी अनुमति देने योग्य नहीं।” दारा ने पुनः अस्वीकृति में सिर हिलाया।

स्थविर उसी प्रकार निश्चल रहे। उन्होंने पुनः प्रश्न किया—“यदि तुम दासी हो तो क्या अपने स्वामी की अनुमति से चेरी धर्म ग्रहण करने की इच्छा करती हो?”

“नहीं देव,” दारा ने पुनः सिर हिलाकर कातर स्वर में उत्तर दिया “दासी शरण के लिये प्रार्थना करती है।”

स्थविर ने अपने झुके हुये नेत्र उठाये। दारा की ओर देखकर वे बोले—“देवी धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।”

दारा अपने दुर्भाग्य से हतचेतन होकर स्थविर के मुख की ओर देखती रह गयी। उन्हें आसन से उठने देख ड्राथ जोड़ कर उसने निवेदन किया—“परन्तु

देव, भगवान् तथागत ने तो वेश्या अम्बपाली को भी संघ में शरण दी थी !”

“वेश्या स्वतंत्र नारी है, देवी ।” स्थविर ने आसन से उठते हुये उत्तर दिया । हतचेतन दारा मुक्त-ओष्ठ रह कर स्थविर की ओर देखती रह गयी । स्थविर द्वार के भीतर अदृश्य हो गये । युवक भिक्षु भी कुशासन समेट कर द्वार के पटों के पीछे चला गया । द्वारा के पट मुंद गये । ताप से हू-हू करती संतप्त वायु अश्वत्थ वृक्ष के पत्रों में आश्रय खोजती रही । दारा उसी प्रकार मुक्त-ओष्ठ शाकुल को लिये चौतरे पर बैठी रही । उसका जड़ मस्तिष्क कुछ भी सोचने समझने में असमर्थ था । उसे केवल सुनाई दे रहा था—‘वेश्या स्वतंत्र नारी है, देवी ?’

शाकुल ने रोकर दारा को सचेत किया । शिशु का क्रन्दन रोकने के लिये उसने अपना स्तन शिशु के सुख में दे दिया । शुष्क स्तन को काट कर भी दूध पाने में असमर्थ बालक और भी चीत्कार कर उठा । अधिक समय तक आत्म-विस्मृत अथवा हलचेतन रहने की सुविधा भी दारा को न थी । अपने पेट में कुछ डाल कर बालक की क्षुधा का उपाय करना आवश्यक था । स्वयं उसे क्षुधा की चेतना न थी परन्तु बालक की क्षुधा से उसके उदर की आँतें अकुला उठीं ।

दारा चौतरे से उठी । श्रान्ति और असामर्थ्य से उसके पाँव डगमगाये । बाहुओं ने शाकुल के भार से निबलता अनुभव की; जैसे शिशु उसकी गोद से गिर पड़ेगा । पल भर में उसने अपना शरीर वश में किया । अश्वत्थ की छाया छोड़ वह फिर सूर्य की प्रखर किरणों से झुलसती पृथ्वी पर, तप्त धूल से भरी, हू-हू करती ऊष्ण वायु के झोंकों में शाकुल को हृदय से चिपटाये चल पड़ी ।

दारा शरण की आशा में दौड़ती जिस मार्ग से आई थी, उसी मार्ग पर वह शिथिल पदों से लौट रही थी । भय के कारण अपने शाकुल के लिये शरण ढूँढ़ने वह पुरोहित के घर से निकल पड़ी थी । अब वह और उसका शाकुल दोनों ही अशरण थे । दाहण व्यथा और आघात से उसके जड़ हो गये मस्तिष्क में केवल एक ही बात स्पष्ट थी—वेश्या स्वतंत्र नारी है । परतंत्र होने के कारण उसके लिये कहीं शरण और स्थान नहीं । दासी होकर वह परतंत्र हो गयी ?

दारा का मस्तिष्क झुंझला उठा—वह स्वतंत्र थी ही कब ? ... अपनी सन्तान को पा सकने की स्वतंत्रता के लिये ही उसने दासत्व स्वीकार किया । अपना शरीर बेच कर उसने इच्छा की स्वतंत्र रखना चाहा परन्तु स्वतंत्रता मिली कहाँ ? कुल-नारी के लिये स्वतंत्रता कहाँ ? ... केवल वेश्या स्वतंत्र है ।

दारा ने निश्चय किया—अपनी सन्तान के लिये वह स्वतंत्र होगी ।

दिन के चौथे पहर सूर्य मथुरापुरी की विशाल अट्टालिकाओं की ओट हो जाने से पथों और वीथियों पर छाया हो गयी । क्लान्त, विरूप दारा शाकुल को श्रान्त बाहुओं से शुष्क स्तनों पर चिपकाये पुनः नगर के पथों और वीथियों पर भटक रही थी । अट्टालिकाओं की छाया में शरण पाकर पथ और वीथियाँ जाग उठी थीं । पथ पर आते-जाते नागरिकों में से एक को दारा ने सम्बोधन किया—“नागरिक, वेश्याओं का मार्ग किस ओर है ?”

समीप से जाते दूसरे नागरिक ने परिहास किया—“नारी को वेश्याओं से प्रयोजन ?”

अपनी श्रान्त बाहुओं से फिसलती सन्तान के बोझ को संभालने की चेष्टा करते हुये दारा ने उत्तर दिया—‘ मैं वेश्या बनूंगी । ’

परिहास करने वाला नागरिक दारा के मुख का भाव देख कर मोन रह गया परन्तु समीप से जाते दूसरे दो नागरिकों में से एक ने दारा के कंकाल मुख, बिखरे केशों, घंसे नेत्रों और फटे मलिन वस्त्रों की ओर संकेत कर अट्टहास से कहा—“आहा, क्या ही तो रूप-लावण्य है और क्या गुण और कैसी शोभा ! यह वेश्या बनेगी तो मथुरापुरी का रसिक समाज अपने नेत्रों की मणि रत्नप्रभा को भी भूल जायगा ।”

प्रथम परिहास करने वाले युवक ने दारा के समीप आकर भर्त्सना के स्वर में कहा—“तू वेश्या बनना चाहती है ? माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन कर समाज की शत्रु बनना चाहती है ? धन के लोभ में अपना शरीर और अपनी मातृत्व की शक्ति बेचना चाहती है ? हतभागी, तू वेश्या बनने योग्य भी नहीं । विलासी को द्रव्य के मूल्य में तू क्या देगी ? तू लुट चुकी है । किसी ने तेरा रस चूस कर फल्गु-मात्र छोड़ दिया है । तेरी आकर्षक शोभा लुट चुकी है, केवल दुर्भाग्य शेष रह गया है । चूसी जाकर जीवन के अयोग्य होकर जीवित रहने का मोह छोड़ दे ! असमर्थ को जीने का अधिकार नहीं है । जा, तू यमुना की शीतल धार में विश्राम ले !”

यात्रा की उपेक्षा में बड़े हुए श्मश्रुओं के कारण आरम्भ में दारा नागरिक को पहचान न सकी थी परन्तु उसके स्वर से पहचान गयी । वह उसका नाम लेकर पुकार उठना चाहती थी परन्तु युवक उसे बोलने का अवसर न दे विकृत स्वर में कहता गया—“शिशु की क्षुधा शान्त करने के लिये वेश्या बनना चाहती

है तो अभागी जा, यमुना तट पर जा। श्रेष्ठी पद्मनाभ तुम जैसे दीनों का द्रव्य समेट कर, उन्हें क्षुधातं बनाकर और उन्हें भोजन देकर अपने परलोक के लिये पुण्य संचय कर रहा है। जा, उसके यहां से भिक्षा का भोजन ले और उसे पुण्य दे।”

दिव्या ने नागरिक का नाम पुकारने के लिये पुनः श्वास लेकर ओंठ खोले परन्तु वह घृणा से मुख मोड़ कर अनेक पग आगे बढ़ चुका था। कुछ क्षण उस की ओर देखती रह कर, हृदय में भरा निःश्वास छोड़ कर, बाहों में रो-रो कर सो गये शाकुल को सभालते दारा नागरिकों से यमुना तीर पर पद्मनाभ के क्षेत्र का मार्ग पूछती चल पड़ी। उसके बाहु और चरण प्रतिक्षण शिथिल होते जा रहे थे।

सन्ध्या समय यमुना का प्रस्तर-मण्डित तट अत्यन्त जनाकीर्ण था। श्रेष्ठी पद्मनाभ के अन्न-क्षेत्र के मध्य से यज्ञ का पवित्र धूम मंडराता हुआ आकाश की ओर उठ रहा था। कंगालों का समूह अन्न-क्षेत्र की घेरे परस्पर एक-दूसरे को ठेलता हुआ अन्न-क्षेत्र के द्वार पर एकत्र था। दारा बाहुओं में निरन्तर चीत्कार करते शिशु और अपने शिथिल शरीर का बोझ उठाये, कम्रित चरणों से कंकाल समूह में से द्वार की ओर बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। सहसा पीछे से उसने ललकार सुनी—“पकड़ो-पकड़ो, भगोड़ी दासी जा रही है, पकड़ो !”

दारा ने पहचाना—उसके पुरोहित स्वामी का ही स्वर था। पुरोहित बार-बार भगोड़ी दासी को पकड़ने के लिये ललकार रहा था।

पुरोहित चक्रधर की पुकार से सहानुभूति में और लोग भी भगोड़ी दासी को घेर कर पकड़ने के लिये ललकारने लगे। दारा को अपने पीछे, दायें, बायें सब ओर पकड़ने वाले अनुभव होने लगे। केवल सम्मुख जलधार की ओर ही किसी पकड़ने वाले को न देख कर वह उसी ओर शाकुल को हृदय से चिपकाये दौड़ी। पुरोहित की ललकार निरन्तर दारा का पीछा कर रही थी। दारा घबराकर शाकुल को हृदय से चिपकाये, पुनः पुरोहित के हाथ पड़ने की अपेक्षा मृत्यु ही श्रेय जान ऊंचे तट से जल में कूद पड़ी।

ज्येष्ठ मास के प्रखर सूर्य से तप्त भवनों की ऊष्मा से त्राण और संख्या की शीतलता का सुख पाने के लिये मथुरापुरी के अनेक सामन्त, राजपुरुष और श्रेष्ठी नदी तट पर बबरो में जल-विहार कर रहे थे। ऊंचे तट के जिस स्थान से भगोड़ी

दासी जल में कूड़ पड़ी थी, वहाँ शूरसेन प्रदेश की जनपद कल्याणी राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा का बजरा सब से समीप था। रत्नप्रभा के आदेश से सेवकों ने डूबती हुयी स्त्री को तुरन्त जल से निकाल कर बजरे पर लिटा दिया। उस समय भी उसका शिशु उसके शुष्क स्तनों पर कृण बाहुओं से बंधा था।

करुणा से द्रवित देवी रत्नप्रभा ने मूर्छित स्त्री के बाहुपाश से शिशु को अपनी बाहों में ले लिया। शिशु निष्प्राण हो चुका था। मृत शिशु को एक ओर रख कर व्यथा का निःश्वास ले कर रत्नप्रभा ने दासी का जल और शैवाल से भरा सिर, अपने बहुमूल्य कौशेय शाटक की चिन्ता न कर गोद में ले लिया। देवी की दासी और सेवक, स्त्री को सचेत करने के लिये उसे सुगंध सुंघाने और व्यजन से वातास करने लगे। अनेक नौकार्यों और बजरे रत्नप्रभा के बजरे के चारों ओर घिर आये। तट पर और नौकाओं में कोलाहल उठ खड़ा हुआ।

देवी रत्नप्रभा और उसके सेवकों के यत्न से दारा सचेत हुयी। नेत्र उघाड़ते ही उसने अवरुद्ध व्याकुल स्वर में पुकारा—“मेरा... मेरा शिशु शाकुल ?” दारा के सिर पर स्नेह का हाथ रख कर रत्नप्रभा ने सात्वना दी, “भद्र, शान्त हो, तुम्हारा शिशु सुरक्षित है।”

दारा इस अप्रत्याशित व्यवहार से रत्नप्रभा की ओर देखती रह गयी। उसने नेत्र फैला कर चारों ओर देखा—क्या वह तात धर्मस्थ के प्रासाद में पहुंच गयी है ? ...क्या वह स्वप्न देख रही है ?

नदी तट पर चिल्लाते हुये पुरोहित चक्रधर का शब्द उसके कानों में पड़ा—“यह भगोड़ी दासी मेरी सम्पत्ति है। इसे मुझे लौटा दो। मैं इसे बाध कर राजस्थान में दण्ड के लिये ले जाऊंगा। यह चोर है। मैंने इसे दास व्यवसायी भूधर से पचास मुद्रा में क्रय किया है।”...चक्रधर दुहाई दे रहा था।

भय से कांप कर दारा ने दोनों हाथों से रत्नप्रभा का बहुमूल थाम कर विह्वल स्वर में प्रार्थना की—“आर्य, रक्षा करो ! इस अधिक पुरोहित से रक्षा करो ! यह मेरी सन्तान के प्राण लेगा, मेरे प्राण लेगा। आर्य, मैं वेश्या बनूंगी। वेश्या बन कर ब्राह्मण का ऋण दूंगी। आर्य, मैं कलाविद हूं। मैं वेश्या बनूंगी। आर्य, दासत्व असह्य है।

पुरोहित चक्रधर नदी तट से निरन्तर ऊंचे स्वर में भगोड़ी दासी उसे लौटाई जाने की गुहार कर रहा था। नदी तट और बजरो के कोलाहल के ऊपर आकाश को बँधता हुआ राजसी तूर्य का शब्द सुनाई दिया। सब ओर सम्भ्रम से

स्तब्धता छा गयी। उस शान्ति में घोषणा सुनाई दी—‘नागरिक जन सावधान ! परमभट्टारक प्रजापालक धर्मरक्षक महाउपरिक पराक्रमी रवि शर्मा पधार रहे हैं ।’

सूचना पाकर बजरो ने सम्भ्रम से मार्ग छोड़ दिया। तट का कोलाहल शान्त हो गया। स्वर्णछत्र से छाया, सोलह नाविकों द्वारा चालित वज्ररा देवी रत्नप्रभा के वजरे के समीप आ खड़ा हुआ। नदी के तट और जल पर एकत्र जन ने झुक-झुक कर महाउपरिक का अभिवादन कर जयघोष किया। स्वर्णछत्र की छाया में शुभ्र उपधान के आश्रय में बैठे रवि शर्मा ने स्मित बदन में देवी रत्नप्रभा का अभिवादन कर मंगल क्षेम पूछा।

महाउपरिक के वजरे के अग्रभाग पर खड़े, रक्त उष्णीशधारी चारण ने पुनः घोषणा की—“परमभट्टारक प्रजापालक धर्मरक्षक महापराक्रमी महाउपरिक ने प्रजाजन में अशान्ति और असन्तोष देख कर इस स्थल पर पधारने की कृपा की है। प्रजापालक धर्मरक्षक का आदेश है—जो जन पीड़ित हो, जो जन न्याय चाहता हो, परमभट्टारक के धर्मास्थान में न्याय के लिये निर्भय प्रार्थना करे।”

तट पर खड़े ब्राह्मण ने मस्तक झुका कर, करबद्ध हो निवेदन किया—“मैं, यज्ञनिष्ठ विप्र वरुणधर-अपत्य यज्ञनिष्ठ चक्रधर, इन्द्रदेव की शपथ ग्रहण कर निवेदन करता हूँ, धर्मरक्षक महाराज के सम्मुख देवी रत्नप्रभा की नौका में उपस्थित दारा नामक काश्मीरी यवन दासी, यज्ञ की बलि से क्रीत मेरी दासी है। दासी कर्तव्य-विमुख हो मेरे घर से पलायन करके आयी है। परमभट्टारक धर्मरक्षक महाराज दामी दारा मुझे सौंपी जाने की आज्ञा दें।”

देवी रत्नप्रभा ने अपने आसन पर खड़ी होकर मस्तक झुका कर प्रार्थना की—“परमभट्टारक धर्मरक्षक महाराज के धर्मास्थान में शूरसेन प्रदेश की जनपदकल्याणी रत्नप्रभा प्रार्थना करती है कि इस पीड़ित दासी का मूल्य वह ब्राह्मण को देकर इस दासी को पा सके।”

महाउपरिक ने दृष्टि रत्नप्रभा की ओर कर उत्तर दिया—“देवी, किसी की सम्पत्ति को बलात् मूल्य देकर क्रय नहीं किया जा सकता। धर्मास्थान में धनी और रंक समान हैं।”

पुरोहित चक्रधर ने बाहु आकाश की ओर उठा कर आशीर्वाद दिया—“धर्मावतार परमभट्टारक की जय हो। यह दासी यज्ञनिष्ठ दीन ब्राह्मण की रोगी

स्त्री की सन्तान की धात्री है । द्विजपालक धर्मावतार, ब्राह्मण की संतान को प्राणदान दें । यही दासी ब्राह्मण-सन्तान के प्राण का अवलम्ब है ।”

रत्नप्रभा ने पुनः करबद्ध होकर निवेदन किया—“परमभट्टारक धर्मरक्षक के धर्मास्थान में नर्तकी ब्राह्मण सन्तान के लिये अग्न्य धात्री दासी त्रय करने के लिये यथेष्ट मूल्य देने के लिये प्रस्तुत है ।”

महाउपरिक ने हाथ उठा कर रत्नप्रभा को उत्तर दिया—“देवी, न्याय व्यक्ति की इच्छा का अनुसरण नहीं करता । उसका उद्देश्य धर्म की रक्षा है । दासी ने स्वामी गृह से पलायन कर अपराध किया है । ब्राह्मण ने दासी से सेवा प्राप्त करने के लिये उसके मूल्य में स्वर्ण दिया है । उस सेवा से दासी का विमुख होना चौरकर्म है । दासी ब्राह्मण की सम्पत्ति है । दासी ने आत्महत्या का प्रयत्न कर ब्राह्मण स्वामी को उसकी सम्पत्ति से वंचित करने का यत्न किया है ।”

“सत्य है धर्मरक्षक धर्मावतार ! परमभट्टारक की जय हो ।” पुरोहित ने पुनः बाहु उठा कर आशीर्वाद दिया ।

महाउपरिक ने रत्नप्रभा के बजरे की काष्ठ पीठ पर जानु टिकाये, कर जोड़े दासी दारा को सम्बोधन किया—“दासी, तुम ब्राह्मण को उसकी सम्पत्ति से वंचित करने के यत्न के कारण चौर-कर्म की अपराधी हो ।”

दारा ने बजरे के काष्ठ पर सिर टिका कर दुहाई दी—“धर्मावतार, दासी के अपराध के लिये दासी को पुत्र-सहित मृत्युदण्ड की आज्ञा हो । दासी देव के न्याय से कृतार्थ होगी ।”

महाउपरिक ने अस्वीकृति में सिर झुला कर उत्तर दिया—“नहीं दासी; दण्ड अपराधी की इच्छा से नहीं हो सकता । ब्राह्मण की दासी और उस दासी की सन्तान दोनों ही ब्राह्मण की सम्पत्ति हैं । सम्पत्ति की इच्छा से सम्पत्ति का उपयोग नहीं होता ।”

पुरोहित ने पुनः बाहु उठा कर आशीर्वाद दिया—“सत्य है न्यायमूर्ति, धर्म-रक्षक, धर्मावतार ! परमभट्टारक की जय हो ।”

महाउपरिक ने दासी को पुनः सम्बोधन किया—“दासी ने आत्महत्या के पाप का प्रयत्न क्यों किया ?”

“पुरोहित के दासत्व, क्षुधा और अपनी संतान की क्षुधा से पीड़ित होकर धर्मावतार !” कपोलों पर आंशुओं की धार बहाते हुये दारा ने कर जोड़ कर निवेदन किया ।

रत्नप्रभा कर जोड़े करुणा-विगलित स्वर में बोली—“धर्मरक्षक देव, दासी दारा के अपराध के दण्डस्वरूप यह नर्तकी स्वर्ण-दण्ड के रूप में जो आज्ञा हो, पूर्ण करने के लिये प्रस्तुत है।”

महाउपरिक ने नर्तकी की ओर प्रतीक्षा के संकेत में हाथ उठा कर पुरोहित को सम्बोधन किया—“शास्त्र और न्याय के ज्ञाता ब्राह्मण, इस दासी का संतान-सहित आत्महत्या करने का प्रयत्न इसके पीड़ित होने का प्रमाण है। ब्राह्मण, तुम धर्मास्थान के सम्मुख दासपीड़न के अपराध में अभियुक्त हो।”

पुरोहित का मुख पीला पड़ कर उसका स्वर कांप गया—“पीड़न नहीं धर्मावतार ! ...यह दामी सेवा से विमुख और स्वामी की विरोधिनी है।” ब्राह्मण ने निवेदन किया।

“ब्राह्मण, सेवा ग्रहण करना स्वामी का अधिकार है, प्राण ग्रहण करना। नहीं।” कठोर स्वर में महाउपरिक बोले, “देवता जीवों को प्राणदान देते हैं। वे ही प्राण ग्रहण भी कर सकते हैं। पृथ्वी पर राजा देवता का प्रतिनिधि है और केवल राजा को ही प्राण ग्रहण करने का अधिकार है। दास भी द्विज के समान राजा की प्रजा है।

‘इस दासी की संतान कहाँ है?’ महाउपरिक ने प्रश्न किया।

रत्नप्रभा ने सिर झुकाये उत्तर दिया—“धर्मावतार, अभागी दासी की संतान निर्जीव है।”

दारा मूर्छित होकर बजरे के काण्ठ पर लुढ़क गयी। रत्नप्रभा और उसके सेवकों ने उसे जल में गिरने से सम्भाल लिया। इस काण्ड से उपस्थित जनसमूह सिहर उठा। केवल महाउपरिक स्थिर और मौन बने रहे। उन्होंने पुनः सम्बोधन किया—“ब्राह्मण, तुमने इस दासी का क्या मूल्य दिया था?”

“धर्मावतार, पचास स्वर्ण-मुद्रा।”

“ब्राह्मण, दासी-पुत्र की हत्या के अपराध में तुम्हें दो सौ स्वर्ण मुद्रा राज-दण्ड स्वरूप राज्यकोष में देना होगा। यह दासी राज-आस्थान के अधिकृत रहे। पुनः राज्य की ओर से उसका विक्रय हो।”

चक्रधर भय से कांप उठा। आर्तनाद से उसने प्रार्थना की—“धर्मावतार, दीन ब्राह्मण पर दया हो ! यज्ञ-बलि से जीविका पाने वाला ब्राह्मण इतना धन इस जन्म में न पा सकेगा।”

‘तुम नर-हत्या के अपराधी हो !’ महाउपरिक का स्वर कठोर हो गया,

‘शास्त्र ब्राह्मण को मृत्यु और कारावास का दण्ड नहीं देता । तुम मुख में तृण रख कर नगर-ग्राम में भिक्षा मांग कर राज्य-दण्ड पूरा करोगे । आवश्यकता होने पर तुम्हारी सन्तान के पालने के लिये राज्यकोष से दान दिया जायगा ।’

मूर्छित दासी की ओर दृष्टि कर उन्होंने कहा—“और इस दासी को स्वामीगृह से पलायन के अपराध में घमस्स्थान से पीठ पर चार कषा (कोड़े) दण्ड दिये जायें ।” उपस्थित जन इस आज्ञा से कांप उठे ।

देवी रत्नप्रभा के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली ।

महा उपरिक गम्भीर स्वर में बोले—“दासी की निर्बल और रुग्णावस्था के कारण उसे कषा का दण्ड चंवर के केशों से दिया जाय !”



## अंशुमाला

रत्नप्रभा का विचार था कि दारा को अपनाकर उसने कीचड़ में से कांष पाया परन्तु दारा तो मणि निकाली ।

संध्या समय समाज में रत्नप्रभा की प्रधान शिष्या मुक्तावली मयूर लय पर नृत्य कर रही थी । दारा ताम्बूल-आधार लिये स्वामिनी की सेवा में उपस्थित थी ।

दृष्टि मुक्तावली की ओर लगाये ही रत्नप्रभा ने ताम्बूल के लिये दारा की ओर हाथ बढ़ाया । हाथ में ताम्बूल न पाने से उसने देखा, दासी अत्यन्त तन्मय होकर मुक्तावली की गति की ओर दृष्टि लगाये थी । दृष्टि की अत्यन्त एकाग्रता के कारण उसकी भ्रुकुटी पलकों पर झुक आई थी । रत्नप्रभा विनोद में मुक्तावली को भूल कर दारा की एकाग्रता देखती रही ।

सहसा दारा के मुख से निकला—“आह, भंग...!” और ताम्बूल-आधार उसके हाथों से गिर पड़ा ।

मुक्तावली थम गई । पात्र की झनझनाहट से दारा को चेत हुआ । अत्यन्त संकुचित और त्रस्त हो कर उसने स्वामिनी और मुक्तावली दोनों से ही क्षमा-याचना की । रत्नप्रभा ने उस शिष्टाचार की उपेक्षा कर दारा को मयूरी-नृत्य शुद्ध रूप में पूर्ण करने का आदेश दिया । दारा ने अत्यन्त विनय से असामर्थ्य और अज्ञान प्रकट कर अभद्रता के लिये पुनः क्षमा मांगी ।

रत्नप्रभा ने आग्रह किया—“नहीं दारा, नृत्य-कला से तुम परिचित हो, यह निस्संदेह है...।” सहसा स्मरण होने से उसने कहा, “अहा, उस दिन नदी पर तुमने कहा था तुम कलाविद हो...नर्तकी बनोगी ।”

स्वामिनी के हठ से विवश होकर दारा संकोच और मन की विरक्ति से अप्रतिभ सी अवस्था में नृत्य के लिये प्रस्तुत हुयी । वीणा और मृदंग बजने लगे ।

विश्व दारा के पदों ने लय पर गति आरम्भ की। वयोवृद्ध वादक रोहित नवीन नर्तकी के पदाक्षेप से तुरन्त उसकी क्षमता भांप गया। उसने लय को द्रुत और विलम्बित अनेक गतियों में बजाया। दारा कहीं न उखड़ी। कुछ समय नृत्य करने के पश्चात् दारा उस में आत्म-विस्मृत हो गयी। अपने प्राणों में लय भर कर वह इतनी सूक्ष्मता और वेग से नाची कि वृद्ध रोहित की उंगुलियां पिछड़ने लगीं। उसके मस्तक से स्वेद की धारायें बह निकलीं। दर्शक चित्रित मूर्तियों की भांति अवाक् रह गये।

रत्नप्रभा चिबुक पर उंगली रखे विस्मय-विचित्रित सी बैठी थी।

नृत्य समाप्त कर दारा ने स्वामिनी के सम्मुख प्रणाम किया। विस्मय का सम्मोहन समाप्त होने पर रत्नप्रभा अपने आसन से उठी। अपने कण्ठ की मणि-माला उतार दारा को पहना कर उसे आलिंगन में ले बोली—'सखी, सागल, मगध और तक्षशिला के अतिरिक्त कला की ऐसी पूर्णता कहीं सम्भव नहीं। सखी, यह गुण गुरु की विशेष कृपा और देवी सरस्वती के वरदान बिना सम्भव नहीं। सखी, तुम में मेरी गुरु-देवी मल्लिका का अंश है। सत्य कहो, यह रत्न कहाँ पाया?'"

विनय से सिर झुका कर दारा ने कृतज्ञता से गद्गद् स्वर में उत्तर दिया—  
"सरस्वती की वरद पुत्री उन्हीं देवी को नमस्कार है।"

रत्नप्रभा दारा के प्रति दयालु थी। उसका गुण और रहस्य जान कर वह उस पर आदर से अनुरक्त हो गयी। रत्नप्रभा सोचती रही और उसने दारा का नाम रख दिया—अंशुमाला।

नाम बदलने के साथ पुनः दिव्या का संसार बदल गया। द्रव्य और विलास के प्रवाह में, संगीत और नृत्य के भंवर में वह हंस-शावक की भांति अविश्रित, निलिप्त तैरने लगी। उसके दुख के दुर्भेद्य कवच के भीतर उस विलास और विनोद के भंवर के जल की एक भी बूंद न गयी।

अंशुमाला की मुस्कान और लास्य केवल कला का कर्तव्य मात्र था। समाज से पृथक् होते ही वह निस्संग और तटस्थ हो जाती; जैसे जल से बाहर निकल आने पर हंस-शावक अपने पर झाड़ कर जल की बूंद से रहित हो जाता है। उसका मन दाहण और बीभत्स स्मृतियों के दुर्भेद्य आवरण में वेष्टित था। उस के मन में शाकुल का वियोग व्याप्त था।

रसिक समाज अंशुमाला की मोहक लास्य और चमत्कारपूर्ण कला पर

निछावर होकर विभोर हो उठता। अमृत्य उपहारों की भेंट रत्नप्रभा के आसन के सम्मुख एकत्र हो जाती। अंशुमाला यह कुछ न देखती। उसकी अन्तर्गत दृष्टि के सम्मुख शाकुल के क्षुधार्त भोले नेत्र उज्ज्वल हो उठते। शाकुल के वियोग में उसकी पीड़ा की पुकार श्रोताओं के हृदय में प्रवेश कर, करुण रस के गीतों के श्लेष को अनुभूति स्थूल सत्य का उग्र रूप देती। नृत्य में उसकी आत्मारति अदृष्टपूर्व थी।

रत्नप्रभा का प्रासाद केवल मथुरा नगरी में ही नहीं, सम्पूर्ण शूरसेन प्रदेश और उससे अधिक दूर के प्रदेशों के लिये भी कला का तीर्थ था। अब उसकी ख्याति मगध, कौरव, कठ और मद्र तक पहुँच गयी। संध्या समय उसके समाज में स्थान के लिये रसिकों में विवाद होने लगता। जिस समारोह में अंशुमाला कला का प्रदर्शन करती, मार्गों की रक्षा और व्यवस्था के लिये राजपुरुषों की उपस्थिति आवश्यक हो जाती। अंशुमाला की लोकप्रियता के कारण रत्नप्रभा के यहां पहले से दूना धन आने लगा। रत्नप्रभा और मुक्तावली के संगीत-नृत्य पर जहां पुष्प मालाओं और रजत मुद्राओं की भेंट आती थी, अब स्वर्ण मुद्रायें, रत्न और मणि मालायें बरसने लगीं। नाम था रत्नप्रभा का, वास्तविकता थी अंशुमाला।

रत्नप्रभा के प्रासाद में अंशुमाला की आकर्षण शक्ति का दूसरा परिणाम भी सम्मुख आया। श्रेष्ठी युवक, सामन्तगण और राजपुरुष पुष्पमालायें लेकर आते। यथेष्ट द्रव्य रत्नप्रभा के सम्मुख अर्पण कर अंशुमाला को जल-विहार अथवा कानन-विहार के लिये साथ ले जाना चाहते। रत्नप्रभा की कृपा और अनुग्रह के प्रार्थी अब उसके प्रासाद में आकर अंशुमाला के लिये व्याकुल रहते। बिना चिन्ता और प्रयत्न के बहते चले आने वाले द्रव्य के लिये रत्नप्रभा को कुछ आकर्षण न रहा। अपने आकर्षण की शक्ति खो बैठने से एक नीरसता और निरुत्साह-सा उसे सब ओर अनुभव होने लगा।

रत्नप्रभा स्वयं पूजा की प्रतिमा न रह कर नयी आई प्रतिमा की संरक्षिका स्वामिनी और अधिष्ठात्री बन गई। अंशुमाला की स्तुति और अनुराग की भेंट में आने वाला सब द्रव्य उसी का था। आत्मसात् हो मुस्कराकर वह मन को समझाती—मेरे जीवन में आकर्षण का प्रयोजन और फल है ही क्या? द्रव्य ही तो मेरा प्रयोजन है!—फिर न्यूनता क्या है; अभाव क्या है? परन्तु मन न मानता। न्यूनता की अनुभूति कहती—धन का उपयोग क्या है? धन का उपयोग भोग

में है। वह उसे किस प्रकार भोगे ? सुन्दर वस्त्र, आभूषण, भव्य भवन सब कुछ है परन्तु वे क्या संतोष देते हैं ? वे जीवन का लक्ष नहीं, केवल उपकरण मात्र हैं। उन्हें देखता ही कौन है ? ऐसे ही जैसे पिञ्जरा स्वर्ण का रहने पर भी महत्व कुछ पण्य की सारिका का ही होता है।

वह सोचने लगती—अठारह वर्ष पूर्व, जब वह अपनी शिक्षा मल्लिका के प्रासाद में पूर्ण कर मथुरापुरी लौटी थी, जनसमाज उसकी ओर झूम पड़ा था। उस समय कौमुदी ने उससे कितनी ईर्ष्या की थी परन्तु कौमुदी की ईर्ष्या किस बात के लिये थी ? उसने ऐसा क्या पाया था, जो उसका ही हो कर रह गया ? यही है वेश्या के जीवन का विद्रूप ! यही है उसकी सफलता, समृद्धि और आत्मनिर्भरता ! वेश्या देती है अपना अस्तित्व और पाती है केवल द्रव्य परन्तु पराश्रिता कुलवधू अपने समर्पण के मूल्य में दूसरे पुरुष को पाती है, किसी दूसरे पर भी अधिकार पाती है।...वेश्या का जीवन मोटी बत्ती और राल मिले तेल से पूर्ण दीपक की अनुकूल वायु में अति प्रज्वलित लौ की भांति या उल्कापात की भांति क्षणिक तीव्र प्रकाश करके शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। कुलवधू का जीवन मध्यम प्रकाश से चिरकाल तक टिमटिमाते दीपक की भांति है। ममता भरी शरण के हाथ, प्रतिकूल परिस्थितियों के झंझावात में उसकी रक्षा करते हैं। वह अपने निर्वाण से पूर्व अपने अस्तित्व से दूसरे दीप जला कर अपना प्रकाश उनमें देख पाती है। स्वयं उसके निर्वाण हो जाने पर भी उसका प्रकाश बना रहता है।...ऐसी परम्परा ही मनुष्य की अमरता है—मारिश के शब्द उसे प्रायः ही स्मरण हो आते।

मूर्तिकार चारवाक मारिश के अनेक कथन प्रायः रत्नप्रभा को स्मरण हो आते और उन शब्दों से सम्बद्ध स्मृतियाँ भी। पहले-पहल तीन वर्ष पूर्व वह युवक सिर पर असमय में पके केश लिये, दक्षिणापथ से सागल लौटता हुआ उसके यहाँ आया था। वह समाज में उपस्थित हुआ। उसके रूप और वेश ने रत्नप्रभा का ध्यान आकर्षित नहीं किया। समाज के अनन्तर भी वह प्रासाद में उपस्थित रहा। रत्नप्रभा के विश्राम के समय उसने साक्षात्कार के लिये अनुरोध किया। रत्नप्रभा की अस्वीकृति से अनुत्साहित होकर उसने दासी द्वारा उत्तर दिया—“हां, नर्तकी का व्यवहार उचित ही है। उसकी संगति से संतोष की इच्छा मैं करता हूँ परन्तु इस संतोष का मूल्य द्रव्य से नहीं चुका सकता परन्तु द्रव्य के अतिरिक्त संसार में अन्य भी है...”

दासी द्वारा पाये मारिश के इस संवाद से हतप्रभ होकर रत्नप्रभा ने अनिच्छा से उसे साक्षात्कार का अवसर दिया। मारिश के व्यवहार में कुछ ऐसा था कि रत्नप्रभा उसकी उपेक्षा न कर सकी। वह कई पक्ष तक उसका अतिथि बना रहा। उसका अद्भुत प्रलाप आरम्भ में रत्नप्रभा के लिये केवल कौतूहल का हेतु था परन्तु कुछ ही समय में वह उस प्रलाप पर गम्भीरता से मनन करने लगी। वह और अधिक गम्भीर हो गयी।

रत्नप्रभा के हृदय में संतोष न था परन्तु विश्वास और आशा थी। अपने व्यवसाय से संचित द्रव्य का यथेष्ट भाग वह यज्ञ-बलि में अर्पण करती थी। उसे विश्वास था, पूर्व जन्म के कर्मफल से उसने इस जन्म में केवल ख्याति और धन पाया परन्तु जीवन की पूर्णता से वह वंचित रही। इस जन्म के पुण्य से वह इस पूर्णता को परलोक और पुनर्जन्म में पायेगी।

परिहासपूर्ण उपेक्षा से मारिश ने कहा—“देवी क्या सिर के पीछे से हाथ घुमा कर नाक पकड़ने के प्रयत्न में अधिक सुख मिलेगा?”

“ऐसा क्यों कहते हो? रत्नप्रभा ने विस्मय से पूछा।

“इसलिये कि,” मारिश ने उत्तर दिया, “परलोक में अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया यह त्याग त्याग नहीं। तुम्हारी आशा और विश्वास के अनुसार यह त्याग भोग की आशा का मूल्य है। भोग की इच्छा है तो साधन रहते भोग करो! आत्म-प्रवंचना कर वंचित होने से क्या लाभ? परलोक केवल अनुमान और कल्पना है, प्रत्यक्ष नहीं। जो तुम्हें परलोक का विश्वास दिलाता है, उसने परलोक को दूसरे के कथन मात्र से जाना है और दूसरे ने किसी और के कथन से। परलोक को स्वयं देखकर किसी ने उसके सत्य होने का साक्ष्य नहीं दिया। नित्य के व्यावहार में ऐसे प्रमाण पर कोई विश्वास न करेगा। ऐसे प्रमाण के आधार पर प्रकट स्थूल जीवन को न्योछावर कर देना क्या बुद्धिमानी है?”

रत्नप्रभा मारिश की ओर मोन देखती रह गयी। उसके तर्क का उत्तर न दे सकी। मारिश कहता गया—“सृष्ट्यु के बाद तुम परलोक किस प्रकार प्राप्त करोगी? जीवात्मा से? देवी, ब्रह्मादियों का जीवात्मा कुछ नहीं है। वह भी केवल अनुमान और कल्पना है। मनुष्य की विचार और अनुभव की शक्ति इस स्थूल शरीर के ही सूक्ष्म गुण हैं; वैसे ही जैसे स्थूल पृष्ण में सूक्ष्म सुगंध वास करती है, जैसे तेल और बत्ती के जलने की क्रिया का फल प्रकाश है। निर्वाण

पश्चात् दीपक का प्रकाश कहां जाता है ? दीपक या सूर्य से पृथक् होने पर प्रकाश का अस्तित्व कहां रह जाता है ? देवी, इसी प्रकार जीवात्मा को जानो । जीव से पृथक् आत्मा कहां है उसका अस्तित्व कैसे सम्भव है ? ]

“देवी,” मारिश ने उत्तेजित स्वर में कहा, “जिस स्थूल, प्रत्यक्ष जगत और शरीर का अनुभव सम्पूर्ण जन करता है उसे भ्रम मानना और जिस ब्रह्म और जीवात्मा की कल्पना केवल ब्रह्मवादी करता है, उसे सत्य मानना क्या युक्तियुक्त और बुद्धिसंगत है ? देवी, दूसरे के शब्द पर अन्धविश्वास करने की अपेक्षा अपनी अनुभूति और तर्क का आश्रय लो ? यह जीवन ही सत्य है । यह संसार ही सत्य है । जो पाना है, इसी जीवन में पाओ !”

अकेक क्षण मारिश की ओर अलक देखती रह कर चिन्ता के बोझ से दबे स्वर में रत्नप्रभा ने प्रश्न किया—“परन्तु आर्य, यह शरीर नश्वर है और इस शरीर द्वारा प्राप्य सुख भी नश्वर और अस्थायी है ।”

मारिश अधमुंड़े नेत्रों से विह्वलमयी तीव्र दृष्टि रत्नप्रभा के जिज्ञासा से फैले नेत्रों में डाल कर मुस्करा दिया—“शरीर नश्वर और अस्थायी है ? देवी अमरता चाहती हो ? अच्छा कहो, अपने चारों ओर जितने पदार्थ तुम देख पाती हो, उनमें से कितने सदा एक रूप, एक रस, एक गंध रहते हैं ? जिसे तुम नाश कहती हो, वह केवल परिवर्तन है । अमरता का अर्थ है अपरितन । कल्पना करो, संसार में कोई भी परिवर्तन न हो ? उस संसार में क्या सुख और आकर्षण होगा ?” मारिश उसकी ओर देखता रहा ।

कुछ क्षण विचार में मौन रह कर रत्नप्रभा बोली—“आर्य सत्य कहते हैं, अपरिवर्तनशील संसार सुखदायक न होगा !”

(मारिश बोला—“और फिर मनुष्य अमर ही है । सहस्र-सहस्र वर्षों चली आयी मनुष्य की परम्परा ही उसकी अमरता है ।” )

मारिश की संगति से रत्नप्रभा परलोक और अमरता की कामना से विरत होकर प्रस्तुत जीवन की सार्थकता की बात सोचने लगी । यथेष्ट द्रव्य पाकर भी स्वयं समाज के लिये भोग्य बने रहने में उसे जीवन की सार्थकता न जान पड़ती । कुलवधू के जीवन की कल्पना उसे अत्यन्त आकर्षक जान पड़ती परन्तु वह अवसर जैसे हाथ से निकल गया था । अपने स्वामी के रूप में वह किसे ग्रहण करती ? किस के हाथों में वह अपने आप को अर्पण कर सकती थी ? अपना जीवन उसे केवल जीवन के लिये कामना और उत्तेजना उत्पन्न करने का साधन मात्र जान

पड़ता, उसमें सन्तोष नहीं था।

वेश्या की जीविका के साधनों के रूप में विशेष समर्थ होकर भी अंशुमाला में गर्व न था। वह अपने प्रति निरपेक्ष थी, रत्नप्रभा के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ, अनुरक्त और आश्रित। परिचय के आरम्भ से ही रत्नप्रभा ने उसके प्रति करुणा और ममता अनुभव की थी। उसे अपनी गुरु मल्लिका की शिष्या जान कर और अपने प्रति उसकी अनुरक्ति और निर्भरता देख कर वह अंशुमाला के प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठी। अंशुमाला के स्वामिनी पुकारने पर भी वह उसे बहिन और सखी ही सम्बोधन करती। चालीसवें वर्ष में पहुंची हुयी रत्नप्रभा को अंशुमाला में अपने पद और स्थान की स्पर्धा करने वाली प्रतिद्वन्द्वी नहीं अपितु अपनी परम्परा की रक्षा करने वाली उत्तराधिकारिणी दिखायी दी। वह गर्व, सन्तोष और स्नेह से उसे अंशुमाला न पुकार अंशुप्रभा पुकारने लगी।

रत्नप्रभा के प्रासाद में अंशुमाला के प्रकट होने से मथुरा का रसिक समाज उसी प्रकार विभोर हो उठा जैसे निरन्तर घटाटोप मेघों और वर्षा से क्लान्त जनसमाज अंशुमाली के उदय से आश्वासन पाता है परन्तु अंशु उस स्तुति से पुलकित न हुयी। उसकी विरक्ति और अन्तरवृत्ति में अन्तर न आया।

अंशु की उपेक्षा ने अनुरागी रसिकों को और व्यग्र कर दिया। रसिकों ने भेंटों के रूप में अंशु की विरक्ति और उपेक्षा के वर्म पर सामर्थ्य भर आघात किये। इस पर भी अपने प्रयत्न में विफल रह कर रसिक असफलता के संकोच से उपराम होने लगे।

समाज में अपवाद फैलने लगा—अंशुमाला वेश्या नहीं, केवल नृत्य की काष्ठ पुत्तलिका है। वह प्रस्तर के देवता के सम्मुख नृत्य का अनुष्ठान करने योग्य नृत्य का यंत्र-मात्र है। उसका लास्य, स्मित और कटाक्ष केवल कला का अनुष्ठान मात्र है, मनुष्य के संतोष की वस्तु नहीं। उसके अपने जीवन में कुछ नहीं, वह किसी के लिये कुछ नहीं। कामना के रूप में जीवन की ऊष्मा से वह हीन है। वह रत्नप्रभा की काष्ठ पुत्तलिका मात्र है।

देवी रत्नप्रभा यह अपवाद सुनती और स्वयं भी इस वास्तविकता को देखती। वह अंशु के मन के अवसाद की बात सोचती और उसके व्यवसाय के भविष्य की चिंता करती। अंशु को कुछ कह सकना कठिन था और मौन रह जाना हानिकर। एक ओर उसका मन दुखाने का भय था दूसरी ओर उसके भविष्य की हानि।

प्रख्यात तांत्रिक पृथु से रत्नप्रभा ने अंशु के मन का अवसाद दूर करने के लिये अनेक उपचार करवाये परन्तु सफल न हुयी। संकोच से रत्नप्रभा ने समझाया—“मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही। जीवित रहते मृतवत् व्यवहार करने से क्या लाभ? जिनसे हम जीवन के साधन पाती हैं, उनकी अवज्ञा क्या उचित है? जन अवसाद से मुक्ति पाने के लिये हमारे समीप आते हैं। हम भी उन्हें विरक्ति और अवसाद ही दें तो हम किस मुख से क्या आशा करेंगे? प्रयोजन से हीन कला, मोहक रूप-रंग लिये मिट्टी के फल के समान है जो तृप्ति नहीं दे सकती। अनुराग लेकर अनुराग की आशा से आने वाले का तिरस्कार क्यों किया जाय? अनुराग आदर का क्रियात्मक रूप है। वेश्या बन कर आत्मनिर्भर नारी होने का तुम्हारा विचार...। अपने व्यवसाय के प्रति आदर और निष्ठा व्यक्ति का कर्तव्य है...।” रत्नप्रभा जो कुछ और जैसे कहना चाहती थी, कह न पायी।

अंशुमाला ने कर जोड़ कर सबल नेत्रों से अपराधी के समान कातर-कम्पित स्वर में उत्तर दिया—“स्वामिनी, यह तन तुमने क्रय किया है। मन स्वयं मेरे वश नहीं। तुम्हारी करुणा के आधीन मैं उसे भी तुम्हें अर्पण कर देना चाहती हूँ। मैं आभारी हूँ, आज्ञा का पालन करूँगी।”

अपनी शुभकामना से अंशुमाला को दुखित हुआ देख कर रत्नप्रभा कुंठित हो गयी। यदि मारिश होता—उसने सोचा, अपने तर्क से अंशु की विरक्ति और अवसाद का वर्म सम्भवतः भंग कर सकता था। उसकी बात वह ध्यान से सुनती। सम्भवतः उसका मन बदल जाता। मारिश की रमृति रत्नप्रभा के मन में बनी थी, अब वह उसकी आवश्यकता अनुभव करने लगी।

मारिश कभी अनिश्चित परदेशी पक्षी की भांति उसके प्रासाद पर से उड़ान भर जाता। सागल में ठुकराया जाकर वह शूरसेन के मार्ग से मगध चला जाता। मगध से प्रताड़ित होकर शूरसेन पहुंचता और शूरसेन से विरक्त होकर वह पुनः सागल की ओर चल देता।

श्रावण मास में प्रति वर्ष मथुरापुरी के उपान्त वृन्दावन में ‘दोल महोत्सव’ होता था। सभी नगरों और प्रदेशों से आबाल-बनिता, रसिक समूह और कला-विद वहां एकत्र होते; जन विनोद के लिये और कलाविद कला के विमर्श के

लिये। ज्ञानवृद्धि और वयोवृद्ध कलावन्तों की कण्ठ-साधना के सूक्ष्म तत्व और लोल नर्तकियों के अंगलास्य, कला के सभी अंग और प्रसंग वहाँ प्रस्तुत होते। रसिकों की सभा सर्वश्रेष्ठ कलावन्त को सम्मानित करती। कलावन्त के यश से उसका प्रदेश सम्मानित होता। वह सम्मान कभी मगध, कभी कौरव, कभी मद्र देश और कभी मल्ल देश प्राप्त करता परन्तु रत्नप्रभा के अखाड़े में अंशु के प्रकट होने से तीनों वर्ष वह सम्मान मथुरापुरी के भाग्य में आया। दोलोत्सव से अंशुमाला की ख्याति दिगन्त फैल गयी।

दोलोत्सव के प्रसंग से मथुरापुरी आये रसिक प्रवासियों के कारण पावस ऋतु में रत्नप्रभा के चतुष्शाल में अभ्यागतों के लिये स्थान का अभाव हो जाता। संध्या समय साधारण वर्षा होने पर भी समाज में व्याघात न होता। श्रावण बीत जाने पर भाद्रपद में भी संध्या घोर वर्षा से घिरी रहती। ऐसी असुविधा-जनक संध्या में वर्षा के कारण मार्ग दुर्लभ हो जाने पर ही रत्नप्रभा और अंशुमाला विश्राम पा सकती थीं।

ऐसी ही एक संध्या अलिन्द में अकेली बैठी रत्नप्रभा अपने जीवन और अपनी प्रिय सखी अंशुमाला के भविष्य के सम्बन्ध में विचार कर रही थी। मार्ग दिखाती हुई दासी के पीछे आकर सहसा मारिण ने रत्नप्रभा का अभिवादन किया। चिर-प्रतीक्षित मित्र को देख कर रत्नप्रभा के नेत्र आल्लास से चमक उठे। तत्काल ही उसके मस्तिष्क में विचार कौंध गया—यदि मारिण अंशु का अवसाद दूर कर सके? उसने मारिण से आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया।

निरन्तर वर्षा हो रही थी। अलिन्द में रत्नप्रभा और मारिण उपधानों के आश्रय बैठे थे। वर्षा की अधिकता ने अर्धर में गिरते जल को भित्तियों का रूप दे दिया था। रत्नप्रभा के चतुष्शाल में मृदंग और मुरज मौन थे। आकाश में इठलाते, घने कृष्ण मेघ अलहड़पन में इस मौन के प्रति व्यंग कर उस शब्द की प्रतिध्वनि कर रहे थे। मन्द वायु से गुदगुदाई जाकर प्रकृति मेघों की ताल पर थिरक कर नृत्य का व्यंग कर रही थी। रत्नप्रभा ने चंवरधारी दासी को आदेश दिया कि अंशुमाला को आने का संदेश दे और सुरा-आधार प्रस्तुत करे।

अंशुमाला का प्रसंग आने पर मारिण ने कौतूहल प्रकट किया—“देवी, अवसर से तुम्हें ऐसी शिष्या मिली कि चतुर्दिक तुम्हारा यश फैल गया। अवश्य ही मैं उसके दर्शन और उसकी कला के आनन्द से कृतार्थ होऊंगा।”

“आर्य के साक्षात्कार के लिये ही मैंने अंशु का स्मरण किया है परन्तु मित्र,

उस वीतराग नर्तकी से निराश न होना । मन में समाये विषाद के कारण लास्य-विलास उसके लिये केवल भृत्ति कार्य है ।”

मारिश विस्मित था ।

अंशुमाला मूल्यवान् परन्तु उपेक्षा से धारण किये अत्यन्त शुभ्र वस्त्र पहने अलिन्द में प्रस्तुत हुयी । उसके शरीर पर कोई आभूषण न था, एक पुष्प भी नहीं । अलस उदासीनता में, उपेक्षित शुभ्र वस्त्रों से फूटी पड़ती अपने शरीर की कमनीयता के प्रति वह इस प्रकार निरपेक्ष थी जैसे वह उसके वश का विषय नहीं ।

पल्लव ओष्ठों के क्षीण स्फुरण से उदास मुख पर शिष्टाचार की मुस्कान लाने का प्रयत्न कर, हाथ जोड़ अंशुमाला ने निवेदन किया—“जनपदकल्याणी देवी रत्नप्रभा की अनुचर नर्तकी अंशुमाला आर्य अभ्यागत का अभिवादन करती है ।”

मारिश अंशु की ओर अपलक दृष्टि डाला था । सहसा उसकी स्मृति जाग उठी । शुभ्रवस्त्रधारी, संकुचित, उदास नर्तकी के पीछे उसे पांच वर्ष पूर्व देखा व्यथित मराली का नृत्य अधर में दिखायी देने लगा ।

रत्नप्रभा के संकेत से अंशु विष्टर पर बैठ गयी और पुनः स्वामिनी का संकेत पा सुरापात्र से एक चषक पूर्ण कर, दोनों करों से अभ्यागत के सम्मुख प्रस्तुत कर निवेदन किया—“आर्य, स्वीकार करें ।”

मारिश अब भी अपलक दृष्टि से प्रवास रोके अंशु की ओर देख रहा था । उस दृष्टि की तीव्रता से, हाथों में चषक लिये अंशु विजड़ित-सी रह गयी ।

परिस्थिति भांप कर रत्नप्रभा ने अपनी बाहु सांत्वना के भाव से अंशु की पीठ पर रख दी । मारिश की दृष्टि में अत्यन्त व्यग्रता का भाव देख कर, मुस्कराकर रत्नप्रभा ने अंशु के सम्मुख अपने उत्तरीय के आंचल की ओट कर दी और कौतुक के स्वर में मारिश को सम्बोधन किया—“आर्य, ऐसी कठिन दृष्टि से मेरी सुकुमार सखी त्रस्त हो जायगी ।”

अतीत की स्मृति में विस्मृत मारिश की दृष्टि अपलक और स्थिर रही । उसके ओंठ हिले—“कुमारी दिव्या !”

अंशु के नेत्र झुक गये । उत्तर न दे सकी ।

रत्नप्रभा ने मारिश की ओर देखा और अंशु की ओर भी देखा । दोनों के ही मुख पर बरसने के पूर्व उपड़ते मेघ की गम्भीरता थी । कुछ क्षण वह स्वयं

किर्तनव्यविमूढ़ रह गयी और विष्टर से उठ कर चंवरधारी दासी को किसी कार्य के लिये आदेश देती हुयी साथ ले चली गयी ।

कुछ क्षण मौन रह मारिश ने पुनः सम्बोधन किया—“कुमारी दिव्या !”

अंशु सुरा का चषक दोनों हाथों में थामे निश्चल थी । उसका मस्तक अधिक झुक गया । क्षीण स्वर में उसने उत्तर दिया—“आर्य, अब मैं दिव्या नहीं हूँ । अब कुमारी भी नहीं हूँ । देवी रत्नप्रभा की क्रीत दासी, वेश्या नर्तकी अंशुमाला हूँ । आर्य सुरा ग्रहण करें !”

दोर्घ निश्वास ले मारिश ने अंशु के हाथ से चषक थाम कर पुनः आधार पर रख दिया । एक और श्वास वक्ष में भर पुनः स्मृति के पंखों का आश्रय ले उसका मन अतीत की ओर चल गया । कुछ समय उसी अवस्था में रह कर उसने अंशु को सम्बोधन किया—“भद्रे, इस दूर देश में, इस स्थान पर भद्रे का आना किस प्रकार हुआ ?”

“आर्य, भाग्य से अथवा कर्मफल से !” अंशु ने घने मेघ में छायी संध्या के अस्पष्ट प्रकाश में अपने नेत्र मारिश की ओर उठा कर साहस से उत्तर दिया ।

भाग्य और कर्मफल का प्रसंग सुन कर मारिश जैसे विचार तंद्रा में चूटकी काट ली जाने से व्यग्र हो उठा—“भद्रे, भाग्य और कर्मफल से क्या अभिप्राय ? भाग्य का अर्थ है, मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है, कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान । भद्रे, इसके अतिरिक्त भाग्य और कर्मफल कुछ नहीं ।”

अपनी उंगली के नखों पर सिर झुका कर अंशु ने उत्तर दिया—“आर्य, दासी का अभिप्राय विवशता और विवशता के कारण का अज्ञान ही समझें !”

अंशु के उत्तर में अपने विचार का अनुमोदन पाकर मारिश ने सान्त्वना की श्वास ली परन्तु अंशु के अनुमोदन से प्रसंग का मार्ग पुनः रुक गया । मारिश आधार पर रखे सुरापात्र की ओर दृष्टि किये मौन बैठा था । अंशु ने कर्तव्य के विचार से पुनः आधार अतिथि के सम्मुख कर अनुरोध किया—“आर्य, पान-ग्रहण करें !”

दृष्टि उठाये बिना मारिश ने अनुरोध-रक्षा के लिये चषक उठाकर सुरा को औषध की भांति पी लिया और फिर अलिन्द के सम्मुख, भूमि और आकाश के अन्तर को जल-बिन्दुओं से पूर्ण करती वर्षा की ओर देखने लगा । उसी ओर दृष्टि किये वह बोला—“पाँच वर्ष पूर्व सागल में पुण्यस्मृति महापण्डित धर्मस्थ के देहान्त के समय अनेक असम्बद्ध प्रसंग सुने थे...महापण्डित की प्रपौत्री का

पूर्ण यौवन में अत्यन्त रुग्ण होकर काल-कवलित हो जाना...आत्म-हत्या का सन्देह ? ...आज भद्रे को यहां इस अवस्था में पाया । यह स्वप्न है अथवा वह स्वप्न था ! ...दोनों ही यथार्थ हैं ।”

मूक रोदन का आभास पाकर मारिश ने अंशु की ओर देखा । उसका मुख उत्तरीय के पीछे था । मारिश का स्वर आर्द्र हो गया—“यह प्रसंग भद्रे के लिये अवसाद का कारण है ।...मैं इस विषय में कुछ न कहूंगा ।”

अपने उद्वेग का निग्रह कर अंशु ने विनय के स्वर में कहा—“आर्ये, आत्मीय का वियोग दुःख का कारण होता है तात ही दासी के एक मात्र आश्रय थे ।”

“निस्सन्देह वियोग दुःख का कारण होता है परन्तु भद्रे मृत्यु शरीर का धर्म है । भद्रे, तात का वियोग सागल का दुःख था । एक सौ बीस वर्ष तक वे न्याय की भावना के रूप सागल का गौरव बने रहे । उनकी पुण्य स्मृति भी सागल का गौरव रहेगी । भद्रे, उनका व्यापक स्नेह खोकर सागल ने व्यापक दुःख पाया । भद्रे, ऐसा दुःख भी सौभाग्य से ही होता है जैसे सन्तान के स्वास्थ्य की चिन्ता के मूल में सन्तानवान होने का सुख अन्तर्निहित है ।” मारिश और अंशु कुछ समय मौन बैठे रहे ।

दो घड़ी पश्चात् रत्नप्रभा हाथ में आलोक लिये दासी के साथ लौटी । मारिश और अंशु को निश्चल और मौन देख कर उसने हृदय में कंटक अनुभव किया परन्तु परिहास के स्वर में बोली—“जो अन्तर्यामी जन बिना कहे और सुने ही दूसरे के मन की बात जान सकते हैं और अपनी प्रकट कर सकते हैं, उन्हें रात्रि में विलम्ब कर समीप बैठने से क्या प्रयोजन ?”

दोनों को ही निरुत्तर देख कर रत्नप्रभा ने अंशु की पीठ छू कर कहा—“उठो सखी, विलम्ब हो गया । आर्य के विश्राम की व्यवस्था अतिथिशाला में है । वे दिन की यात्रा से श्रान्त हैं ।”

अंशुमाला के लिये गत जीवन की स्मृति बीभत्स और दारुण थी, भविष्य की कल्पना शून्य । गत जीवन के दुःखों की स्मृति से वह आंसू न बहाती । यदि बहाती तो किस-किस दुःख को लेकर ? सुख की आशा और कामना भी वह न करती । सुख है क्या ? उसने सोचा—सम्पन्न परिवार, अनुरक्त पति, सुन्दर सन्तान; वह सब पाया और नहीं रहा और उस सबके परिणाम में पाया दुःख । उसे स्मरण हुआ, स्थविर चीवुक ठीक कहते थे—सुख और दुःख अन्योन्याश्रय हैं । सुख की इच्छा से ही दुःख होता है । संसार में जितना सुख है, उससे बहुत

अधिक दुःख है। जब संसार ही दुःखपूर्ण है तो वह उससे भाग कर कहां जायगी ? अंशु सहिष्णुता की जड़ता में अपने प्रति निरपेक्ष होकर शान्त थी। उसके जीवन की चेष्टा प्रयोजन-रहित थी। उसका मस्तिष्क अपने प्राकृतिक स्वभाव के कारण विचार अवश्य करता परन्तु उस विचार में प्रयत्न और निर्माण की प्रवृत्ति नहीं थी, केवल विरक्ति और अनासक्ति का भाव था। एक तर्क जो सब ओर व्यर्थना खोजता था।

अंशु मारिश के सम्मुख दो घड़ी मोन बैठने के पश्चात् रात भर विक्षिप्त रही। जड़ता के परिणाम में पायी उसकी मानसिक स्थिरता इस सम्पर्क से क्षुब्ध हो गयी। जैसे क्षुब्ध ताल में उठी लहरें तल में बैठे कीच और काही को ऊपर ले आती हैं, उसी प्रकार मारिश के साक्षात्कार ने गत जीवन की स्मृतियों को तैरा दिया। तीन वर्ष में प्राप्त हुई स्थिरता कुछ ही क्षण में छिन्न-भिन्न हो गयी।

अंशुमाला ने दासी को कक्ष से आलोक हटा देने का आदेश दिया था। दो घड़ी कोमल पर्यंक पर अनिद्रा में करवटें लेते-लेते उसकी कल्पना में पुरोहित चक्रधर के घर की स्मृति जाग उठी। पुरोहित के घर में वह नग्न शिलाओं पर निद्रा से अवश हो जाती थी। स्वामिनी के अनेक बार पुकारने पर अथवा शाकुल के चीत्कार करने पर जब उसकी निद्रा भंग होती तो निद्रा में मृतवत् हो जाने के अपराध में उसे स्वामिनी की प्रताड़ना और लाँछना सुननी पड़ती।

गवाक्षों और द्वार से निरन्तर आता घोर वर्षा का अर्थहीन शब्द कानों में भर जाने के कारण नीरवता अनुभव हो रही थी। वह तर्क करने लगी—आकाश से गिरने वाले प्रात्येक जलबिन्दु का शब्द है। इन असंख्य शब्दों में भेद न कर पाने से वह समुच्चय शब्द ध्यान नहीं पाता। ऐसे ही असंख्य दुखों की एक साथ अनुभूति मनुष्य को किसी एक दुःख को अनुभव करने योग्य नहीं रहने देती, वह दुःखहीन हो जाता है।

...आर्य मारिश मोन बैठे रहे जैसे वे मेरे दुर्भाग्य से दुखी हैं। मेरे दुर्भाग्य से वे दुःखी क्यों हैं ? शतशः रसिक-समाज यहां रस और विनोद के लिये आता है। उन्हें मेरे उसी अस्तित्व से प्रयोजन है जो उनके सम्मुख रहता है परन्तु आर्य मारिश प्रकट के पीछे छिपे वास्तविक की उपेक्षा न कर सके।

पांच वर्ष पूर्व आर्य मारिश ने मधुपर्क उत्सव पर उसकी सफलता के आदर में कहा था—भद्रे, तुम्हारी कला, तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है। उस समय मारिश के भाव और वचनों

में उच्छ्वलता जान पड़ने से उसने कुण्ठा और बिरक्ति अनुभव की थी। आर्य मारिश की वह अभिशापमयी भविष्यवाणी तथ्य थी और सत्य प्रमाणित हुयी। ...यह सब रसिक समाज स्वामिनी के प्रासाद में किस लिये आता है ? सागल में देवी मल्लिका के प्रासाद में समारोह का प्रयोजन क्या था ? नारी के आकर्षण सृष्टि की उस आदि शक्ति से विनोद के लिये ? ...रसिक समाज आता है, अपना विनोद कर चला जाता है परन्तु मारिश विनोद की हाट में अवसाद खोज रहे हैं। उन्हें विनोद से नहीं, समवेदना अर्थात् वेदना से संतोष हुआ। ...सब व्यर्थ है, सब व्यर्थता है। ...अंशुमाला घोर वर्षा के घने अन्धकार में कोमल पर्यंक पर लेटी विचारों में उलझी अनिद्रित पड़ी रही।

प्रायः निरपेक्ष और तटस्थ रहने वाला मारिश रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या को अकस्मात पाकर विक्षिप्त हो गया। रात्रि के अधिकांश भाग में वह निद्रा न पा सका। दिव्या की दुःख के बोझ से परास्त, निराश, वीतराग मूर्ति निरन्तर उसकी कल्पना में उपस्थित रही। शुभ्र वस्त्र धारण किये, उपेक्षा की मूर्ति दिव्या मारिश के अन्तस्तल में समा गयी। एक श्वास में दिव्या की रत्नप्रभा के अलिन्द में दिखाई पड़ी निराश मूर्ति उसकी कल्पना की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित होती और दूसरे श्वास में सागल में महापण्डित धर्मस्थ के प्रासाद में जीवन के उत्साह और आशा की नवविकसित मंजरी की भांति रूख सौरभ और स्फूर्ति का स्पन्दन बरसाती दिव्या की मूर्ति उसकी कल्पना में जाग उठती। समवेदना में उसका हृदय पिघल कर अवश हो जाता जैसे पिघल जाने पर मांस हाथ में नहीं सिमटा रह सकता।

सागल में मारिश ने दिव्या के प्रति आकर्षण अनुभव किया था परन्तु वह आकर्षण कामना का नहीं, केवल स्तुति का था। मारिश अपने असामर्थ्य और हीन स्थिति के प्रति बेसुध न था। वह दिव्या और स्वयं अपने बीच की गहरी खाई के व्यवधान से परिचित था परन्तु रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या गर्व और गौरव के दुर्घर्ष शिखर से उतर कर समभूमि पर मारिश के हाथ की पट्टन में आ गयी थी। मारिश समवेदना का हाथ बढ़ा कर उसे स्पर्श कर सकता था।

समवेदना का अवलम्ब पाकर मारिश का आकर्षण प्रबल हो गया। वह दिव्या को देख पाने और उसके समीप हो सकने के लिये व्याकुल हो उठा परन्तु अतीत के प्रसंग से दिव्या ने क्षोभ और व्यथा अनुभव की थी। मारिश अपने सन्तोष के लिये उसे व्यथित न करना चाहता था। उसके मन में शूल-सा गड़

रहा था—क्या शेष जीवन दिव्या इसी प्रकार रहेगी ? संध्या पर्यन्त विचार और दुविधा में उद्विग्न रह कर मारिश रत्नप्रभा के समाज में पहुँचा ।

रत्नप्रभा के समीप आसन से उठ कर अंशुमाला ने गायन और नृत्य किया । उसका प्रसाधन सुरुचिपूर्ण और लावण्यमय था । उसके ओठों पर और नेत्रों में संगीत के अनुकूल सजीवता और मुस्कान थी । मारिश एक ओर बैठा था । वह संगीत और नृत्य में तन्मय न हो सका । वह सोचता रहा—क्या इस कृत्रिम किल्लोलमयी अंशुमाला की अपेक्षा गत संध्या की अवसादपूर्ण, शुभ्र-वसना और आभरणहीन दिव्या कहीं अधिक कमनीय न थी ? गत संध्या वह अपने मन का दुःख प्रकट करने के लिये स्वतंत्र थी । इस समय वह विनोद का साधन बनने के लिये विवश है । रसिक समाज अपने नेत्रों से उसका लावण्य भोग रहा है । वह परवश होकर भोग के लिये उपस्थित है । समाज की स्तुति के उत्तर में अंशुमाला का सस्मित विनय उसे असह्य जान पड़ा । वह व्यग्र हो रहा था, कब समाज का अन्त हो ।

नृत्य और गायन से श्रांत अंशुमाला अपने कक्ष में दासी वृन्दा की सहायता से प्रसाधन से निवृत्ति ले रही थी । द्वार-रक्षक दासी मोरपंख का व्यजन लेकर उसके स्वेद-सिक्त शरीर को वातास द्वारा शीतल कर रही थी । वृन्दा ने अंशु का कंचुक खोल दिया और उसकी फेंली हुई बाहु सहारे के लिए अपने कंधे पर रख कर बाहुमूल से अंगद खोल रही थी ।

द्वार पर द्वार-रक्षक दासी को न पाकर मारिश के सूचना दिये बिना सहसा कक्ष में आ जाने से अंशु लज्जा और संकोच से सिमिट और कांप कर बैठ गयी । दासी ने समीप पड़ा उत्तरीय उसके कंधों पर ओढ़ा दिया । उसके नेत्र अधमुंदे थे और गालों पर अरुणाई गहरी हो गयी ।

मारिश ठिठका और विमूढ़ हो ग्रीवा झुका कर लौट गया । अलिन्द तक पीछे लौट कर उसने सुना—“आर्य, स्वामिनी नमस्कार निवेदन करती हैं ।” मारिश विचार-विमूढ़ सा कक्ष में लौट आया ।

अंशु यथास्थान वस्त्र धारण कर चुकी थी । नृत्य के समय के कुछ आभूषण उतर चुके थे और कुछ शरीर पर शेष थे । लाज, संकोच और शिष्टाचार की मुस्कान से उसका मुख और नेत्र दीप्त हो रहे थे । कर जोड़, मस्तक झुका कर उसने निवेदन किया—“आर्य, पधारिये ।”

उसके केशों से अब भी मुक्ता-गुच्छ झूल रहे थे । मस्तक पर चन्द्रिका तिलक

और ओठों पर राग था। शंख के समान ग्रीवा का मादेंव मुक्तावलियों से घिर कर और अधिक उदभासित हो रहा था। रक्तकौशेय में पीठ पीछे खिंच कर पूर्ण गोलाघ्न बने उरोज बंधन में आकर वागुरा खिंचे अश्व की भांति और अधिक मुखर हो रहे थे। कटि से नीचे धानी रंग का अत्यन्त चिकना शाटक, वीणा के कूष्माण्ड की भांति नितम्बों को ओट में लेकर अधिक आकर्षक बनाये था और श्रान्ति के कारण अस्पष्ट रूप से धिरकती, पुष्ट लम्बी तूम्बी के समान जंघाओं की आकृति उसमें से व्यक्त हो रही थी। कंचुक और शाटक के मध्य अनावृत्त त्रिवली अपनी स्वाभाविक कमनीयता से दोनों ओर रक्त और धानी कौशेय को लजा रही थी।

मारिश चित्त उद्विग्न हो जाने के कारण अंशु के शिष्टाचार का उत्तर उचित शालीनता से न दे सका। अंशु को मारिश के शिष्टाचार की न्यूनता न खली, गाम्भीर्य का आवरण लिये उसकी उद्विग्नता ही खली। पीठिका की ओर संकेत कर उसने अनुगोघ किया—“आर्य, आसन ग्रहण करें।”

मारिश ने आसन ग्रहण किया परन्तु अभ्यर्थना की स्वीकृति में उत्तर न दे पाया। आभरण उतारती दासी की उपेक्षा कर मारिश के समीप होकर अंशुमाला ने पुनः प्रश्न किया—“आर्य, मन और शरीर स्वस्थ है?”

“भद्रे, मैं स्वस्थ हूँ। मेरे अकस्मात् प्रवेश से भद्रे को असुविधा हुई?” आत्मसंवरण की चेष्टा से स्वयं मारिश के मुख पर असुविधा के चिह्न प्रकट हो रहे थे। मारिश की असुविधा का कण्टक अंशु ने मन में अनुभव किया परन्तु मुख पर मुस्कान बनाये रखने का यत्न कर उसने आश्वासन दिया—“असुविधा नहीं आर्य, दासी सेवा के लिये प्रस्तुत है।”

मारिश क्षण भर मौन रह कर अत्यन्त गम्भीर स्वर में बोला—“आर्य, निवेदन की इच्छा अदमनीय हो जाने पर ही उपस्थित हुआ हूँ।”

अंशु का मस्तक ऐसे गूँज उठा जैसे मृदंग पर सहसा पूरी थाप आ पड़ी हो। विचार को संयत रखने के लिये दोनों हाथों की अंगुलियाँ परस्पर बांध कर उस ने सोचा, स्वामिनी की अनुमति बिना किसी पुरुष का उसके अन्तःकक्ष में होना उचित नहीं और कहा—“आर्य, कक्ष में ऊष्मा है। यदि असुविधा न हो, उद्यान की मुक्त वायु में बैठ कर वार्तालाप करें।

व्यजनधारी दासी देवी के अन्तःकक्ष में अकस्मात् एक पुरुष के प्रवेश से स्तब्ध होकर अपना कर्तव्य भूल गई थी। संकेत पाकर वह तुरन्त व्यजन डुलाने

लगी। उसकी ओर देख कर अंशु बोली—“नहीं, व्यजन की आवश्यकता नहीं। आर्य को मौलश्री के नीचे शिलापीठ का मार्ग दिखाओ।” फिर उसने मारिश की ओर देखा, “आर्य, दासी तुरन्त उपस्थित होगी !”

मौलश्री के नीचे शिलापीठ पर बैठा मारिश विचार रहा था, दिव्या से वह क्या और कैसे कहेगा ? आवेश में वह उसके अन्तःकक्ष में चला गया था। उस भूल की स्मृति ने आवेश के स्थान पर तर्क को उद्बोधित किया। सम्मुख दिव्या आती दिखाई दी थी। कला-व्यवसाय के वस्त्राभूषण उतार वह अब फिर श्वेत वस्त्र धारण किये निराभरण थी। उसके मुख की मुस्कान भी विलीन हो चुकी थी। शिलापीठ पर मारिश के समीप बैठ कर कुछ क्षण उसके प्रश्न की प्रतीक्षा कर वह स्वयं बोली—“आर्य, आज्ञा करें !”

अंशु की ओर दृष्टि उठा मारिश ने प्रश्न किया—“भद्रे, क्या यही उचित है ? क्या तुमने यही स्वीकार किया ?”

कुछ पल प्रश्न का अभिप्राय अवगत करके अंशु ने उत्तर दिया—“आर्य, उचित-अनुचित का विचार करके स्वेच्छा से कुछ स्वीकार नहीं किया। यह भाग्य है।”

मारिश सचेत हो गया—“भाग्य ?...देवी, भाग्य का अर्थ है विवशता।”

“हां आर्य, विवशता है।” अंशु ने स्वीकार किया।

“भाग्य का अर्थ है असामर्थ्य !” मारिश पुनः बोला।

“हां आर्य, असामर्थ्य है।” अंशु ने पुनः स्वीकार किया।

अंशु की स्वीकृति से मारिश निरुत्तर हो गया। विचार कर पुनः कुछ उत्तेजना से उसने कहा—“असामर्थ्य का अर्थ है प्रयत्न और चेष्टा न करना !”

अंशु इस भर्त्सना से अप्रतिभ न हुयी। नीलिमा लिये उसके विशाल नेत्र झुके नहीं—“नहीं आर्य !” उसने उत्तर दिया, ‘प्रयत्न किया और चेष्टा की; सामर्थ्य की सीमा-पर्यंत प्रयत्न किया और चेष्टा की और असमर्थ होकर असामर्थ्य को स्वीकार किया।’

मारिश ने कुछ क्षण ग्रीवा झुका कर अंशु के उत्तर पर विचार किया और बोला—“भद्रे, प्रयत्न और चेष्टा जीवन का स्वभाव और गुण है। जब तक जीवन है, प्रयत्न और चेष्टा रहना स्वाभाविक है।” मारिश के स्वर में उत्तेजना और तीव्रता दूर होकर आर्द्रता आ गयी, “भद्रे, जीवन में एक समय प्रयत्न की असफलता मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नहीं है। जीवन का हम अन्त नहीं देख पाते,

वह निस्सीम है। वैसे ही मनुष्य का प्रयत्न और चेष्टा भी सीमित क्यों हो ? असामर्थ्य स्वीकार करने का अर्थ है, जीवन में प्रयत्नहीन हो जाना; जीवन से उपराम हो जाना।”

अपने दुख के प्रति मारिश के स्वर की आर्द्रता से अंशु के नेत्र झुक गये। ग्रीवा झुका कर वह बोली—“आर्य, इसी प्रेरणा से अजाने पथ पर पांव रखने में भी संकोच नहीं किया था। पथ को दुर्गम जान कर भी पग बढ़ाया था परन्तु अपने को सामर्थ्यहीन पाया।” अंशु ने दीर्घ निश्वास लिया, “आर्य, जो होना था वह हो गया; अब दुख क्या है?”

“क्या होना था ? क्या हो गया देवी ?” मारिश ने प्रश्न किया।

“इस क्षुद्र जीवन का जो कुछ होना था आर्य !” अंशु ने दृष्टि फेर ली, “आशा और इच्छा दुःख के मूल हैं, जानी ऐसा ही कहते हैं। आर्य, ऐसा ही पाया भी।”

मारिश ने अंशु की निराशा से अधिक द्रवित होकर आग्रह किया—“भद्रे, ऐसा क्या हो गया ? वह जीवन का एक अंश था। जब तक जीवन है उसमें परिवर्तन और प्रयत्न के लिए अवसर और सम्भावना है।” अपने आग्रह में बल देने के लिए मारिश ने अंशु के नेत्रों में देख कर कहा “कुमारी दिव्या, जीवन अनन्त है और मनुष्य की सामर्थ्य भी अनन्त है।”

मारिश के दिव्या सम्बोधन से अंशु का शरीर रोमांचित हो गया। उस आवेश को बश में करने का यत्न कर उसने उत्तर दिया—“आर्य, धर्मस्थ की गर्विता प्रपौत्री दिव्या मर चुकी है। उसके शव में कलाञ्जीवी नर्तकी वेश्या अंशुमाला जीवन का शेष समय निर्वाह कर रही है। मैं आर्य की समवेदना के प्रति अति कृतज्ञ हूँ।”

कण्ठ का अवरोध निगल कर मारिश बोला—“भद्रे, केवल समवेदना के कारण ऐसा नहीं कह रहा हूँ ?”

“तो फिर नर्तकी आर्य की उपकार की भावना के प्रति कृतज्ञ है।”

“नहीं देवी, मैं अनुराग के कारण ऐसा कह रहा हूँ।” मारिश ने उत्तर दिया।

अंशुमाला का शरीर कण्टकित होकर ग्रीवा झुक गयी। भाद्रपद के शुक्लपक्ष की रात्रि के प्रथम पहर में नवमी का चन्द्रमा मेघों से चित्रित आकाश में कभी उज्ज्वल और कभी श्यामल हो रहा था। वर्षा के जल से तृप्त भूमि से निकल आये अनेक झिल्ली और झींगुर मनुष्य के शब्द से शून्य हो गये वातावरण को

अपनी तीखी झंकारों में पूर्ण किये थे। उन सष्व स्वरों से अधिक तीव्र अंशु के कानों को मारिश के शब्द जान पड़े। वह तीव्रता अनेक क्षण तक उसके कानों को व्याकुल पर मस्तिष्क को विजड़ित किये रही।

रत्नप्रभा के प्रासाद में अत्यन्त लोकप्रियता का सम्मान पाने के अवसर से कितने ही प्रणय-निवेदन अंशुमाला ने सुने थे। उनके प्रति साधारण विरक्ति सी अनुभव कर व्यवसायिक शिष्टाचार से उसने उन्हें टाल दिया था। वे प्रणय निवेदन आकर्षक नर्तकी अंशुमाला के प्रति थे। मारिश दिव्या को पहचान कर दिव्या को ही स्पर्श कर रहा था। उसकी उपेक्षा सम्भव न थी। उस निवेदन की उपेक्षा से अधिक कठिन था, उस प्रणय-निवेदन का उचित उत्तर देना।

आकाश में चन्द्रमा मेघों से क्रीड़ा में व्यस्त था। पृथ्वी पर वनस्पति मन्द वातास में क्रीडारत थी। वातावरण तृप्त, उल्लसित झिल्ली और झींगुर की झंकार से व्याप्त था। अंशु मारिश के प्रणय-निवेदन से संत्रस्त सिर झुकाये बैठी थी। कल्पना में उसे मारिश अपनी ओर भुजा फैलाये बढ़ता आता दिखाई दे रहा था। वह आत्मरक्षा के लिये संकुचित हो रही थी। मारिश वैसे ही बढ़ा आ रहा था, जैसे एक दिन ऐसी आर्द्र रात्रि में पृथुसेन...धीभत्स स्मृति से अंशु के स्नायु शिथिल हो गये, मुख में कटुता भर गयी। प्रणयी की शक्ति को उत्साहित करने के लिये नारी का आत्मरक्षा का मधुर भाव प्रतिहिंसा में परिणित हो गया। मस्तिष्क की मूढ़ता जाती रही। कण्ठ की आद्रता भी जाती रही।

अंशुमाला के भावशून्य हो गये मुख पर विद्रूप की मुस्कान आ गई—“नर्तकी वेश्या अंशुमाला रसिकों के अनुराग-विनोद के लिये प्रस्तुत है। आर्य, क्या चाहते हैं?”

मारिश ने अंशुमाला के विद्रूप को अस्वीकार कर आग्रह किया—“नर्तकी वेश्या से अनुराग विनोद का नहीं, नारी के सार्थक अनुराग का प्रार्थी हूँ।”

“नारी? वह तो मर चुकी है आर्य!” सहसा मेघ से मुक्त हुयी उज्ज्वल चन्द्रिका में मारिश के नेत्रों की ओर दृष्टि उठा अंशुमाला ने बलपूर्वक कहा और बोली, “आर्य की स्मरण है, तीन वर्ष पूर्व ग्रीष्म के एक संतप्त दिवस की संख्या, नगर के दक्षिण उपान्त के मार्ग पर आर्य ने आचल में संतान लिये वेश्या बनने के लिये तत्पर एक कंगाल नारी की भत्सना की थी—आ, यमुना के शीतल तल में शरण ले। उसी संध्या उस नारी ने यमुना के शीतल तल में शरण ली थी परन्तु यमुना ने उसे उगल दिया। वह नारी जल से नर्तकी वेश्या बन कर निकली। वेश्या

के प्रति आर्य की उस घृणा के कारण वेश्या से अनुराग कर आर्य को क्या सन्तोष होगा ? यह नर्तकी वेश्या अंशुमाला वही मृत नारी है । वह नारी दिव्या थी ।”

विस्मयाहत हो कर मारिश ने मेघावृष्ट चन्द्रमा के धूमिल प्रकाश में नेत्र फैला कर अंशु की ओर देखा । अंशु के नेत्र पुनः झुक गये । मारिश अनेक क्षण तक श्वास रोके उसी अवस्था में निश्चल रह गया । विमूढता दूर होने पर जब मारिश ने चेतना का दीर्घ निश्वास लिया, अंशु ने विनय के स्वर में चेतावनी दी—“रात्रि के दो प्रहर व्यतीत हो चुके हैं । आर्य, इस समय विश्राम करें ।”

मारिश से विश्राम करने का अनुरोध कर अंशु उसके नेत्रों की निद्रा और मन का चैन छीन ले गयी और अपनी निद्रा और चैन उसके हाथों सौंप गयी । मारिश के अनुराग की प्रार्थना पर विद्रूप कर हिस्रक पुरुष को अप्रतिभ करने की प्रतिहिंसा का सन्तोष उसने अनुभव किया परन्तु शय्या पर पहुँचने से पहले ही वह अपनी प्रतारणा करने लगी—ऐसा क्यों किया ? क्यों सन्तानवती, प्रश्रय खोजती कंगाल नारी की स्मृति मारिश के मस्तिष्क में जगायी ? मारिश के अनुराग आदर का यह प्रतिफल क्या उचित था ? निराश्रय को आश्रय देने के लिये समवेदना और आदर से फैलायी गयी बाहु के प्रति क्या यही निरादर उचित है ?

आश्रय की आशा और संकेत का विचार आने से अंशु के नेत्र मधुर शैथिल्य में मुंदने लगते । आश्रय देने में समर्थ भुजाओं में अपने आप को शिथिल कर देने में नारीत्व की सफलता की प्रवृत्ति जागने लगती । आश्रय को आकर्षित कर सकने की नारीत्व की परम सार्थकता जागने लगती । विरक्ति और वैराग्य की यंत्रणा से मुक्ति की कामना...क्यों आर्य का मन कुण्ठित किया ? उद्वेग को वश न कर सकने के कारण अंशु का मन चाहता था कि रो दे । कैसे अस्वीकार करे कि उसकी सार्थकता मारिश के हृदय में समवेदना और अनुराग जमा सकने में ही है ; मारिश की विह्वलता ही उसके नारीत्व की विजय है । वह उसे स्वीकार कर आश्रय दे और आश्रय पा सकती है । आह, ऐसे ही एक दिन पृथुसेन ने अत्यन्त विह्वल और असहाय होकर उससे आश्रय मांगा था...

अंशु ने अनुभव किया उसके शरीर पर स्वेद की तरलता छा गयी है । उसने कोमल पृथुसेन, गम्भीर रुद्रधीर, माताल वृक और विज्ञ मारिश को अपनी ओर बढ़ते देखा और घृणा से सोचा—मारीरूप से वह सभी पुरुषों के सम्मुख भोग्य है । यही उसका आकर्षण है । भोग्या ! अनेक कण्ठ ले कर उसने मन को समझाया—आश्रय के जाल में वह न फंसेगी ।

अंशु ने अपने मन का उद्बोधन किया—उसके जीवन में विरक्ति भी क्यों हो? देवी रत्नप्रभा और मल्लिका की भांति कला की आराधना जीवन का लक्ष्य बना कर वह अपना जीवन उसको अर्पण करेगी। पराश्रित और भोग्य न हो कर वह आत्म निर्भर बनेगी। उसने मन को सान्त्वना दी, उचित ही हुआ।

अंशुमाला अस्वस्थ रहने के कारण दो दिन अपने कक्ष से न निकली। वह समाज में भाग न ले सकी। उसके मूक-क्रन्दन का समाचार पाकर रत्नप्रभा घड़ी भर उसके पर्यंक पर बैठी रही और अंशु के सिर पर हाथ रखे वह सोचती रही—इसके मन में रुके हुये दुःख ने सम्भवतः इस आघात से बहने का मार्ग पाया है...सम्भवतः हृदय के निरन्तर दुःख का भार दूर होकर वह प्रकृतिस्थ हो सकेगी।

मारिश भी अपनी वाचालता भूल कर आत्मविस्मृत और चिन्तामग्न रहा।

प्रायः एक पक्ष बीत पाया था। मध्याह्न से आरम्भ हुयी घोर वर्षा सूर्यास्त उपरान्त भी न थमी। रसिकों के लिये रत्नप्रभा के प्रासाद का मार्ग दुर्गम हो गया। आलस्य का अवसर पाकर रत्नप्रभा अपने अलिन्द में विष्टर पर उपधान के सहारे बैठी थी। विमर्श-विनोद के लिये उसने मारिश और अंशु को भी बुलवा भेजा। मधुर मदिरा के प्रभाव से जड़ होते मस्तिष्क को सचेत करने के लिये रत्नप्रभा ने मारिश के लोकायत सिद्धान्त के प्रति जिज्ञासा की—“मित्र, यदि मृत्यु जीवन का पूर्णान्त है, इस लोक और परलोक में किसी दूसरे जन्म अथवा जीवन की आशा नहीं तो इस जीवन के प्रति भी उत्साह व्यर्थ है। यह जीवन तो केवल आकस्मिक घटना मात्र है; कारणरहित, परिणामरहित; हुआ हुआ, न हुआ न हुआ !”

अंशुमाला ने रत्नप्रभा का प्रश्न अपनी विरक्त मानसिक स्थिति के अनुकूल अनुभव कर जिज्ञासा से मारिश की ओर नेत्र उठाये—“क्या स्वामिनी सत्य नहीं कह रहीं आर्य; नश्वर और निस्सार में क्या तत्त्व ?”

प्रश्न के प्रति विशेष उत्साह न प्रकट कर मारिश ने उत्तर में संक्षेप से और उपेक्षा के स्वर में प्रश्न किया—“स्वयं मृत्यु अनुभव किये बिना हम मृत्यु को निश्चय रूप से कैसे जानते हैं ?”

“अपने ही समान दूसरे जीवों की मृत्यु देख कर आर्य।” उपधान का आश्रय लिये रत्नप्रभा ने उत्तर दिया।

“इसका अर्थ है, हम भी उसी जीव-परम्परा का अंग मात्र हैं ?” मारिश ने

पुनः प्रश्न किया ।

“निस्सन्देह !” रत्नप्रभा ने स्वीकार किया ।

“जीव और समाज की यह परम्परा हमारे जन्म के अस्तित्व से पूर्व थी और उसके पश्चात् भी रहेगी ?” अपने श्रान्त नेत्र रत्नप्रभा के नेत्रों में गड़ा कर मारिश ने फिर प्रश्न किया ।

“यह भी सत्य है ।” रत्नप्रभा ने स्वीकार किया ।

“तो फिर मरना-जीना व्यक्ति का है । जीव और समाज की परम्परा मनुष्य की कलना की सीमा तक अमर है । व्यक्ति के जीवन का कारण और परिणाम इसी परम्परा में है ।”

“यह सत्य है मित्र परन्तु मृत्यु भय का कारण है, यह भी अनुभूत सत्य है । उस भय से मुक्ति पाये बिना जीवन से अनुराग व्यर्थ है; नहीं क्या ?” रत्नप्रभा मुस्करा दी ।

“तो क्या अमर होने से जीवन निर्भय और सुखमय हो सकेगा ?” मारिश के नेत्रों में विनोद का भाव आ गया ।

“अमरता की कामना स्वाभाविक है । ब्रह्मज्ञानियों ने उसी को परमसुख कहा है । वही अभय है ।”

मारिश ने उपधान का आश्रय छोड़, सीधे बैठ कर प्रश्न किया—“देवी, सजीव और निर्जीव में क्या अन्तर है ?”

पल भर विचार कर रत्नप्रभा ने कहा—“सजीव गतिमान है और निर्जीव गतिहीन अथवा जड़ ।”

“सत्य है,” मारिश ने स्वीकार किया, “और गति का अर्थ है—एक समय और स्थान से दूसरे समय और स्थान में प्रवेश करना, अर्थात् परिवर्तन ! यह परिवर्तन ही गति है, गति ही जीवन है । अमरता का अर्थ है—अपरिवर्तन, गतिहीनता । देवी, यदि सूर्य जैसे और जहाँ है, वहीं स्थिर हो जाय; यदि जल, वायु जैसे और जहाँ हैं, स्थिर हो जाय; सब स्थिर और अपरिवर्तनशील हो जाय, सम्पूर्ण प्रकृति जड़ हो जाय तो क्या जीवन काम्य और सुखमय होगा ?”

रत्नप्रभा और अंशुमाला के नेत्रों में विस्मयशून्य स्तब्धता देखकर मारिश बोला—“देवी, यदि सब परिवर्तन काम्य हैं तो मृत्यु भी परिवर्तन के क्रम का अंग है; जीर्ण के स्थान में नवीन का आना !”

आलस्य के भाव से मुस्करा कर रत्नप्रभा ने स्वीकार किया—“आर्थ ने

कठोर सत्य को और कठोर बना दिया। यदि अनुमति हो, विश्राम की इच्छा है। आर्य थके नहीं, अंशु भी नहीं तो बैठें।”

रत्नप्रभा के चले जाने के कुछ क्षण पश्चात् मारिश बोला—“यदि भद्रे को अप्रोतिकर न हो, उस संध्या के प्रसंग में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।”

“आर्य को जैसा इष्ट हो।” विनय से अंशु ने उत्तर दिया।

“उस प्रसंग पर भद्रे ने विचार किया?”

“अनेक बार आर्य, बहुत समय तक; प्रायः निरन्तर।”

“भद्रे की क्या भावना है?”

“आर्य, मैं त्रस्त हूँ। जीवन की सार्थकता मेरे भाग्य में नहीं। यह जीवन स्वामिनो की सेवा में, समर्थ भाग्यशालियों के विमोद के लिये कला की सेवा की उपजीविका में व्यतीत होगा।”

जीवन के प्रति अंशुमाला की विरक्ति और वैराग्य से मारिश का समवेदना पूर्ण हृदय द्रवित हो उठा। उसके कातर नेत्रों की व्यथा से बचने के लिये वर्षा-कणों के शेषरों से पूर्ण अधर की ओर दृष्टि कर वह स्वगत जैसे बोला—“कला! ...कला क्या है?”

स्वयं ही उसने उत्तर दिया—“कला केवल उपकरण मात्र है, कला जीवन के लिये और उसकी पूर्ति में ही है। जीवन में विरक्ति और जीवन के उपकरण से अनुराग का क्या अर्थ? ... किसी का जीवन अन्य की तृप्ति और जीवन की पूर्ति का साधन मात्र होकर रह जाय? वह जीवन सृष्टि में अपनी सार्थकता से सृष्टि में नारी के जीवन की मौलिक सार्थकता से वंचित रह जाय? जैसे सेवा के साधन दास का जीवन! ... भयंकर प्रवचना!”

अंशुमाला का मस्तिष्क अपनी समस्या पर निरन्तर चिन्तन करने से उलझ रहा था। रूप-लोपुष, व्यसनी रसिकों के आप्रद्ध से उसे भयन था परन्तु मारिश की समवेदना उसे परास्त और अवश सा किये दे रही थी। वह परास्त और विचलित न होने का निश्चय कर चुकी थी। अपनी कातरता को छिपा कर उस ने जिज्ञासा की—“सृष्टि में नारी के जीवन की मौलिक सार्थकता से आर्य का अभिप्राय?”

मारिश ने अंशु के साहस से तनिक अप्रतिभ अनुभव कर, उसके नेत्रों में देख कर उत्तर दिया—“भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उस के चारों ओर घूमता है

जैसे कोल्हू का बेल !”

मारिश की बात से अंशु की स्मृति में मधुपर्व उत्सव में उसकी सफलता और इस सफलता पर मारिश की स्तुति ने पुनः सजीव होकर उसे अधीर कर दिया। मन के आवेग का निग्रह कर उसने पुनः कहा—“आर्य, वह सब नारी के जीवन की सार्थकता अवश्य हैं, वह नारी की दुर्दमनीय प्रकृति और स्वभाव भी है परन्तु उस सार्थकता को नारी पा सकती है केवल अपने अस्तित्व के मूल्य में, केवल पुरुष की भोग्य बन कर। स्वयं दूसरे के लिये भोग्य बन कर कोई स्वयं क्या सार्थकता पायेगा आर्य ?”

रक्त का वेग बढ़कर अंशुमाला के मस्तक पर स्वेद छलक आया और स्वर में तीव्रता आ गयी। संघा और मेघ की श्यामलता के कारण मारिश अंशु की उत्तेजना न जान सका। केवल तीव्रता से ही उसे सन्तोष हुआ कि अंशु पर उसके कथन का प्रभाव हुआ है।

अनेक अण विचारमग्न रह कर मारिश पुनः बोला—“भद्रे का कथन अंशतः सत्य है और अंशतः असत्य।” विचार की गम्भीरता के कारण उसका स्वर संयत था, ‘कल्याणी, अनेक परस्परविरोधी तत्वों का समुच्चय ही जीवन है। एक ही प्रयोजन से मनुष्य परस्पर-विरोधी व्यवहार करता है। नारी के प्रति अनुराग से, उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अपने आधीन रख कर उसे आत्म-निर्भर नहीं रहने देता। नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रम हैं। पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है परन्तु भद्रे, नारी के जीवन की सार्थकता के लिये पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है।”

उत्तेजित स्वर में अंशुमाला ने पुनः उत्तर दिया—“आर्य, इस प्रश्रय में नारी के जीवन की सार्थकता क्या है; पुरुष द्वारा उसका भोग और उपयोग ! जैसे पान की इच्छा होने पर पानपात्र की सार्थकता है। आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतंत्र है। वेश्या स्वतंत्र नारी है।” उसके श्वास की गति तीव्र हो गयी और वह मेघों की ओर दृष्टि लगाये हुये मारिश की ओर देखने लगी।

अंशु को उत्तर देने के लिये मारिश ने उसकी ओर दृष्टि की और उत्तेजना-हीन गम्भीर स्वर में प्रश्न किया—‘भद्रे, वेश्या की, जनपदकल्याणी की स्वतंत्रता की सार्थकता क्या है ? अपनी स्वतंत्रता से वह क्या प्राप्त करती है ? देवी रत्नप्रभा ने क्या पाया ? यदि कुल-बधू एक पुरुष की भोग्य है तो जनपदकल्याणी वेश्या

सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है। वह जन को कामना का संकेत देती है और उस के मूल्य में जीवन के भोगों का साधन केवल धन पाती है... इसके अतिरिक्त और क्या? वेश्या जीवन की गति अर्थात् 'काम' का उत्तेजक साधन है परन्तु परिणाम में स्वयं उसका 'काम' अर्थहीन और वंचित रहता है। उसकी कला दूसरों के जीवन में वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप में उपयोगी है परन्तु वह स्वयं क्या पाती है? वह काम के यज्ञ का साधन मात्र है। वह स्वयं पूर्ति के हविष्य से वंचित है। उसकी स्वतंत्रता का भोग न करता है, वह स्वयं नहीं। वह केवल वंचना पाती है।"

अंशु ग्रीवा झुकाये मारिश के उत्तेजना रहित परन्तु कठोर शब्दों को सुनती रही। परास्त और विचलित न होने का उसका निश्चय, तथ्य जान पड़ते तर्कों के सम्पर्क से, जल की शीतल धार से कट कर नदी में गिरते रेत के कगार की भांति प्रवाह में गिर पड़ रहा था वह जैसे आश्रय के लिये मारिश की प्रतीक्षा में फैली आमंत्रित करती भुजाओं में गिर पड़ा चाहती थी। वह प्रकाश की न्यूनता की शरण पाये ओंठ दबाये बैठी रही। वह अपने नेत्रों की आर्द्रता मारिश के सम्मुख प्रकट न होने देना चाहती थी। इस कारण नेत्र पोंछ लेने की सुविधा न थी। ग्रीवा झुकी रहने के कारण वह यह भी न जान सकती थी कि मारिश उसकी ओर देख रहा है अथवा मेघों की ओर।

अलिन्द में सहसा प्रकाश हो गया। प्रकाश हाथ में लिये दासी दग्धा ने आकर निवेदन किया—“स्वामिनी भोजन के लिये आर्य और देवी की प्रतीक्षा कर रही हैं।” निराश्रय, मंजुघार में बही जाती अंशु ने त्राण पाया।

उच्छुद्ध मारिश अनेक बार देवी रत्नप्रभा के प्रासाद में आतिथ्य ग्रहण कर चुका था परन्तु इतने दिन न टिका था। मारिश का समय विरक्त और मौन रह कर वायु में हिलते वृक्षों के पत्रों को देखते रहने से न कटता। उसने प्रासाद के उद्यान में मौलश्री वृक्ष के नीचे जलकुण्ड के समीप एक शिलाखण्ड लेकर मूर्ति गढ़ना आरम्भ किया। भाद्रपद के मेघ रहित आकाश के प्रचण्ड सूर्य की किरणों में भी माथे से स्वेद की धाराये बहाते हुये और वर्षा में भीगते हुये भी वह हथौड़ा और छेनी लिये विगल शिलाखण्ड में से अपनी कल्पना का रूप निखारने के परिश्रम में व्यस्त रहने लगा।

रत्नप्रभा कभी प्रातः और कभी संध्या, नित्य ही उस शिलाखण्ड में से प्रकट होते रूप को देखने जाती, रत्नप्रभा के पुच्छने पर कि वह क्या बना रहा है, मारिश

उत्तर देता—“अपनी कल्पना को, मन की कामना को चरितार्थ कर रहा हूँ।”

मारिश को सम्बोधन करते समय रत्नप्रभा के ओठों पर और नेत्रों में प्रकट मुस्कान के पीछे हृदय में वेदना का एक शूल-सा खटकता रहता। जीवन के सम्पूर्ण प्रयत्न से उसने जनपदकल्याणी की अपनी प्रतिष्ठा और वैभव का मंदिर खड़ा किया था परन्तु इस मन्दिर में अर्चना के देवता का स्थान शून्य ही रह गया। इस अभाव के कारण उस वैभव और सफलता की कुछ सार्थकता न हो पायी। क्या मारिश ‘पुरुष देवता’ के रूप में उस अभाव को पूर्ण नहीं कर सकता ?

रत्नप्रभा सोचती, मारिश से पुरुष के देवत्व की भिक्षा मांग उसे क्या देगी ? अपना ऊसर वार्धक्य ? उस उच्छृङ्खल युवक पर वह केवल अपना वात्सल्य ही निछावर कर सकती थी। और अंशुमाला ? ...अंशु का यौवन कछूये की भांति अपने आप में सिमटा हुआ अनुराग के प्रहारों को व्यर्थ कर रहा था। इस चतुर आखेटक ने उसके मर्मस्थान पर चेतना का वाण मार कर उसे व्याकुल कर दिया। आत्मरक्षा के लिये वह गहरे जल के एकान्त में छिप कर त्राण खोज रही है।

रत्नप्रभा मन ही मन दुलार से कहती—मूर्खा, श्वास रोके कब तक तू गहन तल के एकान्त में पड़ी रहेगी ? तेरे सम्मुख जीवन का मांग है और तेरी प्राण-शक्ति तुझे उस ओर ले जा रही है। तू स्वयं अपने से कब तक युद्ध करेगी ! जाने नक्षत्रों की क्या इच्छा है ?

अंशु परास्त और विचलित न होने का निश्चय किये अपने आपसे लड़ रही थी। मध्याह्न की नीरवता में अपने कक्ष में अकेली रहने पर उसे मारिश के छैनी और हथौड़ा लेकर शिलाखण्ड पर निरन्तर आघात करने का शब्द सुनाई देता रहता। उसे अनुभव होता, वह प्रहार स्वयं उसके अपने हृदय पर हो रहे हैं। फिर भी उन्हें सुनने की प्रवृत्ति होती, कुछ मधुर लगता। कोई आक्रोश या प्रतिद्विषा उन प्रहारों के प्रति उसे न थी। उसे आक्रोश था, अपने प्रति; क्यों वह विचलित हो रही है ?

उस दिन मेघाच्छन्न शीतल दिवस में भी मारिश शिलाखण्ड और अपने यंत्रों को भुलाये निश्चेष्ट बैठा था। रत्नप्रभा ने जिज्ञासा की—“आर्य, आज कला कार्य से विरक्त क्यों हैं ?”

“देवी, वह भाव पूर्ण हो गया।” मारिश के उत्तर से रत्नप्रभा विस्मित

रह गयी। बीच में केवल एक ही दिन वह उस शिलाखण्ड के समीप न जा सकी थी। उसने साचा, इतने अल्प समय में वह विशाल शिलाखण्ड किस चमत्कार से मूर्ति में परिणित हो गया होगा ?

“क्या आर्य कला का वह उत्कृष्ट रत्न स्वयं चल कर दिखायेंगे ?” उसने मारिश से आग्रह किया।

मारिश के अनुमति प्रकट करने पर रत्नप्रभा ने दासी दग्धा को आदेश दिया—“सखी अंशुमाला को और मुक्तावली को भी आयुष्मान की कलाकृति का दर्शन-मुख पाने के लिये निमंत्रित करो !”

जलकुण्ड के समीप खड़े शिलाखण्ड को रत्नप्रभा, अंशुमाला और मुक्तावली ध्यान से देख रही थीं। शिलाखण्ड का ऊपर और नीचे का भाग अछूता था। केवल मध्य में दक्षिण की ओर आधे भाग में गवाक्ष बन गया था और उससे किसी पूर्ण युवा नारी का एक उन्नत स्तन, त्रिवली पर भीतर झुकाव और नाभी से झुकता वर्तुल उभार दिखायी दे रहा था। रत्नप्रभा अपनी सखियों सहित अनेक क्षण चिबुक पर तर्जनी रखे ध्यान से उस कृति का मनन करती रही। मारिश भी मौन खड़ा रहा।

“आर्य !” रत्नप्रभा ने मूर्तिकार को सम्बोधन किया, “क्या यह कृति पूर्ण है ?”

“देवी, मेरे अभिप्राय से यह पूर्ण है।” मारिश ने उत्तर दिया।

रत्नप्रभा ने मुस्कान से आग्रह किया—“आर्य, मेरे मन से यह नारी का अंग मात्र है, पूर्ण नारी नहीं।”

अपने रूखे केशों को अंगुली से खुजा कर मारिश ने उत्तर दिया—“देवी का कथन उचित है परन्तु नारी का यही अंग उसके नारीत्व की सार्थकता के लिये पुरुष का आह्वान करता है और फिर उस फलीभूत सार्थकता का पोषण करता है। यही नारी है, देवी।”

रत्नप्रभा ने विचार में गम्भीर मारिश की ओर आदर से देखा—“आर्य, यह पापाण के चिरस्थायी स्वर में नारी के जीवन की व्याख्या है।” रत्नप्रभा के स्वर में स्तुति थी।

मुक्तावली ने लजा कर ओठों पर आ गयी मुस्कान छिपाने के लिये मुख फेर लिया। अंशु ध्यान से शिलाखण्ड में कटे गवाक्ष की ओर देखती रही। उसके कान में मारिश के वे ही शब्द गूँज रहे थे जो नारी में सृष्टि की आदि-शक्ति है !

अंशु रात्रि में पुनः अनिद्रा से पर्यंक पर करवटें लेती, उभरे उरांजों के नीचे अधीर होते हृदय को दोनों हाथों से संभाले, जीवन की सार्थकता और उस सार्थकता के मूल्य की मीमांसा करती रही। प्रत्येक कुछ क्षण पश्चात् दीर्घ निश्वास लेकर वह निश्चय करती, वह अविवलित रहेगी।

दूसरे दिन प्रातः, रात्रि में अनिद्रा के कारण मस्तिष्क पर छायी हुई जड़ता से मुक्ति पाने के लिये अंशु सूर्योदय के समय ही अपने कक्ष से उठ उद्यान में फूले कदम्ब के नीचे जा बैठी। मारिण को अपनी ओर आते देख उसे अपने ऊपर क्रोध अनुभव हुआ परन्तु शास्तीनता से उसने अभ्यर्थना की—“आर्य का मन और शरीर स्वस्थ है ?”

कदम्ब वृक्ष के तने का आश्रय लेकर मारिण अंशु के समीप खड़ा हो गया। उसके नेत्र अनिद्रा के कारण रक्त और उभरे हुये थे। अंशु के बोझिल और श्रान्त नेत्रों की ओर देख कर उत्तर में उसने प्रण किया—“भद्रे, क्या मन की दुविधा के कारण अनिद्राजनित शैथिल्य को दूर करने की चेष्टा में है ?”

“आर्य का अनुमान सत्य है।” मुस्कान का शिष्टाचार भूल अंशुमाला ने ग्रीवा झुका कर स्वीकार किया।

“परन्तु भद्रे, समस्या का समाधान हुये बिना दुविधा का अन्त नहीं होता। समस्या है, प्राणों और जीवन की स्वाभाविक गति और प्रवृत्ति की पुकार; प्राणों का दमन और आत्महनन समस्या का समाधान नहीं है।”

“परन्तु आर्य, मेरे लिये प्राणों के दमन और आत्महनन के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं।” निरुत्साह से अंशु ने उत्तर दिया।

“इस विश्वास का कारण भद्रे ?”

“आर्य, मैं त्रस्त हूँ; अपने जीवन के अनुभवों से त्रस्त हूँ।” अंशु के नेत्रों और स्वर में कातरता आ गयी।

मारिण कदम्ब के वृक्ष का आश्रय छोड़ कर अपने पांव पर खड़ा हो गया और बोला—“भद्रे, जीवन का कोई अनुभव स्थायी और चिन्तन नहीं। जीवन की स्थिति समय में है और समय प्रवाह है। प्रवाह में साधु-असाधु, प्रिय-अप्रिय सभी कुछ आता है। प्रवाह का यह क्रम ही सृष्टि और प्रकृति की नित्यता है। जीवन के प्रवाह में एक समय असाधु, अप्रिय अनुभव आया इसलिये उस प्रवाह से विरक्त होकर जीवन की तृषा को तृप्त न करना केवल हठ है।”

“आर्य, उस प्रयत्न में विफल हो चुकी हूँ।”

“भद्रे, जिन परिस्थितियों में वह प्रयत्न विफल हुआ, वह शाश्वत न थी। निरन्तर प्रयत्न ही जीवन का लक्षण है। जीवन के एक प्रयत्न या एक अंश की विफलता सम्पूर्ण जीवन की विफलता नहीं है भद्रे !”

मारिश को उत्तर की प्रतीक्षा में मौन देख कर अंशुमाला झुके हुये नेत्र उसकी ओर उठा कर बोली—“आर्य, यह भी सत्य है परन्तु मैं त्रस्त हूँ। प्रश्रय के मूल्य पर जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्मनिर्भरता स्वीकार है। आर्य, यही मेरा निश्चय है।” अपने आपको नितान्त अवश अनुभव कर उसने उत्तरीय नेत्र ढक कर ग्रीवा झुका ली।

मारिश एक दीर्घ निश्वास से अपने आपको संयत कर पुनः बोला—“भद्रे, संतोष पाने और संतोष देने की आशा से मैंने तुम्हें क्लेषित किया। देवी का निश्चय जान कर आज मारिश मथुरापुरी से प्रस्थान कर जायेगा। भद्रे उसका शुभ संकल्प स्वीकार करें।”

मारिश को मथुरापुरी से गये डेढ़ वर्ष व्यतीत हो गया। रत्नप्रभा प्रायः उसे स्मरण कर उसके प्रसंग में बात करती। अंशु ने स्वयं वार्तालाप में उस स्मृति को कभी न जगाया। शनैः-शनैः उसके प्रकट व्यवहार में परिवर्तन आने लगा। निरन्तर अवसाद की जड़ता से मुक्ति पाकर कला के अध्यवसाय में वह विशेष उत्साह पाने लगी। उस वर्ष वृन्दावन के दोलोत्सव में उसने गुरु-पूजा के अभिनय में नृत्य-संगीत का नवीन समन्वय ‘सरस्वती मल्लिका’ नाम से उपस्थित किया। उसकी ख्याति जनश्रुति की लहरों पर दूर देशों की ओर फैलने लगी।

मथुरापुरी के रसिक समाज ने संतोष अनुभव किया—नगर की शोभा, जन-पदकल्याणी रत्नप्रभा से उद्यान में कला की अस्फुट कलिका अंशुमाला अपने पाटल दल विकसित कर सौरभ उन्मुक्त करने लगी। सुदूर देश सागल में स्थित कला की अधिष्ठात्री सरस्वती मल्लिका की उन्होंने केवल कीर्ति सुनी थी। अंशुमाला को वे स्वयं देख रहे थे। अंशुमाला से अधिक सरम कला की कल्पना उनके लिये सम्भव न थी।

अंशुमाला का निराशा और विरक्ति में बीतने वाला एकान्त समय कला के रहस्यों के चिन्तन और साधन में बीतने लगा। वह मारिश की स्मृति से मुक्ति पाने का संघर्ष न करती। जैसे तात, प्रबुद्ध शर्मा, घाटा और छाया की स्मृति

थी, वैसे ही मारिश की भी; उससे कुछ अधिक समीप। कभी वह आशा करती, पुनः आने पर आर्य देखेंगे कि मैंने जीवन में संतोष का एक अवलम्ब पाया है।

शिशिर के आरम्भ में एक दिन रात्रि के पहले पहर की समाप्ति पर समाज का अन्त हुआ। नृत्य के श्रम से छलके हुये स्वेद-बिन्दुओं पर शीतल वायु का सुखद स्पर्श पान के लिये अंशुमाला चतुश्शाल से निकल कर शुक्ल पक्ष की चादनी में चटके मालती कुंज की ओर चली गयी। कुछ समय पश्चात् एक दासी ने आकर निवेदन किया—“देवी, एक अभिजात विदेशी अभ्यागत साक्षात्कार के लिये चतुश्शाल में इस समय तक प्रतीक्षा कर रहा है।”

अंशु की कल्पना में मारिश की स्मृति कौंध गयी परन्तु दासियां आर्य मारिश से परिचित थीं; सूने हो गये चतुश्शाल में अभ्यागत दीप के प्रकाश में अकेला बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। अलिन्द में ही सविनय अभिवादन कर समीप जा कर अंशु ने ध्यान से देखा। विस्मय से मुक्त रह गये उसके आँठों से निकला—“आर्य कुशल-क्षेम से हैं? तात, बन्धुवर्ग और कुलनारियां कुशल हैं? आर्य ने इस नगरी पर कब कृपा की?”

अंशुमाला की शिष्टाचार की मुस्कान का प्रभाव रुद्रधीर की गम्भीरता पर न पड़ा। उसने उत्तर दिया—“भद्रे को स्मरण होगा, धर्मास्थान से पाये दो सहस्र दिवस के निर्वासन-दण्ड के कारण इतने काल तक मैं सागल में नहीं था। केवल संवाद द्वारा ही सागल का वृत्तान्त जान पाया। मगध-प्रवास के समय देवी अंशुमाला की ख्याति सुनकर स्वदेश के मार्ग में देवी के दर्शन की इच्छा से चला आया। जो देख रहा हूँ, कल्पनातीत था।”

रुद्रधीर के संकेत से मन पर आते अवसाद का प्रतिकार कर और मुख पर मुस्कान बनाये रखने का यत्न कर अंशुमाला ने उत्तर दिया—“आर्य, स्रोत से निकलते समय जल नहीं जानता वह किस दिशा में किस नदी और किस सागर में बह जायगा।”

अंशुमाला की तटस्थ सरलता से कुण्ठित होकर उसका मन कुरेदने के अभिप्राय से रुद्रधीर ने कहा—“दासपुत्र पृथुसेन और गणपति की पौत्री सीरो के विवाह का समाचार मगध में सुना था और कुमारी के विषय में अकाल मृत्यु का अपवाद भी। क्या यह भद्रे के उसी शरीर में उसका पुनर्जन्म है?”

अंशुमाला विक्षिप्त न हुयी—“आर्य का अनुमान सत्य है।” उसने मुस्करा दिया। अंशु की तटस्थता रुद्रधीर के लिये असह्य हो गयी।

“ऐसा ही होगा ।” उसकी ग्रीवा झुक गयी और फिर सहसा नेत्र उठा कर अशु के नेत्रों में देख वह बोला—“प्रपौत्री के शोक में तात धर्मस्थ के स्वर्गारोहण का सम्वाद भी सुना था ।” स्वयं ही लज्जा अनुभव कर उसकी दृष्टि पुनः झुक गयी और क्षीण स्वर में उसने कहा, “तात आचार्य भी उदर रोग से संसारमुक्त हो चुके हैं !”

अंशुमाला कुछ क्षण मोन रह गयी । उसका स्वर आर्द्र हो गया—“तात आचार्य और तात धर्मस्थ अत्यन्त वत्सल थे । वे सभी के प्रिय थे । वे देवताओं के आदर के योग्य थे इसलिये स्वर्ग में भी उनका आह्वान हुआ ।...आर्य को विदेश में और यात्रा में असुविधा तो नहीं हुयी ? मगध विशाल और समृद्ध साम्राज्य है । उसकी विशेष ख्याति और महिमा है परन्तु मातृभूमि का आकर्षण स्वभावतः प्रबल होता है । स्वदेश के लिये आर्य की यात्रा मंगलमय हो ।”

चिरकाल पश्चात् सहसा दिव्या को देख कर जैसा भावोद्रेक रुद्रधीर ने अनुभव किया था वैसा आवेग दिव्या के व्यवहार में न था । वह मन ही मन अत्यन्त अनुत्साहित और कुण्ठित हो रहा था । इस परिस्थिति को टालने के लिये वह बोला—“इस समय विलम्ब हो जाने के कारण भद्रे अवकाश दें । यदि मथुरापुरी में कुछ समय रहा तो पुनः दर्शन की इच्छा करूंगा ।”

“कृपा होगी आर्य !” हाथ जोड़ कर विनीत शिष्टाचार से अंशुमाला ने उत्तर दिया, “अभ्यागतों का अनुग्रह ही इस प्रासाद का सोभाग्य है । दासी अनुगृहीत होगी ।”

मथुरापुरी में रुद्रधीर ने महापण्डित आचार्य सुचित के प्रासाद में आतिथ्य ग्रहण किया था । मगध में ही शूरसेन की जनपदकल्याणी रत्नप्रभा की शिष्या अंशुमाला की ख्याति सुन कर कौतूहल से देवी का दर्शन करने वह रत्नप्रभा के प्रासाद में गया । वहाँ अकस्मात् अपने विश्वास में मृत दिव्या को सजीव पाकर दिव्या के प्रति उसका अतीत अनुराग सहसा उमड़ आया परन्तु दिव्या के व्यवहार में शिष्टाचार का आवरण लिये विरक्ति से वह हतप्रतिभ अनुभव कर रहा था । अंशुमाला की निस्संकोच शालीनता उसे वेश्या का व्यवहारिक शिष्टाचार जान पड़ा जो कुलकन्या के लिये निलज्जता और धृष्टता थी । अनुराग और विरक्ति के द्वन्द्व से रुद्रधीर का मस्तिष्क विक्षिप्त हो उठा ।

रत्नप्रभा के समाज में दिव्या को पहचान कर रुद्रधीर अनेक क्षण तक विस्मय से जड़वत् रह गया । मस्तिष्क सुस्थ होने पर सागल का अतीत जीवन उसकी

कल्पना में सजीवन हो उठा। अंशुमाला और मुक्तावली का नृत्य और रत्नप्रभा का संगीत उसके लिये निरर्थक और निष्प्रयोजन था। अपनी कल्पना में वह तात धर्मस्थ तथा अन्य सामन्तगण के प्रासादों और देवी मल्लिका के समाज में स्थान-स्थान पर दिव्या को देखने लगा।

अब वह फिर उसी सागल की ओर लौट रहा था। स्लेच्छों, दासों और शूद्रों के हाथों से मद्र के द्विजकुल की राज्यलक्ष्मी का उद्धार करने की उसकी प्रतिज्ञा थी। उस मार्ग में मद्र के द्विजकुल के अपमान के संकेत, दासपुत्र पृथुसेन द्वारा वचित, प्रताड़ित दिव्या का उद्धार कर वह पृथुसेन और मद्र के जनसमाज को दिखायेगा, विजय किसकी है !

परन्तु दिव्या के व्यवहार और शब्दों ने उसकी कल्पना के प्रासाद की भित्ति ढहा दी। मन में उमग उठी आशा को दीर्घ निश्वास से निकाल फेंकने का यत्न कर वह अपने मन का समझाने लगा—जिस संकोचशील, भोरे, कुलकन्या, कुमारी दिव्या की कामना उसने की थी, वह ससार से लोप हो चुकी है परन्तु प्रत्यक्ष देख सत्य को उसका यह मानसिक प्रयास परास्त न कर सका।

महागण्डित आचार्य सुचित के विशाल प्रासाद में मध्यरात्रि की देवपूजा के अनुष्ठान में घंटा, घड़ियाल और शख का नाद समाप्त होकर नीरवता छा गयी। प्रहरियों की अपनी निद्रा के प्रतिकार के लिये दूसरों को सचेत और सावधान रहने की ललकार के अतिरिक्त और कोई शब्द सुनायी न देता था। उस ललकार की रक्षा में निद्रागतों के समश्वास की नीरवता विशाल प्रासाद के प्रत्येक कक्ष से उठ कर आकाश में भर रही थी परन्तु रुद्रधीर के नेत्रों में निद्रा न थी। गृहपति के विशेष अनुगृहीत आयोजन से अत्यन्त कोमल पर्यंक पाकर भी वह मानसिक उल्लङ्घन के कारण करवटें ही ले रहा था। निद्रा के सभी संचारी उपकरण व्यर्थ थे। सुस्वादु भोजन और सुरभित मधुर सुरा उसे रुच नहीं रही थी। यात्रा से श्रांत शरीर ने कोमलांगी, सेवा-चतुर दासी द्वारा सेवा पाकर भी विश्राम अनुभव न किया।

दिव्या का व्यवसायिक शिष्टाचार और उसका अतीत की उपेक्षा करना रुद्रधीर को बार-बार स्मरण हो आता। बार-बार उसके शब्द मरिचक में जाग उठते—‘अभ्यागतों का अनुग्रह ही इस प्रासाद का सौभाग्य है, दासी अनुगृहीत होगी।’ साधारण अभ्यागत के प्रति आदर का यह व्यवहार रुद्रधीर को अपनी असह्य उपेक्षा और अपमान अनुभव हुआ। इन शब्दों में वेश्या की आत्मा और

उसकी वृत्ति की प्रतिध्वनि गूँज रही थी। कोमल, पुनीत, कुलकन्या दिव्या के मृत शरीर पर उसे निलंज्ज वारांगना अंशुमाला ताण्डव करती दिखाई दे रही थी। भ्रांति के मार्ग पर पड़ गये अपने पदों को लौटा कर वह अपने ध्येय की ओर चलने के लिये मन को समझा रहा था।

आचार्य सुचित की गोष्ठी में उसने अशुमाला की विशेष स्तुति सुनी। वेश्या के गुणों को कुलनारी के लिये अपवादस्वरूप ग्रहण कर उसने अपने मन को समझाया—वेश्या...मोहन उसका व्यवसाय है परन्तु वृद्ध आचार्य सुचित के पुत्र, रुद्रधीर के समवयस्क अनिरुद्ध ने अशुमाला के प्रति विरक्ति से कहा—“अशुमाला दूर से देखने की वस्तु है। वह कला की काण्ठ पुत्तलिका है। उसका भावविलास केवल कला का अनुष्ठान है। वह निलिप्त नर्तकी है। वह कला की भृत्ति करती है। वह मन को सन्तोष देने वाली वेश्या नहीं है...”

अशुमाला के प्रति अपवाद के इस आघात ने रुद्रधीर के कानों पर पड़ कर अनिच्छा होने पर भी उसे कल्पना करते रहने के लिये विवश कर दिया और उसकी कल्पना में सिसकती अशुमाला के शव पर, छली दासपुत्र द्वारा पीड़ित और त्रस्त, पुनीत कुमारी दिव्या अपने सौभाग्यरूप में खड़ी दिखायी देने लगी। रुद्रधीर विचलित हो उठा।

रुद्रधीर ने यात्रा की श्रान्ति दूर करने के लिये मथुरापुरी में केवल दो दिवस विश्राम करने का निश्चय किया था परन्तु उसे वहाँ पूरा एक पक्ष बीत गया। वह नित्य संध्या समय रत्नप्रभा के प्रासाद में जाकर समाज में सम्मिलित होता। समाज के पश्चात् भी प्रासाद में विलम्ब कर वह अशुमाला से वार्तालाप करता। अंशुमाला विनीत, शिष्ट और निस्सकोच आदर के लिये प्रस्तुत रहती। आत्मीयता से शून्य, शिष्टाचार से पूर्ण अशुमाला का व्यवहार रुद्रधीर के लिये संतोष का नहीं, व्यथा का ही कारण होता। वह सागल के प्रासादों में समाज के समय अपने सम्मुख आ जाने से भाव में संकोच की भीरुता, नेत्रों में लज्जा की कातरता से ग्रीवा झुका लेने वाली दिव्या के व्यवहार में पुनः अपने तेज की स्वीकृति देख पाने के लिये व्याकुल और व्यग्र हो रहा था।

रुद्रधीर के विचार और विश्वास में अतीत की स्मृति के सम्बंध से अंशुमाला के समीप उसका विशेष स्थान और अधिकार था परन्तु रत्नप्रभा के समाज में सम्मिलित होने वाले शतशः अभिजातवंशीय प्रतिष्ठितों में उन्हीं के समान एक व्यक्ति था। अधिक द्रव्य भेंट कर सकने वाले अतिथियों का आदर अपनी अपेक्षा

अधिक देखना उसके अधिकार और वंश का निरादर था । समूह में उपेक्षित और अनिर्दिष्ट रह जाना उसके लिये हृदय पर शूल के आघात के समान था । उस व्यवहार से विरक्ति अनुभव कर वह अपने आतथेय के यहां लौट जाता ।

रात्रि के एकान्त में विचार करते समय अनिरुद्ध शर्मा के मुख से सुना अपवाद कानों में पुनः पुनः गूँजता रहता—अंशुमाला कला की काष्ठ पुत्तलिका है । उसका भावविलास केवल कला का अनुष्ठान है । वह निर्लिप्त नर्तकी है । वह कला की भृत्ति करती है । वह मन को संतोष देने वाली वेश्या नहीं—। रुद्रधीर का मन आगे कहता—वह विप्र कुल की कन्या है, अभिजात सामन्त वंश की वधू-लक्ष्मी है । उसका नारीत्व सुरक्षित है । रुद्रधीर की विरक्ति प्रबल आसक्ति में परिणित हो जाती—वह निश्चय ही दिव्या को पुनः प्राप्त करेगा । रुद्रधीर के लिये किसी सध्या भी रत्नप्रभा के समाज में अनुपस्थित रहना असम्भव हो गया ।

रुद्रधीर ने निश्चय किया—वेश्या के आसन पर स्थित दिव्या की दृष्टि में अपने लोभ के कारण न सही, स्वामिनी की सेवा के विचार से सही, यदि द्रव्य का ही सम्मान है तो द्रव्य भी वह देगा । द्रव्यहीन वह भी नहीं । वह मद्र गण-राज्य की परिषद के सवाहक का पुत्र, दश ग्राम के अग्रहार का उत्तराधिकारी विप्र सामन्त है ।

विदेश में यात्रा करते समय रुद्रधीर विशेष द्रव्य लेकर न चला था । सागल से विदेश के लिये प्रस्थान करते समय आचार्य प्रवर्धन ने अभाव और आड़े समय से पुत्र की रक्षा करने के लिये सिंहल के बड़-बड़ मुक्ताओं का सात लड़ी का हार रुद्रधीर के गले में अपने हाथों से पहना दिया था । वह बहुमूल्य हार प्रायः एक ग्राम की सम्पत्ति के मूल्य का और आचार्य वंश की पारिवारिक सम्पत्ति का अंग था । रुद्रधीर उस हार को अपने वस्त्रों के नीचे सदा हृदय पर पहने रहता था ।

अंशुमाला समाज में अस्तोन्मुख चन्द्रमा के प्रति चक्रवाक की व्याकुलता का रूपक नाच रही थी । निष्पलक समाज अत्यन्त तन्मयता से उसकी प्रत्येक भाव-भंगी को देख रहा था । अंशु की फैली बांहों में अगुलियाँ, नेत्र, ओष्ठ सूक्ष्म कम्पन से चक्रवाक की व्यग्रता प्रकट कर रहे थे । अभिनय भावोद्वेग की चरम सीमा पर पहुँच गया । समाज अवरुद्ध-श्वास और स्तब्ध था ।

मुद्रा पूर्ण कर अंशुमाला ने श्वास लिया । बादक अपने यंत्रों को एक ओर

रख कर मस्तक से स्वेद पोंछने लगे। नर्तकी की मोहक कला पर निछावर रसिक समाज अपनी भावना की अभिव्यक्ति में स्वर्णमुद्रा, रत्न और आभूषण रत्नप्रभा के आसन के सम्मुख भेंट करने लगे। अंशु मुस्कान से रसिकों का आदर स्वीकार कर रही थी। सहसा मुक्ता का एक भारी हार समाज में से फेंका जाकर अंशुमाला के चरणों के समीप गिरा।

उस माला को देखकर समाज विस्मित रह गया। समीप बैठे श्रेष्ठी विनायक के नेत्र फैल गये। उसके मुख से सहसा निकला—“एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा !”

समाज माला फेंकने वाले विदेशी की ओर विस्मय से देखने लगा। अंशु ने देखा, रुद्रधीर माला फेंक कर ग्रीवा ऊंची किये ललकार की मुद्रा में खड़ा था। समाज से पायी भेंट वह देवी रत्नप्रभा के सम्मुख रखती जा रही थी परन्तु उस माला को मस्तक से लगा कर वह हाथ में थामे रही।

समाज समाप्त होने पर भी रुद्रधीर अंशुमाला की ओर न गया। गम्भीर मुद्रा में वह अपने आसन पर ही बैठा रहा।

अंशुमाला हाथ में मुक्ता-माला लिये कृतज्ञता से मुस्कराती हुई उसके आसन की ओर गयी।

मन में रुद्रधीर ने कहा—आज अपना मूल्य पाकर तुम संतुष्ट हुई हो...

रुद्रधीर के समीप आकर अंशुमाला विनय से बोली—“कला के प्रति अनुराग से दी गयी आर्य की इस बहुमूल्य भेंट के लिये दासी सदा कृतज्ञ रहेगी।”

रुद्रधीर ने संतोष का श्वास लेकर उपेक्षा के भाव से मुस्करा दिया।

अंशुमाला ने प्रार्थना की—“सागल में आर्य ऐसी शतशः भेंट निछावर कर सकते थे परन्तु विदेश में संकट में समय सहायक हो सकने योग्य इस वस्तु को आर्य अपने से पृथक न करें।”

कुण्ठित भाव से निराशा अनुभव कर रुद्रधीर ने प्रश्न किया—“क्यों, क्या यह क्षुद्र भेंट देवी की स्वीकृति के योग्य नहीं?” उसके स्वर में कठोरता आ गयी, “वैश्या का आसन स्वीकार कर लेने पर क्या द्रव्य के लोभ की सीमा नहीं रहती?”

“नहीं आर्य,” अंशुमाला अब भी मुस्करा रही थी, “दासी आर्य की भावना से कृतार्थ है। भावना को शिरोधार्य करती हूँ।” उसने माला मस्तक से छुआ कर कहा, “परन्तु उस भावना की प्रतीक यह मुक्ता-माला लौटा रही हूँ; जसे अर्घ्यपात्र से केवल अर्घ्य ग्रहण किया जाता है, पात्र नहीं। ऐसा भी आर्य की

विदेश की परिस्थिति के कारण है।”

व्यवसाय की मुस्कान लिये, निस्संकोच, घृष्ट अंशुमाला ने रुद्रधीर की दृष्टि में महसा विराट गरिमा धारण कर ली। उसके रोम सिहर उठे। भावावेश से उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। रुद्रधीर भावावेश से ऊष्ण अपना हाथ मुस्कराती हुई अंशुमाला के शीतल बाहुमूल पर रख कर अधीर स्वर में बोला—“भद्रे, मेरे समीप तुम आज भी श्रेष्ठ विप्रकुल की कुमारी हो। तुम्हारा स्थान विप्रकुल की बधूलक्ष्मी के आसन पर है। मात वर्ष पूर्व आचार्य अग्रहार रुद्रधीर तुम्हारे पाणि के लिये तुम्हारे परिवार के सम्मुख प्रार्थी था। देवी, आज तुम स्वतंत्र हो इसलिये रुद्रधीर तुम्हारे पाणि के लिये तुम्हारे सम्मुख प्रार्थी है। रुद्रधीर सागल की कुलश्री को पुनः सागल पहुंचा कर सागल को भाग्यवान करेगा।”

अंशुमाला के ओठों पर अब भी चित्रलिखित सी मुस्कान स्थिर थी। अंशुमाला के बाहुमूल पर रुद्रधीर की अंगुलियां कठिन हो गयीं। “भद्रे!” रुद्रधीर ने सम्बोधन किया, “तुम्हें आचार्य-पत्नी के रूप में ग्रहण कर रुद्रधीर सागल लौटेगा। तुम्हारा स्थान आचार्य-कुल की महादेवी के आसन पर है।”

अंशुमाला की मुस्कान अब भी विचलित न हुई। कोमल परन्तु स्थिर स्वर में उसने उत्तर दिया—“आर्य, सागल के शैवित्य वंश की कुमारी दिव्या मति-भ्रम से अथवा भाग्य से जीवन की सरिता के अजाने प्रवाह में प्रवेश कर गयी। जब वह उस प्रवाह में से निकली तो यह वेष्या नर्तकी अंशुमाला है। वह अपने कोमार्य की पवित्रता भी खो चुकी। एक द्विज स्वामी के लिये अपित न होकर वह समाज और जन की सम्पत्ति बन गयी।”

रुद्रधीर ने अंशुमाला के और समीप होकर उत्तेजित आर्द्र स्वर में आग्रह किया—“भद्रे, कंचन की खान से लौह उत्पन्न नहीं हो सकता। वंश और कुल मनुष्य की शक्ति से ऊपर देवता की कृति है। मनुष्य न कुल दे सकता है, न कुल छोन ही सकता है। तुम्हारी घमनियों में विप्र का रक्त है। कीचड़ में गिर कर भी स्वर्ण पत्थर नहीं हो सकता। रुद्रधीर प्रतिज्ञा करता है, सागल के आचार्य पद पर वह तुम्हें पत्नी रूप में ग्रहण करेगा।” रुद्रधीर ने गम्भीरता से अंशुमाला के सरल मुस्कान भरे नेत्रों में देखा।

अंशु ने विनय से मुस्करा दिया—“आर्य की भावना के प्रति दासी अत्यन्त कृतज्ञ है। अपनी प्रवृत्ति के कारण दासी कुलवधू के सम्मान के योग्य नहीं। दुर्भाग्य की अग्नि में जल कर दासी ने स्वतंत्र नारी का कलंक पाया है, वही

उसे प्रिय है।”

“क्या कहती हो कुमारी ? तुम विषकन्या हो !” रुद्रधीर का स्वर कांप रहा था।

“आर्य !” अंशुमाला ने मुस्कराकर ही उत्तर दिया, “नदी का जल एक बार उच्छृङ्खल हो कर प्रदेश में फैल जाने पर पुनः लौट कर नदी के तटों में नहीं सिमिट सकता।”

रुद्रधीर अंशुमाला की ओर दृष्टि लगाये निर्वाक रह गया। उसकी मूक कठोरता को अलक्ष्य कर अंशुमाला ने चिन्ता प्रकट की—“विलम्ब के कारण आर्य को रात्रि के शीत से कष्ट होगा। अनुमति हो तो दासी आर्य के रथ में अर्घ्य उपस्थित करने के लिये सेवक को आदेश दे !”

दो दिन नहीं, तीन मास और एक पक्ष तक रुद्रधीर मथुरापुरी में रहा। अनेक प्रकार से, अनेक तर्कों का आश्रय लेकर उसने अंशुमाला के सम्मुख आचार्य की पत्नी के रूप में सागल लौटने की प्रार्थना की परन्तु अंशुमाला ने विनयपूर्ण मुस्कान से असामर्थ्य प्रकट कर क्षमा चाही।

असफल, निराश, विवश रुद्रधीर सागल प्रस्थान के लिये अंशुमाला से विदा लेने आया। उसके अन्तिम स्फुट शब्द थे—“विप्र कुल की सन्तान आर्य, आज भी तुम परम पुनीत हो। अग्निमुख प्रवात-वशज आचार्य रुद्रधीर व्यवस्था देता है, तुम विप्रकुल की लक्ष्मी के आसन की अधिकारी हो। आचार्य के हृदय में तुम पत्नी-रूप में आसीन हो। यह तुम्हारी पवित्रता का प्रमाण है। कुमारी, व्यवस्थापक विप्र का मत ही प्रमाण है। लक्ष्मी, प्रतीक्षा करना। एक दिन रुद्रधीर तुम्हें लेने आयेगा। सागल की कुलश्री पुनः सागल लौटेगी।”

अंशुमाला ने विनय से मस्तक झुका कर मुस्कान से उत्तर दिया—“आर्य की आदर भावना के लिये दासी कृतज्ञ रहेगी। आर्य की कृपा से दासी अपनी अवस्था में संतुष्ट है।”



## सागल

छः वर्ष, चार मास और छः दिवस के प्रवास के पश्चात्, नक्षत्र द्वारा निर्दिष्ट शुभ लग्न में, संध्या वेला आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आचार्य रुद्रधीर ने पूर्व द्वार से पुनः सागल नगरी में प्रवेश किया। रुद्रधीर यात्रा के साधारण वस्त्र पहने थे और यात्रा से श्रान्त परन्तु बलिष्ठ अश्व पर आरुढ़ थे। उनके पीछे अश्वारोही दास श्रम्बक था।

सागल के बाह्य रूप में आचार्य ने विशेष परिवर्तन न देखा। हाट और पण्य जनाकीर्ण और व्यस्त थे। जन के यातायात के कारण मार्ग से उठने वाली धूलि से बचने के लिये व्यापारियों ने अपने हाटों के सम्मुख जल छिड़क कर मार्ग को भिगो दिया था। सब ओर व्यस्तता थी। आमोद के संकेत का भी अभाव न था। पुष्पों के विक्रेता नवस्फुटित पुष्पों की मालाएं और डलिया लिये पुकार लगा कर रसिकों का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। गन्धियों की हाटों से उड़ कर अनेक प्रकार के सौरभ कोलाहलपूर्ण वातावरण में रच रहे थे। नागरिक सुन्दर वस्त्र और पुष्प धारण किये, सुगन्ध रचाये इठलाते चल रहे थे। समृद्ध जन शिविकाओ, रथों और अश्वों पर संध्याविनोद के लिये पुष्करिणी उद्यान अथवा नर्तकियों के स्थानों की ओर जा रहे थे। भीड़ में मुण्डी सन्यासी भी दिखाई दे जाते थे। अपने कार्य और विनोद में व्यस्त जन ने नवागन्तुक अश्वारोही की ओर ध्यान न दिया। उस अत्यन्त सामान्य स्थिति में पहचाने जाने की इच्छा रुद्रधीर को भी न थी।

राजपथ से आचार्य-प्रासाद के लिये मार्ग ग्रहण करते समय सहसा तूर्य का शब्द सुन कर रुद्रधीर ने घूम कर पीछे की ओर देखा। जनाकीर्ण मार्ग पर सैनिक वेशधारी एक अश्वारोही रजत का छोटा तूर्य बजाता चला आ रहा था। तूर्य

का शब्द सुन कर पदाति मार्ग छोड़ कर हटते जा रहे थे। अश्वारोही के पीछे एक जैसे रंगीन वस्त्र धारण लिये सोलह वाहकों के कंधों पर एक प्रकाण्ड शिविका थी। शिविका पर छत्र और चंवर के नीचे रत्नजटित आभूषणों से जगमगती एक वेश्या बैठी जान पड़ी। शृंगार और प्रसाधन की अधिकता के कारण उसे पहचानने में रुद्रधीर को दुविधा हुई। शिविका के दक्षिण पार्श्व में सामन्त कास्तंवीर का युवा पुत्र सकृद और वाम ओर यवन सामन्त पण्डित ईन्द्रिद का युवा पुत्र महेन्द्र था।

आचार्य के मन में दुविधा थी, निश्चय ही यह देवी मल्लिका नहीं। प्रौढा-वस्था को प्राप्त नारी को पुनः यौवन दे सकना आयुर्वेद के भी सामर्थ्य में नहीं। सागल नगरी को किस कलावती नवीन नर्तकी ने सौभाग्यवान किया है, जिस का समारोह मल्लिका से भी अधिक है ?

जयघोष का कोलाहल कान में पड़ने से रुद्रधीर ने पुनः घूम कर पीछे देखा — हाटों, पण्यों और मार्ग पर खड़े लोग नमस्कार की मुद्रा में पुकार रहे थे — “महादेवी सीरो की जय ! महासेनापति पृथुमेन की जय !”

रुद्रधीर ने विस्मय से फल गये अपने नेत्रों पर बल देकर पहचाना—सीरो ! वितृष्णा से दांत पीस कर उसने मुख फेर लिया। सागल में बीते जीवन के पैंतीस वर्षों में ऐसा काण्ड उसने न कभी देखा था, न सुना ही था। राज्यसत्ता का चिह्न छत्र और चंवर धारण करने का अधिकार मद्र के कुल-गणराज्य में केवल गणपति को था अथवा गणराज्य द्वारा सम्मानित कला की अधिष्ठात्री जनपदकल्याणी नगरात्री राजनर्तकी को। वह सोचने लगा, मद्र की मर्यादा के उल्लंघन की यह दृष्टता कैसे ? क्या दासपुत्र गणपति के आसन पर आ बैठा ?

आचार्य के स्वदेश लौट आने के समाचार से मित्रवर्ग और परिजन नर-नारियों से प्रासाद पूर्ण हो गया। उत्साह के समारोह में भी आचार्य रुद्रधीर गम्भीर चिन्ता से मुक्ति न पा सके। अपने प्रवासकाल में मद्र और सागल में हुये परिवर्तनों का वृत्तान्त और व्योरा वह चिन्ता से सुनते रहे। आचार्य ने शीघ्र ही परिस्थिति हृदयंगम कर ली।

सर्वसाधारण जनसमाज ने मद्र और सागल में कोई परिवर्तन अनुभव न किया। सागल का आकाश शत्रु के आक्रमण की आशंका के मेघों से शून्य था। गणपरिषद् में निरन्तर चलने वाला कुलों की स्पर्धा का झंझावात भी शान्त था। व्यापार और समृद्धि बढ़ते दिखायी दे रहे थे। विनोद और भोग के साधन बढ़

रहे थे । सर्वसाधारण जन निश्चिन्त, व्यस्त और सुखी था ।

सागल के समाज के उपवन में साधारण पेड़-पौधे, लता, कुंज और वनस्पति लहलहा रहे थे परन्तु अभिजात वंश और कुलरूपी महावृक्ष स्तब्ध और संतस्त खड़े थे । महासेनापति गणपति मिथोद्रस पक्षाघात रोग से शंठ्या पर पड़े थे । उदरशूल से पीड़ित, पुत्र के वियोग से निरुत्साह और श्रेष्ठी प्रेस्थ के छल से परास्त और हतप्रतिभु आचार्य प्रवर्धन के परलोक प्राप्त कर लेने पर दो वर्ष तक गणपरिषद् की सभा आमंत्रित ही न हुई थी ।

युद्ध के संक्रमणकाल में महासेनापति गणपति द्वारा ग्रहण किये गये सर्वाधिकार अब भी उन्हीं के अधिकार में थे । रोगग्रस्त गणपति शंठ्या पर थे और उनकी राजकीय मुद्रा उनके परम विश्वस्त और जनता के परम आदरभाजन महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के हाथ में थी । केन्द्रस के आक्रमण के समय गण के अग्रहार सामन्तों की अनुपाजित सम्पत्ति की आय गणकोष में सम्मिलित कर लेने पर भी जब मद्र में पर्याप्त सैन्यदल के लिये धन संचय न हो सका, प्रेस्थ की मंत्रणा से गणपति ने एक सौ, दो सौ और पांच सौ मैनिकों का भरण-पोषण करने के लिये गण को धन की सहायता देने वाले धनिकों को भी गणपरिषद् में सदस्यता का आसन अर्पित कर उत्साहित और सम्मानित किया था । गणपरिषद् के सदस्यों की संख्या दूनी हो गयी । इस प्रकार के दस सदस्य महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का प्रथम पाकर गणपरिषद् में उपस्थित थे ।

सागल पर आये कठिन समय में श्रेष्ठी प्रेस्थ की कूटनीति से गणपरिषद् की सदस्यता का आधार वंशाधिकार से नहीं द्रव्य के आधार पर हो गया । द्रव्य घटता-बढ़ता है, वह मनुष्य के प्रयत्न का फल है । कुल दैवाधीन है, उस पर मनुष्य का वश नहीं । द्रव्य के आधार पर साधारण जन द्वारा भी कुलसत्ता के अधिकार की स्पर्धा कर सकने से कुल का सम्मान मनुष्य के अधिकार की वस्तु बन गया और वह क्षीण होने लगा । इस निरादर से विरक्त होकर सामन्त गण और अभिजातवंशीय गणपरिषद् की उपेक्षा करने लगे ।

गणपरिषद् और गण के शासन के प्रति अभिजातवंशजों और सामन्त कुलों की उपेक्षा देख कर रोग से हतोत्साह और वार्धक्य से शिथिल-मति गणपति महासेनापति मिथोद्रस ने गणसंवाहक के पद पर महाश्रेष्ठी प्रेस्थ को नियत कर दिया ।

परिस्थितियों की अनुकूलता और अपनी नीति के बल से प्रेरण परिषद् के

संवाहक के आसन पर जा पहुँचा। वह आसन पाकर भी उसका व्यवहार अत्यंत विनीत था। एक समय कुल की हीनता के कारण महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के लिये गण-परिषद् में आसन पाना सम्भव न था। विप्र कुल के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिये महाश्रेष्ठी ने अनेक महायज्ञों का बलि सहित अनुष्ठान करके ब्राह्मणों का सत्कार किया। वह तथागत की सर्वभूत दया के प्रति भी श्रद्धालु था। अभिधर्म को भी वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल प्रतिष्ठा देने के लिये उसने युद्ध काल में गण द्वारा अधिकृत चैत्यों और विहारों की आय उन्हें लौटा दी। वर्णाश्रम और तथागत के अभिधर्म का द्वन्द्व सागल में पुनः प्रचण्ड हो उठा।

सेनापति पृथुसेन का विवाह अत्यन्त समारोह से गणपति की पौत्री सीरो से हुआ था। उस समारोह में सम्पूर्ण सागल नगरी उत्साह में जगमगा कर विनोद से किलक उठी थी। उत्तराधिकारीविहीन गणपति ने अपनी पौत्री के हाथ में सम्पूर्ण सम्पत्ति रख कर, वंश का सम्मान और अधिकार भी मनोनीत जमाता को सौंप दिया था। पृथुसेन हीन कुल में जन्म पाने के कलंक से मुक्त होकर मद्र का सबसे अधिक समृद्ध और सम्मानित सामन्त बन गया परन्तु आत्महनन के परिणामस्वरूप वितृष्णा और शैथिल्य का भाव उसके मन और मस्तिष्क पर छाया रहता। वह स्वयं अग्ने और समाज दोनों के प्रति विरक्ति अनुभव कर निस्तेज रहने लगा।

पृथुसेन का निथिल भाव देख कर महाश्रेष्ठी ने स्नेह से प्रतीक्षा की—  
“पुत्र, संसार में तुम्हारे लिये अप्राप्य क्या है? जो प्राप्य है, उसका भोग करो; जो अप्राप्य है, उसे प्राप्त करने की सामर्थ्य प्राप्त करो। क्या एक स्त्री सीरो या दिव्या ही तुम्हारे जीवन की परिधि है? अभी तुमने जीवन सोपान की आरम्भिक सीढ़ी पर पांव रखा है। जीवन दीर्घ और विस्तृत है। पुत्र, किसी एक स्त्री के अभाव में जीवन को व्यर्थ समझना केवल कायरता है। यदि दिव्या जीवित होती तो वह भी तुम्हारे लिये प्राप्य होती। जो मृत और बीत गये कि विन्ता में अकर्मण्य होता है नीतिवान उसे मूर्ख कहते हैं।”

सीरो मद्र के परमभट्टारक गणपति की पौत्री, गणपरिषद् के संवाहक की पुत्रवधू और महापराक्रमी सेनापति की अग्रिणी थी। वह गर्व में माथा उठा कर चलती। समाज में सबसे सम्मानित आसन की वह अधिकारिणी थी और उस से अधिक की स्पर्धा उसके मन में थी। वह सबसे अधिक काम्य भोगों को भोगती और सागल के सबसे अधिक सुन्दर युवा पुरुषों से आदर की आशा

करती। उसके रागरंजित ओंठ केवल मदिरा से धुलते। रसवैचित्र्य उसे भिन्न-भिन्न ओठों में ही मिलता। स्पर्शमुख उसके लिये युवा पुरुषों की बलिष्ठ भुजाओं और लोमपूर्ण कठोर वक्षस्थल के अतिरिक्त न था।

पृथुमेन ने सीरो के लिये आत्महत्या किया था। सीरो के ही दृष्टि के कारण उसने दिव्या को खोया। दिव्या को खोकर उसने अपने जीवन के चिरपोषित स्वप्नों को खो दिया। सीरो की उच्छृङ्खलता उसे सहन न हुयी। पति के अधिकार से उसने पत्नी की प्रत्यागता की।

सीरो ने रोकर पृथुमेन के अन्याय का विरोध किया। इस पर भी पति का दमन असह्य जान पड़ने पर उसने क्रुद्ध मरिणी की भांति फन लठा कर फुंकार दिया—“मैं तुम्हारी क्रीत-दासी नहीं हूँ। तुम मेरे आश्रित हो, मैं तुम्हारी आश्रित नहीं हूँ। मैं तुम्हारे पिजरे में बद्ध मरिणा नहीं हूँ केवल तुम्हारी अंग-सेवा के लिये दासी नहीं हूँ। ... तुम वेश्याओं से विलास नहीं करते? कितनी दामियाँ तुम्हारी पर्यक-सेवा के लिये हैं? भोग के भिन्न भिन्न सुखों और रसों के लिये तुम्हें कितनी नरियाँ चाहिये? मेरे लिये भी संसार में केवल तुम ही एक पुरुष नहीं हो? तुम जैसे अनेक और तुमसे श्रेष्ठ अनेक! ... मैं द्विज-कुल की पत्नी-दासी नहीं हूँ। मेरी धमनियों में यवन विजेता का रक्त है। मैं तुम्हारे वश-रथ की धुरी खींचने के लिये बछड़े उत्पन्न करने वाली गाय नहीं। यदि तुम मेरा अगमान करोगे, मेरे लिये विस्मृत जनसमाज है। तुम्हें महासेनापति बना सकती हूँ तो दूसरे को भी महासेनापति बना सकती हूँ। ... हाय पितामह के नेत्र मूंद लेने पर मेरे भाग्य का क्या होगा!” वह फूट-फूट कर रोने लगी।

पृथुमेन के नेत्र अंगारे की भांति दहक उठे। उसकी अंगुलियाँ सीरो का गला पकड़ कर उसे मरोड़ डालने के लिये तिलमिला उठीं। उसे दो खण्ड कर देने के लिये उसका हाथ खड्ग की मूठ की ओर बढ़ जाना चाहता था परन्तु कल्पना में दूरदर्शिता की प्रतिमूर्ति शान्त पिता सम्मुख आ खड़े हुये और फिर वयोवृद्ध गणपति भी अनेक यवन सामन्तों से घिरे हुये। पृथुमेन असमर्थ आवेग का श्वास शून्य में छोड़ कर शिथिल हो गया। सीरो अंगुलियों में मर्दन कर समाप्त कर देने योग्य निर्वल न थी। उसकी ग्रीवा की रक्षा के लिये कवचस्वरूप गणपति के आसन की विराट शक्ति थी, उनके सहायक अनेक यवन सामन्त थे। स्वयं दामत्व अंगीकार कर वह अवाक न थी। वह अपनी शक्ति से सतर्क थी और उस शक्ति को पुकारने के लिये तत्पर थी। सीरो की ग्रीवा मसल डालने का मूल्य

पृथुमेन की अपनी स्थिति और जीवन होता। अवसर देख कर द्विजकुलों के सहस्रों खड्ग पृथुसेन और उसके कुल के रक्त की नृणा में लपलपाती जिह्वा के रूप में निकल आते।

अनेक दिन शून्य में दृष्टि स्थिर रिये और एकान्त में ग्रीवा झुकाये पृथुमेन गूढ़ विचार में मग्न रहा। उसने निश्चय किया—उसके दूरदर्शी, महामति पिता का ही विचार उचित है। संसार में केवल एक सत्य है, शक्ति; केवल एक वस्तु काम्य है शक्ति, सामर्थ्य। शेष संसार उनके अन्तर्गत है। यदि आज वह मौर्य कुल के छत्रपति की भांति निरंकुश होता तो सीरो के पापाचार के लिये उसे चिना पर जीवित ही भस्म कर सकता था—नहीं, स्थूण से बंधी सीरो अवाक देखती रहती और उसके स्थान पर दूमरी नारी को, दिव्या को अनेक स्त्रियों को पट्टमहादेवी के आसन पर अपने अंक में स्थान देता। सीरो उनकी चरण सेवा करती। सीरो के प्रति उसका मन घृणा से भर गया।

पृथुसेन प्रकट वैभव और शक्ति के तल में अपनी ताम्रविक खिन्नता जान कर खिन्न हो उठा—उसकी सम्पूर्ण शक्ति और महिमा की प्रतीक वही सीरो थी। सीरो के पति के रूप में वह मद्र के गणपति का उत्तराधिकारी महासामन्त था अन्यथा अभिजात-कुल का सम्मान पाने की स्पर्धा के लिये निरादृत दामपुत्र।

पृथुमेन ने यत्न किया कि अपने मस्तिष्क को मधुर और तत्क मदिराओं के फेन से और अपने कानों को वेश्याओं और नर्तकियों के नृपुर् की झंकार से पूर्ण कर दे। उसके अपने विचारों से उठती विरोध की पुकार उसे सुनाई न देती परन्तु शान्ति न मिली। वह आत्मवित्तृत न हो सका। उसका विचार कहता—यह केवल आत्महनन है कायर का आत्महनन! उसकी अन्तरात्मा चीत्कार कर उठती—शक्ति! निरंकुश शक्ति! पिता की बुद्धि से, मेरी भुजा के पराक्रम से!

सीरो को उसने पत्नी रूप से भुला देना चाहा परन्तु गणपति के जमाता होने के गर्व को सम्भाले रहा। उत्तेजक मद्य के चषक और लोलकामिनी के अंगों का मर्दन उसके लिये आमक्ति और संतोष का विषय नहीं रहे। वे केवल श्रान्ति निवारण और शारीरिक स्फूर्ति का उपाय और सामाजिक कर्त्तव्य थे। अपने अन्तस्तल में वह इन वस्तुओं से उसी प्रकार विरक्त था जैसे निर्वाणकामी भिक्षु अपने शरीर से विरक्त रहना है। जैसे भिक्षु अपने शरीर की चिन्ता शरीर को केवल अपनी सिद्धि का साधन मान कर ही करता है वैसे ही यह सब भोग पृथुसेन की दृष्टि में थे। भोगों के प्रति मन से वह योगी के समान अनासक्त हो

गया। उसकी साधना थी—शक्ति। मुख वह केवल शक्ति के उन्माद की कल्पना में पाता। शक्तिसंग्रह ही उसका लक्ष्य और स्वप्न—मद्र का निरंकुश शासन था। युद्ध विजय की सेवा के उपलक्ष में उसने गणराज्य से दम ग्राम का अग्रहार पाया था। उसे मद्र की रक्षा के लिये पाँच सौ सैनिक रखने का अधिकार था। शेष एक सहस्र सैनिक उसने महाश्रेष्ठी द्वारा घोषित गणपरिषद् के सदस्यों के अधिकार से रख लिये थे। डेढ़ सहस्र चतुर सैनिकों का स्व मित्व उनके लिये सब भोगों से अधिक संतोषजनक था।

सागल के जनसमाज को शक्ति और सामर्थ्य का आदर करने का अभ्यास था। शक्ति के सम्मुख मस्तक झुकाने से उन्हें अपने सिर पर संरक्षक की छत्र-छाया का आश्वासन अनुभव होता था। महाराज मिलिन्द के अभाव में जन-समाज गणपति महासेनापति मिथोद्रम को मस्तक झुकाने लगा। गणपति पक्षाघात रोग से ग्रस्त हो गये। उनका दर्शन कर, आदर से उनके सम्मुख सिर झुकाने के अवसर से जन वंचित हो गया। जनसमाज पुण्यात्मा, जनपालक देवताओं की इच्छा से समृद्ध, गणपरिषद् के सहायक महाश्रेष्ठी के पुत्र, गणपति के जामाता, दाव के दस्युदत्त के मर्दक, पराक्रमी विजयी सेनापति पृथुसेन को ही महासेनापति सम्बोधन कर, शासन और शक्ति का प्रतिनिधि मान कर उसका आदर करने लगा, उसका जयकार पुकारने लगा। उस आदर के प्रति सीरो अपना अधिकार पृथुसेन की अपेक्षा भी अधिक समझती थी।

सीरो गर्व, स्पर्धा और सम्मान की लिप्सा के कारण अपनी उच्छृङ्खलता से अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती महिमा का प्रदर्शन कर, उनको अपने आदर के लिये अभ्यस्त करती रहती। साधारण जन अपने संरक्षक के वैभव का चमत्कार और महिमा देख कर संतोष से पुलकित होकर अधिक जयघोष करते। अभिजात वर्ग उस वैभव-प्रदर्शन में अपनी हेठी अनुभव कर क्षुब्ध होता परन्तु परिस्थिति से विवश होकर मौन रह जाते।

पृथुसेन की दृष्टि में सीरो मन के संतोष के प्रयोजन से केवल हेय शव मात्र थी परन्तु गणपति की पोत्री के नाते जन की श्रद्धा अपनाये रखने के लिये अत्यंत उपयोगी। वह आनी धृष्टता से जनसमाज के सम्मुख पृथुसेन की महिमा बढ़ा रही थी। पृथुसेन उस महिमा को अनायास स्वीकार करता जा रहा था। पिता की अभिसंधि और आयोजन से एक और युद्ध का घोषणा कर, महासेनापति का पद और निर्वाह निरंकुश शासन का अधिकार समेटने के षड्यन्त्र में उसके

विचार उलझे हुये थे । वह अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में था ।

छः वर्ष, चार मास और छ दिवस के व्यवधान के पश्चात् रुद्रधीर ने सागल के समाज और उसके परिजन ने पर्याप्त परिवर्तन देखा । दीर्घकाल तक मगध के ऊष्ण जलवायु में रहने से उनका वर्ण तनिक ताम्र हो गया था । पिता का देवलोकवाम हो जाने से पिता के पद का गाम्भीर्य उनकी मुद्रा और व्यवहार में आ गया था । वे मिनभाषी हो गये । उनकी दृष्टि पनी और स्थिर हो गयी । अभिधर्म के राहु से मुक्त, पुनः स्थापित वर्णाश्रम धर्म की शक्ति उन्होंने मगध में देखी थी । शक्ति प्राप्त करने के लिये किस रौद्र मार्ग की साधना आवश्यक है, यह भी उन्होंने जाना था । उन्होंने भस्मीभूत महाविहारों के अवशेष देखे थे । सेनापति पुष्पमित्र के नेतृत्व में राजस्व शक्ति से तेजस्वी हुये वर्णाश्रम धर्म को देखा था । गज की उसी अग्निशिखा को हृदय में धारण किये, मद्र में उसे पुनः स्थापित कर वर्णाश्रम के उद्धार का व्रत ग्रहण कर वे लौटे थे । उनके मन में तीव्र ज्वाला धधक रही थी ।

रुद्रधीर ने देखा—अपने पराश्रय में परास्त हुआ अभिजात समाज, गणराज्य की व्यवस्था के विषय में विरक्त होकर अरने प्रापादों की सीमा में सीमित रह कर भोगों में आत्मविस्मृत हो रहा था । और देखा—गणपरिषद् के संस्रहक का आसन पाकर श्रेष्ठी प्रेस्य पञ्चध्यान रंग से पीड़ित, संप्राण शव मात्र गणपति के नाम से शासन चलाकर अपनी कुटिल नीति में द्विजकुल और अभिजात वर्ग को अधिकारच्युत करता जा रहा था । उन्होंने कुल वर्ग का उद्बोधन किया—‘संघर्ष से विरक्त होकर व्यक्तगत आत्मरक्षा में संनोष खोजना आत्महत्या है । भोग में आत्मविस्मृत होकर मनुष्य भोग का अधिकार खो बैठता है । भोग का अधिकार संघर्ष में सफलता में प्राप्त होता है । गणमत और जनमत के सिद्धांत, निर्वीर्य मुण्डियों द्वारा द्विजवर्ग के अधिकारों को पददलित करने का प्रपंचमात्र है । द्विज देवता का अंश है, शक्ति उनका गुण है, उसका धर्म है; शासन उसका अधिकार है । जब अग्नि अपने गुण और धर्म से हीन हो जाती है, क्रुमि भी उस पर पांर रख कर गर्व करने हैं । इसी प्रकार शासन और शक्ति से च्युत द्विज भी हानधर्म हो जाता है । राजा और प्रजा का धर्म एक नहीं । जो शूद्र द्विज से समानता की स्पर्धा करता है, वह पातक है और द्विज के लिये भी पाप का कारण

है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने शूद्र शम्बूक को दण्ड देकर यह मर्यादा जम्बूद्वीप में स्थापित की थी। दण्डनीति ही धर्म का आधार है।”

रुद्रधीर ने सामन्त कात्तबोर, सामन्त सर्वार्थ और महापण्डित विष्णु शर्मा के प्रासादो मे अनेक दिन गुप्त मंत्रणा कर मद्र से म्लेच्छों और शूद्रों के प्रभुत्व का अन्त करने की आयोजना पर विचार किया। उसका उपाय था—शत्रु का अचेत अवस्था में विध्वंस। उन्होंने कहा—“जागती हुई चीटी की शक्ति सोते हुये हाथी से अधिक होती है।”

मुण्डियो के प्राबल्य से मद्र के जनसमाज से अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति का ह्रास देख कर निरुत्साहित द्विज वर्ग केवल अपने यज्ञभाग से संतुष्ट होकर बैठ गये थे। मद्र की सेना, पक्षाघात रोग से निष्क्रिय हो गये गणपति के प्रतिनिधि बने गणसंवाहक श्रंष्टी प्रेस्थ तथा सेनापति यवन सामन्त ओक्रस और पृथुसेन के अधिकार मे थी। अभिजात वंश और द्विज सामन्त ऐसी सेना के प्रति उदासीन थे। अपने भाग के सैनिकों के पाषण के लिये गण से प्राप्त अग्रहार ग्रामों की आंग वह सैनिकों की नियुक्ति और पालन में व्यय न करके अपने भोग-विलास में ही व्यय कर रहे थे। श्रंष्टी प्रेस्थ और उनके सवर्गों यह तथ्य जान कर भी मौन थे। आचार्य रुद्रधीर ने इस रहस्य मे श्रंष्टी प्रेस्थ की कुटिल नीति और द्विज सामन्तों की अदूरदर्शिता दोनों को ही देखा।

आचार्य ने द्विज सामन्तगण को भाग का वाह्य आडम्बर बनाये रख कर अपने अग्रहार ग्रामों मे गुप्त रूप से नवीन सैन्यसंघान करने की मंत्रणा दी। शनैः-शनैः वह सैन्य दल साधारण नागरिकों के वेश धारण कर सांगल नगर में प्रवेश करने लगे। कुलों की समानता के अहंकार को दूर करने के लिये उन्होंने पीरव कुल के वंशधर सामन्त सर्वार्थ को मद्र का गणपति घोषित करने का निश्चय किया।

आचार्य रुद्रधीर ने अपने गुप्तचरों से जाना—गणसंवाहक ने समाचार पाया है कि गण की पश्चिम सीमा पर कठ प्रदेश की सेना आक्रमण के प्रयोजन से एकत्र हो रही है। आचार्य ने सवाद पर गूढ़ विचार किया। अपने मंत्रकारियों का आह्वान कर उन्होंने चेतावनी दी—“अब विलम्ब के लिये अवसर नहीं। निश्चय ही प्रेस्थ निकट भविष्य में रोग-ग्रस्त गणपति के शरीरान्त की कल्पना कर रहा है। शत्रु के आक्रमण की आशंका का आवरण लेकर वह अपने सैनिकों को नगर मे लाना चाहता है। आशंकित जनसमाज का रक्षक बन कर, उनकी

सहानुभूति अपने प्रति आकर्षित करने के लिये यह प्रेम्थ और पृथुमेन का प्रपच है ।”

प्रवास से लौटे आचार्य रुद्रधीर को अपने प्रासाद में आया देख कर देवी मल्लिका ने आसन से उठ कर उनकी अभ्यर्थना की । आचार्य को अपने आसन के समीप उपधान प्रदान कर देवी ने विशेष आदर में अर्घ्य, ताम्बूल और पान-पात्र उपस्थित किये । उदरव्याधि से अकाय्य में तात आचार्य के शरीरान्त हो जाने पर समवेदना प्रकट की और आचार्य के दीर्घ प्रवास के सम्बन्ध में उत्सुकता और कौतूहल प्रकट किया ।

आचार्य रुद्रधीर को कला से विशेष अनुराग न था । उसमें उनकी विशेष गति भी न थी परन्तु अपने प्रवास के व्यवधान में देवी मल्लिका के समाज पर छा जाने वाली विरूपता उन्होंने भी अनुभव की । देवी मल्लिका स्वयं भी क्लान्त और निरुत्साह दिखाई दी । आयु साठ वर्ष के समीप पहुच जाने के चिह्न सहसा उनके मुख और शरीर पर प्रकट हो आये थे । समाज में न रसिकों का ही वह समारोह था और न कला का ही वह रूप । देवी मल्लिका की अनेक शिष्यायें अपनी शिक्षा समाप्त कर विदा ले चुकी थीं । जो उपस्थित थी, वे कला के मर्म और शक्ति से हीन थीं ।

संगीत का अभ्यास हो रहा था । मल्लिका ने आचार्य से संगीत का रस लेने की प्रार्थना की । वृद्ध गायक माहुल शिष्याओं और श्रोताओं के सम्मुख स्वर का आरोहावरोह कर रहे थे । आचार्य की उपस्थिति से उत्साहित होकर गायक ने अपना मुख उनकी दिशा में ही कर लिया—अ-अ-अ-अ-अ-आ-आ-आ...म-मा-म-आ-आ-मा-मा-मा-मा-दि-दि-दि-दिन-दि-दी...ई-ई-ई-ई-दी-दि-दि-दि...आ-आ-आ...मदि-मदि-मदि-मदीर-मादिर-मदिर-मदिर...मा...दि...र...म...दि...दीर मदीर-मदिर, मदिर, मदिर मदिर... माहुल आलाप में तन्मय था ।

वृद्ध माहुल की ग्रीवा ऊंची शाखा से पत्र तोड़ने के लिये उठी ऊंट की ग्रीवा के समान खिंची हुई थी । तनाव से ग्रीवा और कनपटियों पर नाडिया उठ भाई थीं । माथे पर स्वेदकण उभर आये । श्वास-अवरोध से नेत्र आरक्त और सजल हो रहे थे । श्वास साधे वे यथासम्भव विलम्ब तक अ-अ-अ करते रहे । श्वास लेना अनिवार्य हो जाने पर वक्षस्थल में पुनः प्राण वायु भर, उनका श्वेत श्मश्रु-

आच्छादित, दांतहीन ताम्बूल-चर्चित मुख पुनः आ-आ-आ में खुल गया ।

अवस्था के कारण कण्ठ कांपने से माहुल का षड्ज स्वर भी कर्णकटु हो रहा था । अपने प्रयत्न की पूर्णता के संतोष से उसके सजल नेत्र दीप्त हो रहे थे । उसका कांपतो हुई अंगुलियां अधर में हिल-हिल कर उनके 'आ-आ-आ' आलाप की सूक्ष्मता की ओर संकेत कर रही थीं । मल्लिका और दूसरे दो-एक मर्मज्ञ सिर हिला-हिला कर उस स्वर-लहरी में बहे चले जा रहे थे परन्तु आचार्य के लिये उस संगीत का समाप्त न होना यंत्रणा हो रहा था ।

गायनाचार्य लगभग दो घड़ी अलापते रहे । रुद्रधीर केवल एक शब्द समझ पाये—मदिर ! क्या मदिर ? ...नयन, ओष्ठ अथवा स्पर्श सो वे कुछ जान न पाये । इतने विलम्ब तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् जिज्ञासा का उत्साह भी न रहा । आलाप समाप्त होने पर मल्लिका और दूसरे मर्मज्ञों ने—“सुन्दर-सुन्दर ! अत्यन्त सुन्दर !” कह कर संतोष प्रकट किया ।

गायनाचार्य की कातर दृष्टि अपनी ओर लगी देख कर रुद्रधीर ने भी मत प्रकट किया—“उत्तम, अत्यन्त उत्तम !” उस प्रशंसा के परिपाण स्वरूप वृद्ध माहुल ने अपने जीर्ण वक्ष-पिजरे में पुनः श्वास भर कर मुख फैला दिया—“म-अ-अ-अ !”

आचार्य ने खिन्नता अनुभव कर मन में अपने शिष्टाचार के प्रति पश्चात्ताप किया । वे मल्लिका के समाज के वीते वैभव का स्मरण करने लगे—जब सम्भ्रांत रसिक नर-नारी चतुश्शाल में बैठने के लिये पर्याप्त स्थान न पा कर चारों ओर के अलिन्दों में घिरे रहते थे, जब कलकण्ठी सुमुखियों के दल में मल्लिका पूर्णिमा की रात्रि में तारा खचित आकाश में चन्द्र की भाँति जान पड़ती थी, जब उसके चतुश्शाला में नृत्यरत युवतियों के नूपुर की झंकार से सागल गूँज उठता था, जब कला का मर्म खोजना न पड़ता था; उसका रस स्वयं ही मन को व्याप्त कर देता था । इस समय आचार्य को मल्लिका का चतुश्शाल पाले और पतझड़ से विरूप हो गये वसंतोद्यान के समान जान पड़ रहा था । गायक माहुल, ख्यातनाम नट उदुम्बर, वृद्धा नर्तकी पृथा और वादक पद्म पात्र के रूप में कला का ज्ञान ही शेष रह गया परन्तु उसकी शोभा और शक्ति विलीन हो चुकी थी ।

समाज के पश्चात् आचार्य अलिन्द में मल्लिका के समीप बैठे । वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने सहानुभूति के स्वर में प्रश्न किया—“देवी, सागल की शोभा और गौरव तुम्हारे समाज की यह क्या अवस्था हो गयी ?”

निराश स्वर में मल्लिका ने उत्तर दिया—“आर्य, समाज का चक्र है अथवा

दैव की इच्छा । क्या कहूं, सागल का अथवा मेरा दुर्भाग्य ! स्वयं मेरी आयु ! ...शरीर के सामर्थ्य की एक सीमा है आर्य ! उत्तराधिकारी द्वारा परम्परा की रक्षा करने योग्य किसी शिष्या का न मिलना अतः जन समाज का निरादर । आर्य ज्ञानी हैं, कला सूक्ष्म भावना द्वारा ही पोषित होती है । वह हीन जन के अधिकार की वस्तु नहीं । अनेक कारणों का संयोग है आर्य ! दाष किसे दूं ? भाग्य ही समझिये ! ”

देवी की शिष्या मादुलिका के सम्बन्ध में सुना समाचार स्मरण कर आचार्य ने आग्रह से प्रश्न किया — ‘ धर्मस्थ की प्रपौत्री के उपरान्त मादुलिका पर ही देवी की विशेष कृपा थी । ऐसी ख्याति भी थी कि वह देवी की यशकीर्ति को सुरक्षित रख सकेगी ”

“आचार्य की धारणा ठीक है ।” दीर्घ निश्वास ले कर मल्लिका ने उत्तर दिया, ‘ मादुलिका कला की इस पीठ का जीवित रख सकती थी । कालान्तर में कोई अधिक योग्य सरस्वती की वरदपुत्री उसे ओर उज्ज्वल कर पाती परन्तु आर्य, मादुलिका में वह संयम और निग्रह नहीं जो कला की साधना का आधार है । सम्भवतः उसका दोष भी न हा ...’ देवी आगे कुछ कह न पायीं ।

मल्लिका के स्वर में अवसाद और हास्य का आभास पा आचार्य ने देवी के अधिक समीप हो कर प्रश्न किया—“मादुलिका से ऐसा क्या अविचार हुआ देवी ? ”

प्रसंग से मन में जाग उठी अप्रिय स्मृति से खिन्न हो कर देवी ने उत्तर दिया — ‘ज्ञानी आय जानते हैं, कला साधना है । जो साधना के लिये अपनी प्रवृत्तियों का दमन नहीं कर सकता, वह पूर्णता नहीं पा सकता । ऐसे अपात्र शिष्य के हाथ में कला का अपमान और ह्रास होता है । चौदह मास पूर्व सेनापति आर्य पृथुसेन का अनुराग मादुलिका के प्रति उच्छृङ्खल हो उठा था । मादुलिका के अभाव में उन्हें तृप्ति न थी । मादुलिका उनकी संगति में शिक्षा-अभ्यास से अनुपस्थित रहने लगी । उन्मत्त अवस्था में वह सम-विषम स्वरों का भेद भूल जाती ...”

मल्लिका का स्वर उत्तेजित हो गया—“मैंने मादुलिका की प्रतारणा की । मादुलिके, आसक्ति और साधना का संयोग असम्भव है । मैंने उसे प्रासाद न छोड़ने की आज्ञा दी । आर्य पृथुसेन ने मेरे ही प्रासाद में आकर मेरी शिष्या पर मेरे अधिकार को ललकारा । मादुलिका के सम्मुख मेरा तिरस्कार कर उन्होंने

कहा—“यदि मादुलिका के सम्मुख देवी मल्लिका के वैभव के उत्तराधिकार का प्रश्न है तो मैं उससे दूना धन मादुलिका को दूंगा यदि मादुलिका को राजनर्तकी के पद का लोभ है तो मैं अपनी इच्छा से उसे मद्र की जनपदकल्याणी का पद देने की क्षमता रखता हूं। मद्र में ऐसा कौन है जो सेनापति पृथुसेन की इच्छा का विरोध करेगा ?”

“यह दम्भ !” देवी के प्रति समवेदना से उत्तेजित हो आचार्य बोल उठ।

मल्लिका का भी स्वर ऊंचा हो गया—“आचार्य कला का इससे भीषण अपमान और क्या हो सकता था ? मैंने प्रतिहारियों को आज्ञा दी, मादुलिका को प्रासाद से बहिष्कृत कर दें। आर्य, अपने हाथों यत्न से पोषण कर, उसे कला के कठिन रहस्यों से अवगत करा कर मादुलिका को यों दूर कर देने का मुझे उतना ही दुख है जितना अपने गर्भ की कन्या रुचिरा के वियोग का परन्तु आर्य कला का अनादर मल्लिका नहीं सह सकती।” उनके नेत्र सजल और आरक्त हो गये।

“देवी, अनाधिकारी की स्पर्धा सदा औचित्य की सीमा का उल्लंघन करती है। देवी, यह अव्यवस्था और अनादर आज मद्र में जीवन के किस क्षेत्र में नहीं ? किस का सम्मान आज निरापद है ? कौन धर्म आज अक्षुण्ण है ? देवी, हीनकुल वृषल यज्ञबलि के अश्व और कामधेनु को भी केवल उसके चर्म की तृष्णा से देखता है। क्या न्याय और प्रजा का कल्याण उसके हाथों सुरक्षित रह सकता है ?”

मन का आवेग वश कर मल्लिका बोली—“आचार्य, कला व्यवस्थित चित्त की वस्तु है परन्तु परिस्थितियों के कारण सागल में व्यवस्थित चित्त कोई रह ही नहीं गया। कला के पोषक कुलवर्ग समाज से प्रताड़ित और संतप्त होकर विरक्ति का आश्रय ले बैठे हैं। आर्य, आज सागल श्रृंगालों का राज्य है और सिंह अप्रतिभ होकर कन्दरा में छिप रहे हैं। समृद्धि और अधिकार के प्रयोग से अभिज्ञ अकुलीन जन नये पाये सम्मान के उन्माद से विलास में लिप्त हैं। सूक्ष्म कला में उनकी गति कहां ? और जनसमाज विलास के उस विकृत रूप से विरत होकर, भोग को केवल अनाचार का मूल जान कर, विरक्ति में शान्ति लाभ करने की आशा से मुण्डिधर्म के निर्वाण की मिथ्या शान्ति में आश्रय ढूंढ़ता है। उसे केवल बुद्ध की शरण का निमंत्रण ही सान्त्वना देता है। ऐसी आशंका और अव्यवस्था में आर्य, कला के लिये स्थान कहां ?”

“प्रवंचना है सब देवी !” मल्लिका की बात में अपने विचारों का समर्थन पाकर प्रकट में गम्भीर रह आचार्य ने समर्थन किया, “इससे मुक्त हुये बिना समाज का कल्याण नहीं। देवी, यह इहलोक और परलोक दोनों का क्षय है। मद्र में यज्ञ का हविष्य शूकर खा रहा है। इसी पाप से क्रद्ध देवता का यह सब अभिशाप है। देवी, मद्र को उससे मुक्त करना आवश्यक है।”

“परन्तु आचार्य, यदि देवता की ऐसी इच्छा है, दैव का ऐसा ही विधान है तो मनुष्य क्या कर सकता है ?” निराशा से मल्लिका ने उत्तर दिया, “आचार्य ने देखा है कि सरस्वती के इस मन्दिर में जब निष्ठा से देवी का आराधन होता था, यहाँ देवी का वरदान था। कामदेव को मुस्कान से वहाँ सदा वसन्त था। अब स्वयं देवी की ही विरक्ति से सब ओर अभिशाप की रक्षता है।”

आचार्य अधीरता से उग्र स्वर में बोले—“अग्निमुख ब्राह्मण पृथ्वी पर देवता का अंश है। देवी, वह देवता की प्रचण्ड शक्ति का प्रतिनिधि है। क्षत्रिय उस शक्ति की भुजा है। मनुष्य के शरीर को शिर नीचा कर, हाथों के आश्रय चलाने से स्थान भ्रष्ट जंघा और पद भी विरूप और अव्यवस्थित होते हैं, शिर और भुजा भी दलित होते हैं। ब्राह्मण को शासन के सिंहासन पर स्थिर करना प्रजा का धर्म है। देवी, धर्म स्थापना में तुम्हारे सहयोग की आवश्यकता है !”

“सेविका आज्ञा के लिये प्रस्तुत है आर्य !” विनय से मल्लिका बोली।

प्रकाश से दीप्त मल्लिका के नेत्रों में उग्र दृष्टि डाल कर आचार्य ने प्रश्न किया—“यह देवी की प्रतिज्ञा है ?”

मल्लिका आशंकित हुई—“आर्य, अपना अभिप्राय कहें !”

“धर्म की स्थापना और रक्षा के लिए देवी की सहायता और सहयोग की आवश्यकता है।” आचार्य का स्वर दृढ़ था।

कुछ क्षण चिंतामग्न रह मल्लिका ने प्रार्थना की—“आचार्य आज्ञा करें !”

आचार्य ने सतर्क भाव से जिज्ञासा की—“देवी, क्या यह अलिप्त मंत्रणा के लिये निरापद स्थान है ? देवी, आपदाकाल में भित्तिर्यों के भी कान हों आते हैं ?” कोई उनकी मंत्रणा सुन नहीं सकता, इस विषय में आश्वासन पाकर आचार्य बहुत समय तक रहस्य के स्वर में देवी मल्लिका से मंत्रणा करते रहे।

गम्भीर स्वर में देवी मल्लिका ने स्वीकार किया—“दैव कार्य में आर्य की जो आज्ञा हो !”



## पृथुसेन और रुद्रधीर

मद्र की जनपदकल्याणी, कला की अधिष्ठात्री, नगरश्री देवी मल्लिका बहुत समय से निरुत्साह और विरत थी और सागल का सम्भ्रान्त समाज कला के रस से वंचित । कला की उस पीठ में पर्व और तिथि के उपलक्ष में होने वाला कला का अनुष्ठान केवल रीति की रक्षा मात्र रह गया था; प्राण और उत्साह का उसमें अभाव था ।

शरद् पूर्णिमा के अवसर पर देवी के प्रासाद में विशाल समारोह के समाचार से सागल का समाज उल्लसित और उत्साहित हो उठा । इस समाज के लिये नगर के अभिजात वर्ग, गणपरिषद के सदस्य, श्रेणी जेठक, श्रेष्ठी, कुलनारियां और नगर की सम्मानित नर्तकियां सभी आमंत्रित थे ।

निरभ्र आकाश में फैली उज्ज्वल चन्द्र की प्रखर परम्तु शीतल किरणों में शुभ्र आस्तरणों, शुभ्र विष्टरों और उपघानों पर समाज का आयोजन हुआ । सब ओर श्वेत पुष्पों, श्वेत चंदर- श्वेत व्यजन, अर्घ्य और पान के लिये भी श्वेत स्फटिक और रजत के पात्र उपस्थित थे । दास और दासी भी श्वेत वस्त्रों में थे । स्वयं मल्लिका, उसकी शिष्यायें, समाजी ( बादक ) और अन्य आमंत्रित नर्तकियां भी शुभ्र उत्तरीय, कंचुक और शाटक धारण किये थीं । श्वेत पुष्पों और मुक्ता के आभूषणों से ही उन्होंने शृंगार भी किया था ।

बहुत समय पश्चात् ऐसे समाज में एकत्र होने का अवसर पाकर अतिथि अत्यन्त पुलकित थे । अपने-अपने इष्ट-मित्रों और सखाओं की गोष्ठी में अतिथियों ने आसन ग्रहण किये । आचार्य रुद्रधीर, सामन्त कार्तवीर, महापण्डित विष्णु शर्मा, सार्यवाह बलभद्र और धर्मजीत महासामन्त सर्वार्थ को घेर कर एक ओर बैठे । आर्य सकृद, इन्द्रदीप, विनय शर्मा और वसुधीर आदि ने उनके

समीप ही कुछ अन्तर से स्थान ग्रहण किये । महाश्रृष्टी प्रेक्ष, सामन्त ओक्रिस, सामन्त मार्य, पण्डित ईक्रिद, सामन्त वर्धक और गोपाल दूसरी ओर थे । सेना-पति पृथुसेन अपने मित्रों और सखा वर्ग सहित तीसरी ओर । कुलनारियां भी अपने-अपने परिजनों के समीप अपनी सखियों की गोष्ठी में बैठीं । गणपरिषद की नवीन सदस्यता पाये अनेक व्यवसायी आमन्त्रित श्रेष्ठियों और अन्तरायण के जेठकों सहित एक ओर बैठे ।

देवी मल्लिका ने इस वृद्धावस्था में कला की सेवा में असमर्थ हो जाने पर भी अपने निमंत्रण का आदर करने के लिये अतिथियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की । शरीर असमर्थ और शिथिल हो जाने पर भी देवी ने समाज के आरम्भ में मांगलिक नृत्य में भाग लिया । अतिथियों के सत्कार के लिये उन्होंने दासों को विशेष मूल्यवान् कापिशायनी, कांधारी, मागधी, द्राक्षी आदि सुरायें प्रचुर मात्रा में उपस्थित करने की आज्ञा दी । चन्द्रमा के मध्याकाश में पहुँच जाने पर नर्तकियों के नृत्य देवार्चन के संकेत और सूक्ष्म भावों के मूर्तों से वासना के हंगित और निमंत्रण पर उतर आये । अतिथि सुरा के चषकों का चोषण न कर घूट भरने और उन्हें मुख में उड़ेलने लगे ।

नृत्य और वाद्य की ताल पर अतिथियों के अंगों का स्फुरण आरम्भ होते देख कर मल्लिका ने कुलजन और कुलनारियों से रास-नृत्य का प्रस्ताव किया । मल्लिका के संकेत से नर्तकी कुसुमसेना नृत्य में पृथुसेन की भुजा का आश्रय लेने के लिये आगे बढ़ी । शेष अभ्यागत भी अपने-अपने परिचय की नर्तकियों अथवा कुलनारियों के सम्पर्क में नृत्य के लिये आगे बढ़े । समाजियों ने वीणाओं, वंशियों और मृदंगों तथा मुरजों से रास-नृत्य के स्वर आरम्भ किये । समाज स्थल ने एक चक्र का रूप धारण कर लिया ।

नृत्य का प्रथम चक्र समाप्त होने पर कौशल से नृत्य करने वाले नर और नारियों की प्रशंसा होने लगी । मल्लिका ने पृथुसेन की सूक्ष्मता और पदलाघव की विशेष स्तुति की । नारियों में नर्तकी कुसुमसेना और वसुमित्रा के अतिरिक्त यवन सामन्त मार्य की पत्नी जोला और आचार्य रुद्रघोर की अनुजा, आर्य इन्द्रदीप की पत्नी अमृता ने विशेष श्लाघा पाई । आर्य अमृता ने दिव्या आदि कुलकन्याओं की संगति में देवी मल्लिका से नृत्य की शिक्षा पायी थी उन्हें नृत्य में विशेष रस भी था ।

नृत्य के श्रम से तृषार्त होकर समाज ने पुनः अनेक चषक पान किये । ओठों

पर लगे सुरापात्र की ओट से सीरो के नेत्रों के संकेत का निमंत्रण पाकर, उसकी ओर बढ़कर सामन्त ओक्रिस के पुत्र महेन्द्र ने कहा—“भद्रजन, देवी मल्लिका की कृपा से यह अवसर चिरकाल पश्चात् आया है। आज नृत्य के सुख में हम आत्म-विस्मृत हो जायें !”

इस प्रस्ताव का उत्तर आर्य इन्द्रदीप ने दिया—“निश्चय मित्र ! शरत् पूर्णिमा की रात्रि में जब तक चन्द्रमा आकाश में दिखाई दे, पान और नृत्य में शिथिल होने वाला युवक कापुरुष है।”

वादकों के नवीन लय उठाने पर रास-नृत्य का चक्र पुनः आरम्भ हुआ। देवी जोला पृथुसेन के साथ नृत्य करने के लिये आये बढ़ी। यह चक्र पहले चक्र से भी अधिक वेगवान हुआ। नृत्य की समाप्ति पर देवी मल्लिका की दासियों ने स्वच्छ, सुगन्धित प्रौच्छन्न वस्त्र ले अभ्यागतों के मस्तक और ग्रीवा का स्वेद पोछ कर सुगन्ध छिड़की और हस-पंख के श्वेत ध्वजनों से वातास करने लगीं। पुनः सुरापूर्ण चषक अतिथियों के हाथ में आ गये।

आर्य सकृद ने अपना चषक रिक्त कर दासी को थमाते हुये कहा—“मित्रो, क्या यह दुष्प्राय अवसर उपेक्षा और शैथिल्य में खाने योग्य है ? ऐसे पर्व का दिन वर्ष में एक बार ही आता है....”

वृद्ध पण्डित ईक्रिद ने अपना चषक ओठों से हटाकर विनोद से सहयोग दिया—“और यौवन भी जीवन में एक ही बार आता है।” उनकी बात केवल सामन्त ओक्रिस और महाश्रेष्ठी प्रेस्थ ने सुनी और वे मुस्करा दिये।

सकृद महेन्द्र से पहले ही सीरो की ओर बढ़ गया। सीरो ने हंसकर अपनी बाहु उसकी ओर बढ़ा दी परन्तु मद के शैथिल्य के कारण आसन से उठ न सकी। वह हिमशीतल सुरा का चषक चूसती रही। पृथुसेन के नेत्र उस ओर उठे परन्तु उसने दृष्टि फिरा ली। उसने देखा, नतकी वसुमित्रा उसकी संगति की आशा से उसकी ओर देख रही थी और आर्या अमृता भी इसी अभिप्राय से उसकी ओर पग बढ़ा रही थी। अमृता की ओर बढ़कर पृथुसेन ने उसका हाथ थाम लिया। सहसा उसकी दृष्टि आचार्य रुद्रधीर की ओर गयी। वह पल भर ठिठका और फिर नृत्य करने लगा।

पृथुसेन प्रति कुछ पल पश्चात् कनखियों से सामन्त सर्वाथ के चारों ओर बैठे आचार्य रुद्रधीर और द्विजकुल वर्ग के गुरुजनों की ओर देख लेता। उसकी चेतना निरन्तर उसी ओर लगी थी। अमृता का हाथ थामते समय उसे शंका

हुयी। आचार्य रुद्रधीर का अनुष वसुधीर खिन्न होकर बिरोध करना चाहता था परन्तु जेष्ठ के संकेत से वह विवश रह गया। पृथुसेन के रोम क्षण भर के लिये सतर्क हो गये। इस सतर्कता से मद से उठा उन्माद विक्षिप्त सा हो गया।

आर्या अमृता सुरा के प्रभाव और श्रांति के कारण नृत्य में शिथिल हो गयी थी परन्तु पृथुसेन संतोष अनुभव कर रहा था। नृत्य के रस की अपेक्षा उसे आचार्य रुद्रधीर और कुलवर्ग के मौन से ही अधिक तृप्ति अनुभव हो रही थी। सुरा के उन्माद से क्षुब्ध विचारों में वह कल्पना करने लगा—एक समय अभिजात कुल की कुमारी की शिक्षिका में कंधा देने के प्रयत्न में इसी रुद्रधीर ने मेरा अपमान किया था। आज स्वयं उसकी अनुज्ञा, उसके नेत्रों के सम्मुख मेरी भुजाओं में, मेरे वक्षस्थल पर सुख पा रही है और वह देख कर भी मौन है। यह है शक्ति का अधिकार। शक्ति के मद की मुस्कान उसके ओठों पर नाच उठी। वह परम संतोष से रुद्रधीर को दिखा कर अमृता को आलिंगन में लेकर नृत्य करने लगा परन्तु वह तृप्ति अमृता के शरीर के स्पर्श से नहीं, शक्ति के गर्व की थी।

जोला आर्य धृति शर्मा के साथ नृत्य कर रही थी परन्तु उसके नेत्र निरंतर पृथुसेन का ही अनुशरण कर रहे थे। नृत्य का चक्र समाप्त होते ही धृति शर्मा की भुजा से मुक्ति पाकर वह पृथुसेन की ओर बढ़ी और उसके विष्टर पर उप-धान का आश्रय लेकर श्रांति से तीव्र श्वास लेने लगी। अपने प्रति कुलनारियों की अनुरक्ति देख कर पृथुसेन का हृदय गर्व से उमड़ रहा।

ज्यों-ज्यों नृत्य और पान के कारण अतिथियों पर श्रांति और शैलित्य का प्रभाव बढ़ रहा था, देवी मल्लिका की दासियां विशेष तत्परता से सुरा के चषक प्रस्तुत कर रही थीं। पृथुसेन के मन में सतिवना थी कि सबसे अधिक आकर्षक और सत्कार का केन्द्र वही था। दासियां सबसे प्रथम उसके ही सम्मुख चषक प्रस्तुत करतीं। स्वयं मल्लिका ने दो बार उसके सम्मुख चषक उपस्थित किया। यह सम्मान केवल महासामन्तों को ही प्राप्त था।

दासियों द्वारा स्वेद पोंछ कर सुगन्ध लगा देने के पश्चात् अनेक अतिथि और कुलनारियां अत्यन्त श्रान्त और शिथिल होकर उपधानों के आश्रय विश्राम की मुद्रा में बैठे शीतल सुरा का चोषण करने लगे। कुछ समाजस्थल के चारों ओर पुष्पित मालती के कुंजों की ओर विश्राम के लिये स्थान की खोज में चले गये।

वादकों के पुनः लय आरम्भ करने पर पृथुसेन ने अपने आश्रय शिथिल बँठी जोला को उठाने के संकेत से स्पर्श किया। उसके निश्चल रहने पर झुक कर उसने जोला के नेत्रों की ओर देखा। वह और नृत्य के लिये असमर्थ थी। पृथुसेन भी बँठा रहा। उसे शिथिल बैठे देख कर मल्लिका के संकेत से एक दासी ने दो सुरापूर्ण चषक जोला और पृथुसेन के लिये आधार पर प्रस्तुत किये। मल्लिका के प्रति कृतज्ञताज्ञापन कर दोनों ने चषक स्वीकार कर लिये और नृत्य की ओर दृष्टि लगाये परस्पर स्पर्श से सुख अनुभव करते बैठे रहे।

जोला समीप ही महेन्द्र के साथ बँठी सीरो की ओर देख रही थी। सीरो उपधान पर सिर रखे सुप्तप्राय थी और महेन्द्र अपनी दूसरी भुजा में नर्तकी को लिये उससे रहस्यमाला में मग्न था। पृथुसेन मद्य के प्रभाव से शिथिल पद होकर बेताल नृत्य करते लोगों की ओर देख कर मुस्करा रहा था।

वाद्य नये नृत्य के लिये बजने लगे। कुंजों में विश्राम के लिये चले गये अनेक अतिथि पुनः पान और नृत्य में भाग लेने के लिये समाजस्थल की ओर लौट आये। नये नृत्य के लिये अतिथि अपने-अपने संगी चुनने लगे। जोला और पृथुसेन के सम्मुख पुनः सुरापूर्ण चषक आये। देवी मल्लिका से आदर और कृपा पाकर वह पुलकित हो रहा था। वसुमित्रा को पृथुसेन की ओर दृष्टि किये देखकर जोला ने उसकी भुजा को दोनों हाथों से थाम लिया। पृथुसेन के नेत्र उसके उठे हुये नेत्रों की ओर झुक गये। उन नेत्रों की उत्तेजना मदिरा से भी प्रबल थी।

रसिकों के श्रान्त हो जाने के कारण नृत्यों का क्रम अव्यवस्थित होता जा रहा था। इच्छा होने से ही बीच में कोई विण्टर पर जा बैठता और दूसरा उस के संगी का साथ देने के लिये बढ़ आता। कुलनारियां प्रायः श्रान्त होकर अपने परिजनों के समीप जा बैठी थीं। युवक और नर्तकियां उच्छृङ्खल और अत्यन्त वेग से कोलाहल और चीत्कार कर नृत्य कर रहे थे। पृथुसेन नृत्य में असमर्थ जोला को बाहों में लिये एक कुंज की ओर बढ़ गया।

पृथुसेन को कुंज के भीतर से किसी मदपान से मत्त निद्रागत के खरटि भरने का स्वर सुनाई दिया। अत्यन्त शिथिल जोला को यत्न से सम्भाले वह दूसरे कुंज की ओर बढ़ा। एकान्त देख कर अपने पांव पर अपना शरीर सम्भालने में असमर्थ जोला ने अपने बाहु पृथुसेन की ग्रीवा में डाल दिये। वह उन्माद और उन्मेष से अर्धचेतन हो रही थी। एक अवरुद्ध उच्छ्वास से उसने पुकारा—“आह प्रिय !”

वाद्यों से नृत्यों की धुनें सुनाई दे रही थीं और उन्मत्त जन द्वारा किये गये अनेक प्रकार के कोलाहल भी परन्तु सब कुछ अस्पष्ट था। पृथुसेन के कान जोला के उम अत्यन्त आवेशमय उच्छ्वास से पूर्ण हो गये। कुंज के अंधकार में उसे केवल जोला के कमल की कली के समान उभरे, मुंदे नेत्र दिखाई दे रहे थे। उसके अंक में शिथिल जोला ने उसे कण्टकित कर दिया।

कुंज के अंधकार में दीर्घ श्वास लेती जोला ने अपना शिथिल शरीर सम्भालने में असमर्थ होकर पृथुसेन को आश्रय के लिये बाहों से निबिड़ आलिगन में कस लिया। पृथुसेन भी मद के शैथिल्य में जोला से प्राप्त उत्तेजना में आत्मविस्मृत हो गया। पुनः समाजस्थल की ओर लौटने का विचार मस्तिष्क में था परन्तु शरीर साथ न दे रहा था। संगीत, वाद्य और आन्दोलन के स्वर उसके कानों में अस्पष्ट हो रहे थे परन्तु समीप ही कुंज की ओट से कान में एक कण्ठस्वर पड़ा और उसका मस्तिष्क फिर सतर्क हो गया।

स्वर पुनः सुनाई दिया—“कुमार, इस ओर भी देखा?”

“नहीं आयें, इस ओर नहीं है, उस ओर भी नहीं है।”

दोनों कण्ठस्वर पृथुसेन के परिचित थे। बलाधिकृत इन्द्रदीप और रुद्रधीर का कनिष्ठ कुमार वसुधीर! इन दोनों चिरशत्रुओं की सतर्कता ने पृथुसेन को आशंकित कर दिया। श्वास रोके वह और सुन पाने की प्रतीक्षा करने लगा। दो और व्यक्तियों के कुंज की ओर बढ़ने की आहट सुनाई दी और फिर उनका कण्ठस्वर।

विनय शर्मा व्यग्रता से कह रहा था—“क्या सब आयोजन व्यर्थ होगा? देवस नक्षत्र सप्तऋषियों की समरेखा में पहुंचना ही चाहता है; देखते नहीं!”

बलजीत चिंता से बोला—“श्वेतकेतु अपने सैनिकों को लेकर इस समय प्रेक्षप्रसाद को हस्तगत कर चुका होगा। प्रसाद के अग्निअर्पण होने का संकेत तुर्य सुनाई दिया ही चाहता है और तुम लोगों ने उसे प्रसाद से निकल जाने दिया! क्या दासपुत्र को सन्देह हो गया?”

पृथुसेन के शरीर पर शीतल स्वेद छा गया। उसे सम्मुख अव्यवस्थित अवस्था में शिलापीठ पर पड़ी जोला का ध्यान न रहा। उसकी सम्पूर्ण चेतना कानों में केन्द्रित हो गयी। स्वयं अपने हृदय की धड़कन उसे भयकर शब्द करती जान पड़ रही थी। उसका अंग-प्रत्यंग कांप रहा था।

बलजीत फिर बोला—“यदि दासपुत्र मल्लिका प्रासाद से जीवित निकल गया

तो संकट का कारण होगा। सम्भव है, दासपुत्र भी मद के प्रभाव से विश्राम के लिये किसी लताकुंज में जा पड़ा हो। आर्य अग्निकेश, हमारे यथेष्ट सशस्त्र सैनिक प्रासाद की प्राचीर के भीतर उपस्थित हैं ?”

“हां आर्य, दो सौ विश्वस्त सैनिक प्रासाद के पृष्ठद्वार से प्रासाद की प्राचीर के भीतर आ चुके हैं। एक सौ पृष्ठद्वार के समीप और दो सौ सिंहद्वार के समीप छम वेश में अधकारपूर्ण वीथियों में छिपे हैं। वे केवल तूर्य के संकेत की प्रतीक्षा कर रहे हैं।”

सहसा रात्रि की नीरवता में नगर के उत्तर भाग से तूर्य का शब्द सुनायी दिया। उसी समय इन्द्रदीप की ललकार ऊँचे स्वर में सुनायी दी—“सावधान! तुरन्त समाजस्थल को घेर कर सिंहद्वार की ओर !”

पृथुसेन मल्लिका-प्रासाद के उद्यान और कुंजों से भलीभांति परिचित था। अचेत जोला को छोड़ कर उत्तरीय से सिर ढाक कर वह दीर्घ पदों से प्राचीर की ओर भागा। वृक्षों की ओट से निकल कर कुछ सशस्त्र सैनिक नृत्य-स्थान की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें देख पृथुसेन पल के शतांश के लिये स्तम्भित हुआ परन्तु उनके समीप पहुंच कर उसने सैनिक-निर्देश के स्वर में आज्ञा दी—‘सैनिक, सिंहद्वार की ओर !’

सैनिकों के सिंहद्वार की ओर घूम जाने पर पृथुसेन एक वृक्ष की शाखा की सहायता से प्राचीर लांघ कर बाहर पथ पर उतर गया।

निश्शस्त्र, निस्सहाय पृथुसेन ने क्षणमात्र के लिये पथ पर खड़े होकर विचार किया, वह कहाँ जाय, ? सिंहद्वार पर खड़े अपने रथ और शरीर-रक्षकों की ओर...? अपने पिता...? शत्रु के दो सौ सैनिक उन्हें समाप्त कर चुके होंगे। अपने प्रासाद की ओर...? प्रासाद शत्रु के हस्तगत होकर अग्नि अर्पण हो चुका है।

सिंहद्वार की ओर से पथ पर अश्वों की टाप सुनायी दी। वह तुरन्त समीप की अंधियारी वीथी में चला गया। अनेक अश्वारोही द्रुतवेग से प्रासाद की परिक्रमा करते जान पड़े। पृथुसेन अन्धकारपूर्ण वीथी में आगे बढ़ता गया। अपने कण्ठ से मुक्तामालाओं और दूसरे मूल्यवान आभूषणों को उतार कर वह अन्धकार में इधर-उधर फेंकता जा रहा था। शरीर को उत्तरीय से ढंक कर वह शीत से त्रस्त अत्यन्त साधारण नागरिक जान पड़ने का यत्न कर रहा था।

अंधियारी वीथी के अन्त में प्रशस्त पथ पर चंद्रमा का प्रकाश घाम के समान उज्ज्वल था। प्रशस्त पथ और प्रकाश को विपज्जनक जान कर वह वीथी

में ही ठिठक रहा। इस वीथी से कुछ दूर, प्रशस्त पथ पर गणपति और सामन्त ओक्रिस के प्रासाद थे। पृथुसेन सोच रहा था—पथ पार कर वह उस ओर जाये, वहीं शरण सम्भव होषी। तत्काल उस पथ पर भी अनेक द्रुतवेग अश्वारोहियों के आने की टाप सुनायी दी।

पृथुसेन अन्धकार में छिप कर देखने लगा। अश्वारोहियों के दल के आगे अग्निकेश और सकृद खड्ग खींचे सरपट चले जा रहे थे। पृथुसेन ने समझा, गणपति और सामन्त ओक्रिस के प्रासाद भी शत्रु द्वारा घेर लिये गये। अपने मित्रों के यहां भी शरण पाना सम्भव नहीं।

पृथुसेन श्वास रोके वीथी के अन्धकार में सिमटा छिपा था। उसका रोम-रोम कांप रहा था और शिर का स्वेद पिंडलियों से होकर एड़ी तक बह रहा था। वह वन में आखेटकों से सिर गये मृग की भांति सिमटता-सकुचाता, ओट लेता वीथियों के मार्ग से नगर के उपान्त की ओर चला जा रहा था। प्रशस्त-पथ और चन्द्रमा का उज्ज्वल प्रकाश सम्मुख देख कर वह शय से कांप उठता। अनेक प्रकार से उसका नाम पुकारती ललकारें उसके शरीर में सिहरन उत्पन्न कर रही थीं। वह निशशस्त्र और निस्सहाय प्राणों के भय से कांप रहा था।

पृथुसेन बहुत समय तक वीथियों में छिपा रहा। सूर्य का प्रकाश होते ही आत्मरक्षा असम्भव हो जाने के भय से वह और भी हताश हो रहा था। इस प्रकार छिप-छिप कर प्राण बचाने का भी कुछ अर्थ वह समझ न पा रहा था। यदि उसके सशस्त्र सैनिक साथ होते, वह आततायियों को अवश्य परास्त करता। यदि वह अकेला होकर भी सशस्त्र होता तो सम्मुख युद्ध कर सम्मानपूर्वक प्राण दे देता। अब उसके भाग्य में बध्य-पशु की भांति मारे जाने अथवा मूषिक की भांति छिद्र में स्थान ढूँढ़ कर कुछ समय प्राण बचा पाने के अतिरिक्त उपाय न था। उसका शरीर मद्य का प्रभाव दूर हो जाने से शिथिल हो रहा था। शरीर और मन दोनों में श्रान्ति और विकलता अनुभव हो रही थी।

पूर्णिमा का चन्द्रमा क्षितिज पर जा पहुंचा। पथ के पश्चिम ओर बने भवनों की छाया से नगर के दक्षिण भाग के पथ पर अन्धकार छा गया। पृथुसेन आशंकित पदों से पथ पर आकर जिस ओर पग उठे, चला जा रहा था। सम्मुख अंधकार में कोई छन्द गुनगुनाते हुये किसी मनुष्य की आकृति अपनी ओर आती दिखायी दी। समीप आने पर पृथुसेन ने पहचाना कि वैद्यवर स्थविर चीवुक स्तोत्र पाठ करते आ रहे थे।

स्थविर चीवुक की दृष्टि पृथुसेन की ओर गयी। पृथुसेन का शरीर वैद्यवर के हाथों में दो मास तक रह चुका था। भिन्न वेश में भी उसे पहचान लेने में वैद्यवर को दुविधा न हुयी। निशंक स्वर में उन्होंने सम्बोधन किया—“आर्य, कहाँ जा रहे हैं? ... वह दिशा संकटमय होगी। अश्वारोही दल आर्य को खोजता उसी ओर गया है।”

“तात स्थविर!” पृथुसेन ने निराशा से उत्तर दिया, “छना षाकर इस समय मैं निराश्रय और निस्सहाय हूँ। सभी दिशाएँ और सभी स्थान अब मेरे लिये संकटमय हैं। प्रश्न है केवल समय का। अधिक ने छल द्वारा मुझे अग्ने पाश में फँसा लिया है। विलम्ब है, केवल मुझे हाथ में पाने का। अधिक का काष्ठ मेरे मुण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है। तात स्थविर, निशस्त्र होने के कारण मैं निस्सहाय हूँ, अशरण हूँ, अपमानजनक मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।”

स्थविर पृथुसेन की ओर देखते रहे। अन्धकार में फँसे उनके नेत्रों में भी कृपा का आभास था। मंद आद्रं स्वर में बोले—“पुत्र, यदि शरण चाहते हो तो समीप ही बुद्धरक्षित संघाराम है। विहार प्रत्येक शरणागत का आश्रय है। वह युद्ध के द्वन्द्व और शासन की सीमा से परे है।”

“कृपामूर्ति, इस समय शरण पाने से यह असहाय कृतार्थ होगा।” पृथुसेन ने कर जोड़ कर आशापूर्ण स्वर में याचना की।

ब्रह्म मुहूर्त में सागल के जनसमाज की निद्रा भेरीघोष और दुन्दभीनाद से भंग हुयी। आशंकित और विस्मित जन ने अलिन्दों और गवाक्षों से झाँक कर अथवा शीट्या पर लेटे हो सुना—

“तद्गुणनिधान, क्षत्रिय-कुलभूषण, धर्मरक्षक महासामन्त, परम भूदारक श्री देव सर्वार्थ भूमि को पाप मुक्त कर, मद्र के कुलवर्ग की अनुमति से मद्रगण की गणपरिषद के गणपति का राजदण्ड ग्रहण करते हैं। मद्रगण की गणपरिषद के संवाहक और सचिव का आसन मद्रगण के कुलवर्ग की अनुमति से आचार्य श्रेष्ठ, शास्त्रज्ञ, सामन्त, महापण्डित रुद्रघोर ग्रहण करते हैं। मद्रगण के कुलवर्ग की अनुमति से मद्रगण की सेना का शासन महासेनापति के पद से सामन्तवर्य, अग्र-हार श्री सामंत कात्सीवीर ग्रहण करते हैं। मद्रगण का राज्य कुलवर्ग के वर्णाश्रम धर्म का पालन कर, प्रजा का न्यायानुमोदित शासन करेगा। सम्पूर्ण द्विजकुल,

यवन, शूद्र और दास निज धर्म में स्थित होकर राजाज्ञा का पालन करें !”

कातिक की पूर्णिमा का चन्द्रमा सागल से म्लेच्छ शासन की चरम प्रतिभा को समेट कर अस्त हो गया। सूर्योदय के समय सागल में वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना हो जाने से द्विज कुल की महिमा स्थापित हो गयी। मुख्य पथों और वीथियों के चतुर्मागों पर द्विज सामन्तों के सैनिकों के शस्त्र और शिरस्त्राण सूर्य की किरणों में चमक रहे थे। सागल की यह नवीन शोभा जन के एक भाग के लिये उत्साह और सतोष का कारण थी, दूसरे भाग के लिये मर्मान्तक विभीषिका और निरुत्साह का कारण और सर्वसाधारण जन के लिये केवल कौतूहल मिश्रित आतंक का कारण।

सागल के वही राजाथ थे, वही वीथियाँ, वही प्रासाद और वही अट्टालिकायें, तड़ाग और उद्यान। जन भी वही थे परन्तु व्यवस्था दूसरी थी। बौद्ध धर्म के अनुसार सब जीवों की कल्पना से द्विज कुल का निरुत्साह और हीन वर्ग की उच्छृङ्खलता वर्णाश्रम की राज्यव्यवस्था से दूर हो गई। प्रस्थ की नीति और अनुग्रह से धन के बल पर पल पर उठने वाले परिषद में आसन और सैन्यसंग्रह का अधिकार पाये व्यवसायीजन और श्रेणी अन्तरायणों के जेठूठक अधिकारच्युत हो गये। द्विजकुलों के अतिरिक्त अन्यवर्ग ग्रामअग्रहार अधिकार से हीन हो गये। बौद्ध विहार अपनी अग्रहार-सम्पत्ति से हीन हो गये। पथों और वीथियों में काषाय चीवरधारी, सूर्य की किरणों में चमकते मुण्डितशिर भिक्षुओं के दल प्रायः लोप हो गये। उच्च स्वर में बुद्ध की शरण का निमंत्रण देकर हीनवर्ग का उत्साह बढ़ाने वाला उनका स्वर मन्द हो गया।

प्रस्थ का प्रासाद और उसका कुल, मूल तक को भस्म करने वाली अग्नि के समर्पण हो गया। शस्त्र सैनिकों से रक्षित उत्तुंग अट्टालिकाओं के स्थान पर अग्निदेव की जिह्वा से चाटे जाकर कृष्ण खंडहरों के रूप में प्रस्थप्रासाद के कंकाल चारों ओर फैले भस्म में खड़े थे। प्रस्थ तथा अभिधर्म से सहानुभूति रखने वाले यवन सामन्त ओक्रिस और मार्य अग्रहार सम्पत्ति और सैन्य अधिकार से हीन हो गये। पक्षाघात से मृतप्राय गणपति, अपनी शय्या पर पड़े अबोध भाषा में तथागत के वचन सुनते-सुनते निर्वाण की प्रतीक्षा करते रहे।

आचार्य रुद्रधीर के सैनिकों ने सागल के पथ, वीथियाँ और प्रासाद छान डाले परन्तु पृथुसेन का कहीं पता न चला। पृथुसेन के बच रहने से आचार्य की शान्ति न थी। सर्प को मार यदि उपेक्षा से संपोले को छोड़ दिया जाय तो वही

कालान्तर में सर्प बन जाता है ।

पृथुसेन बुद्ध-रक्षित संघाराम में शरण पाकर दिन भर स्थविर चीवुक की साधना-गुफा के अन्धकार में निराहार लेटा चिन्ता-मग्न रहा । दो पहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर पृथुसेन ने स्थविर चीवुक से संघाराम से बाहर जाने की अनुमति के लिये प्रार्थना की ।

स्थविर ने पृथुसेन का अभिप्राय अनुमान कर अपनी स्वाभाविक मुस्कान में प्रश्न किया—“किस प्रयोजन से आर्य ?”

“भन्ते, प्राणो के भय से मैं यहां आतं मूषिक के समान कब तक छिपा रह सकता हूं ?” पृथुसेन ने उत्तर दिया, “भन्ते अनुमति दें । युद्ध में विजयी हो कर लौटने पर भन्ते ने कृपापूर्वक मेरे क्षत शरीर का उपचार कर प्राणदान दिया था । शत्रु से संतुष्ट होने पर भन्ते ने शरण देकर दूसरी बार प्राणदान दिया । मैं भन्ते के सम्मुख दो जीवनों के लिये आभारी हूं । भन्ते अनुमति दें, अन्धकार में बाहर जाकर शत्रु का सामना करने का अवसर देखूं । शत्रु का पराभव करूंगा अथवा प्रयत्न में प्राण विसर्जन करूंगा । मुझे दैन्य में आत्महनन स्वीकार नहीं ।”

स्थविर चीवुक, पृथुसेन को अपने समीप आसन ग्रहण करने के लिये संकेत कर बोले—‘आर्य, दीन होकर आत्महनन करना श्रेय नहीं । शत्रु के पराभव का विचार उचित है परन्तु अन्धकार में शत्रु का पराभव कैसे होगा ? शत्रु का पराभव करने के लिये उसे पहचानना आवश्यक है ।”

“शत्रु को पहचान सकूंगा भन्ते !” स्थविर के आशय के प्रति शंका से पृथुसेन ने उनके नेत्रों में देखा ।

“तो आर्य शत्रु को यहां ही पहचानें !” स्थविर अपनी सत्तत् मुस्कान से बोले ।

पृथुसेन ने जिज्ञासा से विस्फारित नेत्रों से स्थविर की ओर देखा—“भन्ते का अभिप्राय : ?”

“आर्य, शत्रु तो मन की भावना से होता है ।”

“भन्ते, इस समय मेरे मन की अवस्था तत्त्वज्ञान का तर्क ग्रहण करने योग्य नहीं । मैं जीवन की रक्षा के लिये संघर्ष की बात कह रहा हूं ।” कुछ समय

चिन्ता में माथे पर हाथ रख कर पृथुसेन ने निवेदन किया, “भन्ते, मुझे संचाराम से बाहर जाने की अनुमति दें।”

स्थविर की शांति मुद्रा में अन्तर न आया—“आर्य, जीवन की रक्षा के विषय में ही मैं कह रहा हूँ। आर्य को विपत्ति में जान कर रक्तपात निवारण के लिये संचाराम में स्थान दिया था इसलिये नहीं कि आप रक्तपात करने और विपज्जनक स्थिति उत्पन्न करने के अवसर की प्रतीक्षा करें।”

पृथुसेन अवाक् स्थविर की अविचलित मुस्कान की ओर देखता रह गया। कल्पना में उसे अतीत की घटना दिखायी देने लगी—जब घायल होकर मृत्यु और जीवन के बीच झूलते उसके शरीर को स्थविर चीवुक ने अपने कृपालु करों से प्राणदान दिया था। उस समय भी स्थविर के मुख पर यही मुस्कान थी। उनका स्वर भी यही था। स्थविर ने आश्वासन दिया था—“आर्य, शक्ति रहते तुम्हारे जीवन की रक्षा करूँगा।”

पृथुसेन के निरुत्तर रहने पर भी स्थविर ने एक श्रमण को पुकार कर कुछ फल उपस्थित करने का आदेश दिया। पृथुसेन ने अत्यन्त अनिच्छा होने पर भी स्थविर का आदेश अग्राह्य न कर सकने के कारण कुछ फलाहार किया।

स्थविर अनेक रोगियों के सेवा-उपचार के लिये दिन के समय नगर के अनेक भागों में जाते थे। उन्होंने पृथुसेन को नगर की अवस्था सुनायी। नगर में रक्तपात विशेष न हुआ था परन्तु सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पलट गयी थी। पृथुसेन के सहयोगी और मित्रवर्ग उनकी सहायता कर सकने योग्य अवस्था में न थे। पृथुसेन का उनके यहाँ आना पृथुसेन और स्वयं उनके लिये भी विपत्ति का कारण होता। रुद्रधीर के चर प्रत्येक पथ, वीथी और उपान्त में पृथुसेन को खोज कर विफल हो गये थे। उनका अनुमान था पृथुसेन षड्यन्त्र की गन्ध पाकर पहले ही मल्लिका प्रासाद से निकल नगर की प्राचीर लाँघ गया है। उन्हें शंका थी, पृथुसेन छद्मवेश में दावराज से छीने हुये अपने अग्रहार के ग्रामों की ओर गया है। रुद्रधीर और सामन्त सर्वाथ के चर उसी ओर उसकी खोज कर रहे थे।

पृथुसेन ने स्थविर की बात से विशेष सान्त्वना न पाकर असन्तोष से प्रश्न किया—“भन्ते, क्या मैं अपना शेष जीवन आखेटक के हाथ से भागे हुये पंगु जीव की भाँति यहाँ छिप स्थान में छिप कर दैम्य और कातरता में व्यतीत करूँगा?”

“कातरता और निरुत्साह वीर पुरुष को शोभा नहीं देते आर्य!” स्थविर ने उत्तर दिया।

“भग्ने, ऐसी अवस्था में रक्तपात और हिंसा की आशंका से मैं किस प्रकार निष्क्रिय बैठा रहूँ ? शत्रु से संग्राम करने के अतिरिक्त मेरे लिये उपाय क्या ?” पृथुसेन ने अधीर स्वर में पुनः अनुनय किया ।

“आर्य, रक्तपात शत्रु को पराजित करने का सफल उपाय नहीं । शस्त्र द्वारा शत्रु का वध किया जा सकता है । उसे कुछ काल के लिये वश किया जा सकता है परन्तु विजय नहीं किया जा सकता । जिसका वध हो गया, जो रहा नहीं, उसे विजय नहीं किया जा सकता । मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा पराभव को केवल कायरता और प्रतिहिंसा की भावना से ही स्वीकार करता है । दमनकारी शत्रु की शक्ति क्षय होते ही पराजित हुआ शत्रु पुनः प्रतिकार का यत्न करता है । आर्य, ऐसा दमन भी विजय नहीं । आर्य, संसार में रक्तपात यथेष्ट हुआ है परन्तु उसका परिणाम शत्रु की विजय कभी नहीं हुआ । इस प्रकार की विजय केवल द्वेष और प्रतिकार की नयी पीढ़ का बीज मात्र होती है । आर्य विचारें, शत्रु के मृतक शरीर से तो कोई भय नहीं करता । आर्य, शत्रुता शरीर करता है या मन की भावना शत्रुता करती है ?” स्थविर ने प्रश्न किया ।

“मन की भावना भग्ने !” क्षीण स्वर में पृथुसेन ने उत्तर दिया ।

“तो फिर आर्य, विजय शत्रु का शरीर वश करने में नहीं, उसके मन की भावना वश करने में है । जैसे तथागत ने देवदत्त के मन को, धर्मघोष ने सम्राट अशोक के मन को और अर्हत नागसेन ने सम्राट मिलिन्द के मन को विजय किया था, उसी प्रकार आर्य आचार्य रुद्रघोर को विजय करें ।” स्थविर मौन हो सस्मित दृष्टि से पृथुसेन की ओर देखते रहे ।

पृथुसेन कभी स्थविर के शीत, सस्मित मुख की ओर देखता और कभी ग्रीवा झुकाये उनके शब्दों को सुनता रहा । स्थविर कहते गये—“आर्य, मनुष्य के शत्रु कितने हैं ? कौन है ? कहाँ है ? मनुष्य उन सबको नहीं जानता । जान भी नहीं सकता । मनुष्य शस्त्र से कितने शत्रुओं का हनन करेगा ? एक दिन सागल की प्रजा आर्य को पथ पर अश्वारूढ़ देख कर जयघोष करती थी । आज आर्य को इस अवस्था में देख कर प्रजा जन उत्साहित न होंगे । क्या इसलिये कि वे आर्य के शत्रु हो गये ? आर्य ने उनकी क्या हानि की है ? ...आर्य ने दार्व विजय के समय केन्द्रस के अनेक सैनिकों का हनन किया । क्या वे आर्य के शत्रु थे ? आर्य ने उन्हें कभी देखा न था ; आर्य को उन्होंने कभी देखा न था । उस शत्रुता का कारण केवल मन की भावना और शत्रुता का विश्वास था । आर्य,

शत्रुता मन का विषय है ।

“आर्य, जो शत्रु से पराजय स्वीकार करता है और जो शत्रु को मारने के लिये जाता है, वे दोनों ही शत्रु के भय के कारण ऐसा करते हैं। आचार्य रुद्रधीर आर्य के प्राणों के ग्राहक इसलिये हैं कि उन्हें अपनी स्थिति और प्राणों के लिये आर्य से भय है, वे आर्य के भय से कांप रहे हैं। आर्य जो भय करता है, त्रास मानता है वह वीर नहीं। वीर और साहसी वही है जिसे किसी का भय नहीं, किसी का त्रास नहीं।

“आर्य, जो तुम से भय करता है उससे तुम भी भय करते हो। शक्तिमान का भय सुषुप्त है; शक्तिहीन का जागरित। भय का कारण होने से भय अवश्य होगा। निर्भय वही है जो भय के कारणों से मुक्त है। तुम्हारी शक्ति से यदि दूसरा भयभीत है तो उसका भयभीत रहना तुम्हारे भय का गुप्त बीज है। अनुकूल भूमि और ऋतु पाने से भय का यह बीज किसी भी समय अंकुरित हो सकता है। आर्य, ऐसी अवस्था में शक्ति अभय का नहीं, भय का ही कारण है; अन्य के भय का और अपने भय का भी। ऐसी शक्ति सुख का हेतु नहीं हो सकती। आर्य, दुःख के साधन और कारण एकत्र करके जो मनुष्य सुख की आशा करता है, वह भ्रम के मार्ग का पथिक है। सुख की ऐसी इच्छा दरिद्र के मनोरथ की भांति केवल क्लेश का हेतु होती है।”

स्थविर चीवुक प्रातः, मध्याह्न अथवा संध्या समय भिक्षाटन और रोगियों की उपचार-सेवा से अवकाश पाने पर पृथुसेन के समीप आकर वार्तालाप करने लगते। पूरा एक पक्ष व्यतीत होने से पूर्व ही विग्रह के लिये संघाराम से बाहर जाने की इच्छा पृथुसेन ने त्याग दी। वह स्थविर से अनासक्ति और चिरन्तन सुख के विषय में प्रश्न कर उनके उत्तरों को मौन रह कर विचारता रहता। उसके मुख और व्यवहार से व्यथा और चिन्ता की मुद्रा जाती रही। उसके लिये क्लेश और बाधा का कारण न रहा। वह नेत्रों में उत्सुकता लिये बद्ध-कर होकर आदर से उपदेश सुनता।

एक संध्या स्थविर के उपदेश के पश्चात् पृथुसेन ने अनुनय की—“भन्ते, सेवक सार्वभौम मैत्री की भावना ग्रहण कर चिरन्तन सुख के मार्ग का पथिक बनना चाहता है। भन्ते, सेवक को तथागत के धर्म का वेश दें, त्रिशरण में ग्रहण करें।”

स्मितवदन स्थविर ने उत्तर दिया—“आर्य, उसका भी समय आया। जो

सुख अपरिग्रह के मार्ग कर किसी से कुछ छीने बिना प्राप्त होता है, उससे मनुष्य को कोई वंचित नहीं रख सकता। आयुष्मान, उसका भी समय आयेगा।”

पृथुसेन स्वेच्छा से ही भिक्षुओं के विनय और शील का पालन करने लगा।

वंचवर स्थविर चीवुक सागल के विहारों और भिक्षुसंघ के नायक, संघ-स्थविर अर्हत धर्मरक्षित का सम्देश पाकर मध्याह्नोत्तर में उनके सम्मुख उपस्थित हुये।

अर्हत संघस्थविर धर्मरक्षित अभिधर्म पर आये संकट के कारण अत्यन्त चिन्तित थे। नगर में दुग्धभीनाद द्वारा गणपति, सामन्त श्रेष्ठ श्री देव सर्वार्थ की आज्ञा का समाचार पाकर वे उद्विग्न हो गये। गणपति की विज्ञप्ति थी—“जो नागरिक, वर्णाश्रम धर्मघातक दासपुत्र पृथुसेन को मृत अथवा जीवित अवस्था में सागल के राजपुरुषों को सौपेगा, वह गणराज्य कोष से पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा और एक ग्राम के अग्रहार का अधिकारी होगा। जो नागरिक गणराज्य के अनुशासन की अवज्ञा कर धर्मघातक दासपुत्र पृथुसेन को शरण देगा, वह धर्मस्थान से मृत्युदण्ड का अधिकारी होगा।”

स्थविर चीवुक ने विनय के नियमानुसार पाँचों अंगों से प्रणाम कर संघस्थविर धर्मरक्षित की वन्दना की। संघस्थविर ने कृपाहस्त उठा कर स्थविर चीवुक के स्वास्थ्य और आरोग्य की कामना की। स्थविर चीवुक ने जानु पृथ्वी पर टिका उनके आदेश के लिये प्रार्थना की। चीवुक ने संघस्थविर के आदेश से कुशासन ग्रहण किया और संघस्थविर की चिन्ता के कारण का अनुमान करके भी उनके बोलने की प्रतीक्षा में मौन रहे। संघ स्थविर ने मन की उद्विग्नता के कारण संक्षेप में कहा—“आयुष्मान अभिधर्म पर उपस्थित संकट से अवगत हैं?”

“भन्ते,” चीवुक ने उत्तर दिया, “धर्म पर संकट नहीं आता। केवल धर्म के प्रति विश्वास प्रकट करने वाले जन भयभीत होकर संकट अनुभव करते हैं। धर्म कभी अधिक मनुष्यों के हृदय और विश्वास में स्थान पाता है और कभी कम मनुष्यों के। ऐसी भिक्षु की धारणा है।”

स्थविर चीवुक के उत्तर पर मन में विचार कर संघस्थविर बोले—“आयुष्मान, मेरे मुख से न कहने पर भी मेरे मन में उपस्थित चिन्ता के प्रसंग से अवगत हैं। आयुष्मान ने राज्य की विज्ञप्ति का समाचार सुना है?”

“भन्ते की चिन्ता का कारण मैंने अनुमान किया है। विज्ञप्ति मैंने सुनी है।” चीवुक ने स्वीकार किया है।

“राज्यकोष के पात्र पृथुसेन का बुद्धरक्षित संचाराम में शरण पाना इस संकटमय परिस्थिति में अभिधर्म और संघ के लिये आपत्ति का कारण है। रुद्रधीर धर्म का द्वेषी है, आयुष्मान जानते हैं।”

‘भन्ते, धर्म की रक्षा के लिये शरणागत को शरण देना आवश्यक हुआ। संघ शरणागत को शरण दे, ऐसा अभिधर्म का आदेश है।’

“परन्तु आयुष्मान।” संघस्थविर के मस्तिष्क पर चिन्ता की रेखायें गहरी हो गयीं, “संघ और धर्म की रक्षा के लिये इस समय दूसरा कर्तव्य है जैसे उपोसथ श्रेय होने पर भी रुग्ण शरीर उपासक के लिये उपोसथ उचित नहीं।”

“यदि संघस्थविर की आज्ञा हो तो भिक्षु निवेदन करे!” चीवुक ने कर जोड़ कर अर्हंत धर्मरक्षित की ओर देखा।

संघस्थविर के सिर झुका कर अनुमति देने पर चीवुक बोले—“भन्ते, जैसे जल का विशेष उपयोग तृषा अनुभव होने पर होता है उसी प्रकार धर्म का पालन भी संकट के समय ही महत्व रखता है।”

“परन्तु संघ की रक्षा एक साधारण जन की रक्षा से अधिक महत्वपूर्ण है।” धर्मरक्षित ने चीवुक के नेत्रों में देख कर चेतावनी दी।

“भन्ते, बोधिसत्व ने शरणागत, अकिंचन पक्षी की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस अर्पण किया था। उनके शरीर का महत्व, उनका बुद्धत्व और धर्म अकिंचन शरणागत पक्षी के लिये शरीर देने में ही हुआ। भन्ते, भिक्षु का बोध आदेश देता है कि धर्म की रक्षा और संघ के धर्म की रक्षा का महत्व शरणागत को शरण देने में है। इससे संघ शरीर का संकट अनुभव करके भी धर्म की वृद्धि करेगा और शरणागत को त्याग कर संघ के शरीर-रक्षा के मोह से धर्म की हानि होगी।”

बहुत समय तक विचार में मीन रह कर संघस्थविर ने स्थविर चीवुक को सम्बोधन किया—“आयुष्मान, विनय का उपदेश है कि जब भिक्षुओं में परस्पर विचार और मत का भेद हो, मार्ग का निर्णय संघसभा करे परन्तु आयुष्मान, उग्र संकट के कारण यह रहस्य संघसभा में प्रकट करना भी संघ के लिये आपत्ति का हेतु होगा। आयुष्मान की धर्मभावना का आदर कर संघस्थविर ने अपना विचार और आदेश कह दिया।

स्थविर चीवुक मस्तक झुकाये बैठे रहे और फिर संघनायक को विनयपूर्वक प्रणाम कर, आज्ञा लेकर बुद्धरक्षित संचाराम में लौट आये।

स्थविर चीवुक का कण्ठा और मंत्री की भावना से सदा प्रसन्न मुख गम्भीर हो गया। द्वन्द्व से मुक्त उनके मन में घोर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया। संवत्स्थविर की आज्ञा की अवज्ञा कर वे विनय के नियम का उल्लंघन किस प्रकार करें और वे बोधिसत्व के उपदेश के विरुद्ध आचरण किस प्रकार करें? चित्त स्थिर कर कर्तव्य मार्ग का निश्चय करने के लिये वे रात्रि के तीन पहर बीते तक तथागत के बिम्ब के सम्मुख बैठ कर विचार करते रहे।

स्थविर ने विचार से तथागत की धर्मभावना मन में ग्रहण कर मार्ग का निर्देश पाया। घृतदीप की ज्योति से प्रतिभाषित तथागत की प्रतिमा के उज्ज्वल मुख मण्डल की ओर दृष्टि लगाये उनका मुख पुनः चितामुक्त होकर प्रसन्नता से खिल उठा। तथागत के बिम्ब के सम्मुख पृथ्वी पर मस्तक रख उन्होंने प्रणाम किया।

चीवुक सूर्योदय पूर्व ही पृथुसेन की गुफा के सम्मुख उपस्थित हुये। पृथुसेन विचार-मग्न था। सस्मित-वदन स्थविर को सम्मुख खड़े देख कर उस ने आदर से आसन छोड़ कर श्रद्धा से प्रणाम किया।

“मन में कोई दुविधा है आयुष्मान?” कृपाहस्त उठा कर स्थविर ने सम्बोधन किया।

“नहीं भन्ते! भन्ते के उपदेश से उपासक दुविधा से मुक्त हुआ।” नतमस्तक पृथुसेन ने निवेदन किया।

“आयुष्मान, कोई भय शेष है?”

“नहीं भन्ते।”

“आयुष्मान, कोई तुम्हारा शत्रु है?”

“भन्ते की दया से शत्रु-रहित हुआ हूँ।”

“आयुष्मान, आचार्य रुद्रधीर के द्वार पर भिक्षा के लिये चलोगे?”

“भन्ते, आचार्य रुद्रधीर के द्वार पर अथवा और भी जहाँ आदेश हो।

आयुष्मान, तथागत की शरण, धर्म की शरण, संघ की शरण ग्रहण करने के प्रयोजन से प्रब्रज्या दान के लिये संघ से प्रार्थना करते हूँ?”

“भन्ते, मैं प्रब्रज्या की भिक्षा के लिये संघ से प्रार्थना करता हूँ।”

“आयुष्मान की इच्छा पूर्ण होगी। आयुष्मान, प्रब्रज्या ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हो।

स्थविर चीवुक ने बुद्ध-रक्षित संचाराम के भिक्षुओं को, एक नवीन धमय

को तुरन्त प्रज्ञया दान देने की आयोजना के लिये आदेश दिया ।

पृथुसेन मध्याह्न से पूर्व ही मुण्डित शिर, काषाय चीवर धारण किये और हाथ में भिक्षापात्र लिये स्थविर वंछ चीवुक के साथ भिक्षा के लिये बुद्ध-रक्षित संघाराम के द्वार से निकला ।

वंछवर चीवुक अन्य एक भिक्षु सहित वर्णाश्रम धर्म के व्यवस्थापक, गण-परिषद के सदाहक आचार्य रुद्रधीर के प्रासाद के सशस्त्र सैनिकों से रक्षित सिंह-द्वार पर उपस्थित हुये ।

प्रतिहारी द्वारपाल ने निषेदन किया—“भन्ते, भण्हारगृह से भिक्षा आने तक प्रतीक्षा करें ।”

सस्मित बदन स्थविर ने द्वारपाल का उत्तर दिया—“भद्र, आज आचार्य के हाथ से ही भिक्षा ग्रहण करने की इच्छा है ।”

“भन्ते, आचार्य की आज्ञा है कि उन की अनुमति पाये बिना प्रासाद में प्रवेश निषेध है ।” प्रतिहारी ने क्षमा-याचना की ।

“भद्र, आचार्य से भिक्षु चीवुक और उस के साथी भिक्षु का आशीर्वाद निवेदन करें ।” स्थविर चीवुक ने मुस्कराकर आग्रह किया ।

आस्थान से आदेश प्राप्त होने पर स्थविर चीवुक अपने साथी भिक्षु को लिये, सशस्त्र प्रतिहारी सहित आचार्य रुद्रधीर के आस्थान में प्रविष्ट हुये ।

आचार्य अनेक ताड़पत्र और भोजपत्र सम्मुख रखे लेखकों से अनेक निर्देश लिपिबद्ध करवा रहे थे । भिक्षुओं को सम्मुख देख कर आचार्य ने आसन से उठ कर करषद्ध हो स्थविर चीवुक को सम्बोधन किया—“आचार्य प्रवर्धनापत्य, आचार्य रुद्रधीर भद्र के सर्वश्रेष्ठ वंछ, ज्ञानी स्थविर चीवुक की वन्दना करता है ।” स्थविर के साथी भिक्षु की ओर भी नमस्कार कर आचार्य ने कहा, “अपरिचित श्रमण भी गृहस्थ की वन्दना स्वीकार करें ।”

दोनों भिक्षुओं के आसन ग्रहण कर लेने पर आचार्य स्वयं भी बैठे और निषेदन किया—“स्थविर सेवा के लिये आज्ञा करें ।”

“आर्य, भिक्षु की सेवा भिक्षा ही है,” स्थविर बोले, “आचार्य अपने मनकी कामना कहें ।”

“भन्ते का आशीर्वाद है । शरीर रोगग्रस्त होने पर वंछवर की कृपा की

आवश्यकता होगी ।” मुस्कराकर आचार्य ने पुनः हाथ थोड़े ।

स्थविर भी मुस्कराये—“शरीर का क्लेश हो सकता है आर्य !”

“भन्ते, जिसने स्वयं संसार त्याग दिया है,” परिहास से आचार्य ने उत्तर में प्रश्न किया, “वह दूसरे को क्या देगा ?”

स्थविर की मुस्कान म्लान न हुयी । उन्होंने उत्तर दिया—“आचार्य जानी हैं । पाये बिना किसी वस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता । संसार को कोई पा नहीं सकता इसलिये उसे कोई त्याग भी नहीं सकता । परिग्रह और त्याग दोनों का प्रयोजन संतोष है । जब तक मन में चिन्ता है, संतोष नहीं ।”

स्थविर का वचन सत्य है ।” आचार्य ने स्वीकार दिया, “कर्मकाण्डी और संसारी के लिये सदा ही अमन्तोष के अनेक कारण हैं, अनेक चिन्तायें हैं ।”

स्थविर के समीप आसन पर बैठा भिक्षु बोला—“अनेक चिन्ताओं में एक चिन्ता से आचार्य को मुक्ति देने के लिये यह भिक्षु उपस्थित हुआ है ।”

भिक्षु का स्वर सुन कर ग्रीवा उठा, विस्मय से नेत्र फैला कर आचार्य ने बोलते हुये भिक्षु की ओर देखा । उनके नेत्र और ओष्ठ खुले ही रह गये ।

भिक्षु बोला—“मैं भिक्षु पृथुसेन, सार्वभौम मंत्री का सुख पाकर, आचार्य के प्रति शत्रुता के भाव से रहित होकर भय और चिन्ता से मुक्त हुआ हूँ । आचार्य को भी अपने कारण भय और चिन्ता से मुक्त करने के लिये मैं आचार्य के सम्मुख उनके आस्थान में, उनके हाथों में उपस्थित हूँ । पृथुसेन को पाकर भिक्षु को सार्वभौम मंत्री के सुख की भिक्षा दें ।” भिक्षु ने आत्मसमर्पण के भाव से दोनों हाथ फैला दिये ।

कुछ कहने के लिये खुले आचार्य के ओष्ठ गहरा निःश्वाम छोड़कर चुप रह गये । वे ग्रीवा झुकाये मोन बैठे रहे । अनेक क्षण पश्चात् अलन्द में प्रहरी द्वारा मध्याह्न का घड़ियाल बजाये जाने के शब्द ने उन्हें सजग किया । अभ्यागत भिक्षुओं को सम्बोधन कर उन्होंने निवेदन किया—“भिक्षुवर, अन्न ग्रहण करें ।”

“नीतिविद आचार्य जानते हैं कि विनय के अनुशासन से मध्याह्नोत्तर में भिक्षु का अन्न ग्रहण करना उचित नहीं ।” चीवुक ने निर्द्वन्द्व मुस्कान से उत्तर दिया ।

आचार्य ने घर आये भिक्षुओं को निराहार रखने के परिताप में लज्जा अनुभव कर क्षमा याचना की—“भन्ते गृहस्थ अपनी उपेक्षा के लिये भिक्षुओं से क्षमा चाहता है ।”

“आर्य इसके लिये चिन्ता का कारण नहीं ।” स्थविर ने आश्वासन दिया ।

आस्थानागार में बहुत समय तक स्वग्धता छायी रही। उसके पश्चात् स्थविर उठ खड़े हुये। आज्ञा लेकर और आशीर्वाद देकर वे पृथुसेन सहित सिंहद्वार की ओर चले जा रहे थे।

आचार्य रुद्रधीर ग्रीवा झुकाये चिन्तामग्न बैठे रहे।

आचार्य को चिन्तित देख कर उनके अनुज वसुधीर ने निवेदन किया—  
“आर्ज, शत्रु के दैन्य स्वीकार कर लेने से युद्ध का अन्त हो जाता है। यह वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा है।”

रुद्रधीर ने अनुज की ओर देखा परन्तु उनकी दृष्टि में सन्तोष न था।



## मल्लिका

मद्र में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना होकर गणराज्य और सागल नगरी से हीनवर्ग की उच्छृङ्खलता दूर हो गयी। द्विजकुल वर्ग की मर्यादा पुनः स्थापित होने से देवी मल्लिका को भी सन्तोष हुआ। देवी ने अपने चतुश्शाल में पुनः परिपाटी से कला के अनुष्ठान का आयोजन किया। कला का अनुष्ठान और परिपाटी स्थापित होने पर भी कला की वह सजीवता न आ सकी जो स्वयं उन के यौवनकाल में और दिव्या, मादुलिका आदि शिष्यों के सहयोग से थी।

देवी मल्लिका स्वयं यह अभाव अनुभव करतीं। कला के प्रति आदर अवश्य था परन्तु आकर्षण नहीं। कला के निगम थे परन्तु उनकी ग्राह्यता नहीं। सुन्दर पिजरा था परन्तु सारिका निष्प्रभ थी। अनुभवी संगीताचार्य मारुत, आपित और लोमक अपने वृद्ध कण्ठों से षड्ज की शुद्ध लय उठाते। वृद्ध नट उदुम्बर अपने अस्थिपिजरा मात्र शरीर से अनेक कठिन, दुष्साध्य मुद्राओं का प्रदर्शन कर भावाबोधन करते। उन्हीं की भांति मर्मज्ञा वृद्धा नर्तकी प्रथा थी।

ऐसी कला का रस पाने के लिये ज्ञान, प्रयत्न और संस्कार की आवश्यकता थी जैसे समाधि और ध्यान का आनन्द केवल अभ्यास से पाया जा सकता है। वह कला रूप और स्वर की सम्मोहक शक्ति से विगत कला की शुद्ध आत्मा थी परन्तु साधारण जन की दृष्टि में कला का निर्जीव उपचार मात्र। जन के लिये उस कला की अनुभूति उतनी ही दुस्साध्य थी जैसे शरीर के बन्धन से मुक्त आत्मा का ज्ञान। रसिक समाज आदर तो मल्लिका का करता परन्तु संतोष दूढ़ता था वसुमित्रा और कुसुमसेना के यौवन से क्लिप्त चतुश्शालों में। दूर देश से ज्ञानी अब भी विमर्ष के लिये देवी मल्लिका की ही कलापीठ में पधारते थे।

पृथुसेन के पराभव के पश्चात् मादुलिका पश्चाताप से मल्लिका की सेवा में

समायाचना के लिये आयी। मल्लिका ने उसे पुनः स्वीकार न किया। जिसे कला की अपेक्षा विनास-सुख ने आकर्षित किया, उसके हाथ में कला शुद्ध और सम्मानित नहीं रह सकती।

मादुलिका से विरक्त होकर देवी का मन और भी व्यग्र हो उठा। धर्म की पुनः स्थापित व्यवस्था में कला की पीठ क्या यों ही उपेक्षित रह जायगी? सम्पूर्ण जीवन के प्रयत्न और साधना से कला के लिये जिस सम्मान और शक्ति के अधिकार की स्थापना वे कर पायी थीं, वह क्या उनके शरीर के साथ ही लुप्त हो जायगा! जनपद-कल्याणी का आसन अनाधिकारी और अपात्र से अपमानित होगा! मल्लिका के लिये पीछा अपने नेत्रों के सम्मुख सर्वनाश होने के समान थी।

देवी मल्लिका को अपने वैभव से मोहन था। वह वैभव उनके विश्वास में कला की अधिष्ठात्री का सम्मान मात्र था। वह स्वयं कला का प्रतिरूप थीं इसलिये सम्मान की अधिकारी थीं। मल्लिका ने धन और द्रव्य का अर्जन न किया था; अर्जन किया था, कला की सफलता के यश और कीर्ति का। द्रव्य उस यश और कीर्ति का छाया-रूप था।

देवी ने यौवन में केवल एक सन्तान अपनी कला की उत्तराधिकारिणी की आशा से धारण की थी। रूपवती कन्या का वरदान पाकर उन्होंने अपना शरीर देवी सरस्वती के अर्पण कर, कला में शैथिल्य की आशंका से गर्भ न धारण करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। निष्ठुर दैव ने उनकी सन्तान छीन ली परन्तु देवी ने अपनी प्रतिज्ञा भंग न की। दैव ने भक्त की उपेक्षा की परन्तु भक्त की निष्ठा दृढ़ रही।

देवी मल्लिका को दैव के इस विधान में कुछ भी विपरीत न जान पड़ा। उन्होंने विचारा—सरस्वती का उत्तराधिकार गर्भ से नहीं, मुख से होता है। वैसे ही दैव को उनका उत्तराधिकार गर्भ की सन्तान में नहीं, आत्मा की सन्तान—गोपा तक्षशिला में, सुलेखा मगध में और रत्नप्रभा मथुरापुरी में उनकी कीर्ति-ध्वजा फहरा रही थी। दूर देशव्यापी कीर्ति से आकर्षित हो कर कला के उद्गम तीर्थ सागल की यात्रा करने वाले अब यहाँ क्या पायेंगे, यह सोच देवी मल्लिका का शरीर वेदना से सिहर उठता। मादुलिका से उन्होंने आशा की थी परन्तु वह अपात्र निकली।

देवी मल्लिका ने बीणापाणि देवी सरस्वती की कृपा में निष्ठा दृढ़ कर पुत्र

अपनी उत्तराधिकारी पाने का निश्चय किया। उन्होंने निश्चय किया कि उत्तराधिकारि की खोज में वे जम्बूद्वीप के सुदूर प्रदेशों और जनपदों की यात्रा करेंगे। दूर देश से आये सार्थवाहों, पर्यटकों और यात्रियों से वे अनेक प्रदेशों की कला-साधिकाओं के विषय में विज्ञासा करती रहती थीं। तक्षशिला, मालव, मगध, मथुरापुरी और दक्षिणापथ के सम्बन्ध में संवाद से जितना भी ज्ञातव्य था, उन्होंने जान लिया था। सब से अधिक कीर्ति उन्होंने रत्नप्रभा की शिष्या अंशुमाला की ही सुनी थी।

देवी मल्लिका स्मरण करतीं, रत्नप्रभा में प्रतिभा और निष्ठा दोनों ही थीं परन्तु चार वर्ष से उसकी कीर्ति विशेष उज्ज्वल हो उठी है। कारण है अंशुमाला जैसी शिष्या प्राप्त करने का सौभाग्य। ऐसी शिष्या पाने वाले गुरु से अधिक भाग्यशाली कौन होगा? ऐसी शिष्या जो गुरु से प्राप्त ज्ञान के स्फुलिंग को ज्योतिमयी ज्वाला का रूप दे सके। मगध से लौटते समय आचार्य रुद्रधीर के मथुरापुरी में निवास करने के अनुमान से मल्लिका ने उनमें अंशुमाला के विषय में जानना चाहा। आचार्य ने उस विषय में अधिक रुचि न दिखायी।

इस विषय में आचार्य के मौन से मल्लिका ने अनुमान किया कि नीरस शुष्क प्रकृति आचार्य का कला के विषय में प्रवेश ही कितना है? जो भी हो वृद्धावस्था में स्वयं कष्ट सह कर वह अपने उत्तराधिकारी की खोज करेंगी।

वृद्धावस्था में पुण्यार्थ तीर्थाटन के व्याज से देवी मल्लिका अपने आसन के उत्तराधिकारी की खोज में अनेक तीर्थों, प्रदेशों, जनपदों और नगरों की यात्रा करती, अनेक स्थानों के कलापीठों को देखती शूरसेन देश की ओर चलीं। ज्यों-ज्यों वे मथुरापुरी के समीप पहुँच रही थीं, अंशुमाला की कीर्ति अधिक प्रखर हो रही थी। देवी मल्लिका को विश्वास था, नटराज के धाम में उनकी मनो-कामना अवश्य पूर्ण होगी।

मद्र की जनपदकल्याणी, कला की अधिष्ठात्री, सागल की राजनतंकी देवी मल्लिका के आगमन के समाचार से मथुरापुरी बाल्मीकि और उत्साह से विलोडित हो उठी। पूर्वाभिमुख यमुना की प्रतिद्वन्द्विता में जन-प्रवाह नगर के पश्चिम द्वार की ओर बह चला। देवी रत्नप्रभा के प्रासाद से नगर के पश्चिम द्वार तक राजपथ कदली-तोरणों, कलश-स्तम्भों, पताकाओं, आम-जामुन के पत्तों के बँदन

वारों और पुष्पमालाओं से छा गया। भवनों अट्टालिकाओं और पण्यों की भित्तियाँ, द्वार और स्तम्भ रंगीन कौशेय पटों में छिप गये। राजपथ धान्य और यव की खीलों और लेखनों से बिछ गया। पथ का वातावरण अगर, धूप-लोबान और चन्दन के धूम्र से घूमिल और सुवासित हो गया। अट्टालिकाओं के गवाक्ष और अलिन्द दर्शक समूह के भार से चरमराने लगे। स्थान-स्थान से वीणाओं, पिप्पणियों, कांस्यतालो, मुरजों और मृदंगों के स्वर उठने से आकाश मुखरित हो गया।

देवी रत्नप्रभा, अंशुमाला और दूसरी शिष्याओं, राजपुरुषों, सामन्तों और श्रेष्ठियों सहित गुरुदेवी की अभ्यर्थना के लिये नगरद्वार पर उपस्थित थीं। धूलि के मेघों ने मल्लिका के रथ की मकर चिन्हधारी पताका दिखाई देने पर स्वागत के वाद्य और शंख बज उठे। नभ, जन के जयघोष से कम्पित हो गया।

रत्नप्रभा ने देवी मल्लिका के रथ से उतरने पर स्वर्ण के आधार पर रखे एक सौ घृतदीपो से गुरुदेवी को आरती उतारी और रत्नों से भरा थाल भेंट दिया।

मुस्कान से रत्नों की भेंट अस्वीकार कर देवी ने उत्तर दिया—“पुत्री, कला का भक्त अन्य स्थान से प्रकाश पाकर झुतिमान होने वाले रत्नों की इच्छा नहीं करता। वह स्वयं आभा उत्पन्न करने वाले रत्नों का आदर करता है। आज मैं गुरुदक्षिणा में अथवा भिक्षा में वही रत्न मांगने आयी हूँ।”

रत्नप्रभा की ग्रीवा विचार में झुक गयी। उपस्थित विष्णुशैल-समाज स्तम्भित रह गया। बद्धपाणि रत्नप्रभा ने मस्तक झुका कर विनय की—“माता, शिष्या जो कुछ है, शिष्या का जो कुछ है वह सब भगवती का दान है। जो आज्ञा हो!” जानु पृथ्वी पर टिकाकर रत्नप्रभा ने सिर मल्लिका के चरणों पर रख दिया।

मल्लिका ने मुक्ता से गुथे रत्नप्रभा के केशों पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया—“सरस्वती की पुत्री, तुम्हारे ज्ञान, यश और वैभव का सौभाग्य अचल रहे। तुम्हारी गुरु अपनी शिष्या की शिष्या अंशुमाला को भिक्षा में मांगने आयी है।”

मल्लिका के शब्द सुन कर रत्नप्रभा उठी। अपने पीछे खड़ी अंशुमाला को शिशु की भाँति बाहों में लेकर, मल्लिका के चरणों में बैठा कर हर्षातिरेक से गदगद स्वर में वह बोली—“माता, वह भी तुम्हारी ही है। कला का यह वरदान देने का सामर्थ्य साक्षात् सरस्वती के अतिरिक्त और किस में है?”

चारों ओर मुक्तकण्ठों से जय ! जय ! की, पुकार, जयवाद्य, तथा शङ्खनाद का तुमुल स्वर उठने लगा। उस कोलाहल के मध्य में अपने चरणों से अंशुमाला

का मस्तक उठाकर मल्लिका ने चिरकाल में पूर्ण हुयी अपनी साध का मुख देखा ।  
देवी मल्लिका के नेत्र विस्मय से विस्तृत रह गये, श्वास रुकने लगा और सहसा नेत्रों से जलधार बह उठी ।

अंशुभाला को अत्यन्त गूढ़ आलिंगन में हृदय पर समेट कर मल्लिका क्रन्दन कर उठी—“दिव्या, दिव्या ! मेरी पुत्री, मेरी आत्मा की सन्तान....!”

रत्नप्रभा के लिये अंशुभाला का वियोग सर्वस्व त्याग ही था परन्तु जैसे कन्या की माता पुत्री को पति के लिये विदा करते समय मर्यादित वियोग को उत्सव का रूप देती है, उसी प्रकार रत्नप्रभा ने अपनी सखी, भगिनी, पुत्री अंशुभाला को उसके उज्ज्वल भविष्य के विश्वास से देवी मल्लिका के करों में समर्पण करने का आयोजन किया ।

नेत्रों से जल बहाती वह उसे नगरद्वार तक विदा देने गयी । विराट् समाज पथ के दोनों ओर एकत्र था । अंशु के वियोग से सम्पूर्ण मथुरापुरी दुःखित थी परन्तु जम्बूद्वीप मात्र में अग्रगण्य, कला की अघिष्ठात्री देवी मल्लिका को संतुष्ट कर पाने का गर्व भी उन्हें था । रसिक भक्तों और अनुरागियों द्वारा भेंट किये रत्नभूषणों से अंशु का रथ भर गया ।

रत्नप्रभा मल्लिका के वेगवान रथों से उड़ती धूलि के मेघों में अस्पष्ट होती जाती मल्लिका के रथ की मकरध्वजा को नेत्रों पर हाथ रखे देखती रही; मानो मार्ग पर दूर होकर प्रतिक्षण क्षीण होते जाते उस बिन्दु में ही उसके प्राण समाये थे । दृष्टि के असमर्थ हो जाने से, उस बिन्दु के अदृश्य हो जाने पर यह शिष्या मुक्तावली के कन्धे का सहारा लिये निर्जीव और जड़ के समान रह गयी ।

समीप ही उपस्थित परमभट्टारक, उपरिक रविशर्मा ने अपने हाथ के करुण स्पर्श से उसे सचेत कर स्वयं रथ पर बिठाया । रत्नप्रभा उत्तरीय में मुख छिपाये अपने प्रासाद की ओर लौटी ।



## दिव्या

तीर्थयात्रा के पुण्य से अपनी कलापीठ की उत्तराधिकारिणी खोजने में सफल मनोरथ होकर देवी मल्लिका के सागल नगरी में लौट आने से साधारणजन और अभिजात-समाज दोनों ही अत्यन्त पुलकित और उत्साहित हुये ।

देवी मल्लिका को संतुष्ट करने में समर्थ नर्तकीरत्न के दर्शनों के लिये सागल का समाज व्यग्र हो उठा । दूरवर्ती नगरों और ग्रामों से भी अनेक रसिक और कलाविद पधारने लगे । उस रमणीश्रेष्ठ के दर्शन पाने के लिये देवी के प्रासाद में समाज के समय विराट् जनसमूह एकत्र हो जाता । कंध से कंधे भिड़ते रहते और आसन के लिये स्थान पाना कठिन हो जाता परन्तु नवागन्तुक उत्तराधिकारिणी के दर्शन कोई न पा सका । वह देवी के अन्तःपुर में ही रहती ।

मल्लिका ने घोषणा की—अपनी उत्तराधिकारी कला की अधिष्ठात्री का अभिषेक वह फाल्गुन की पूर्णिमा के शुभ पर्व पर करेगी । तभी जन उसका दर्शन पा सकेंगे । एक मास की वह प्रतीक्षा सागल के जनसमाज के लिये अत्यन्त अधीरता का कारण थी ।

देवी मल्लिका ने एक विराट् बलियज्ञ का अनुष्ठान देवताओं की तुष्टि के लिये किया । उस यज्ञ में एक सौ विद्वान् याज्ञिकों ने स्वस्तिवाचन किया और पुरोहित का आसन, मल्लिका के अनुरोध से धर्म के व्यवस्थापक, गणपरिषद के महामत्य, महापण्डित, महाआचार्य रुद्रधीर ने ग्रहण किया ।

मल्लिका की उत्तराधिकारिणी के अभिषेक का आयोजन रजत पुष्करिणी के तट पर किया गया । वेदी के सम्मुख विस्तृत अर्धचन्द्राकार पत्तियों में सामन्तगण, द्विज कुलपति, अभिजातसमाज और गणपरिषद के सदस्यों और कुलनारियों के लिये आसन थे । उसके पश्चात् सागल के घनिक वर्ग, श्रेष्ठियों,

श्रेणी जेठकों और अम्हरायण के जेठकों और उनके परिजनों के लिये स्थान था । तदन्तर सैनिक वर्ग और सर्वसाधारण जन का सागर दृष्टि की सीमा तक उस्मुकता से उमड़ रहा था । केन्द्र में सिंहासन पर तदगुण निधान, महासामन्त, परमभट्टारक, श्रीदेव सर्वार्थ और उनके समीप महामात्य, महाआचार्य रुद्रधीर शोभायमान थे । कौतूहल का दमन न कर सकने के कारण अनेक वीतराग भिक्षु भी विशाल जनसमूह में अपने काषाय चीधरों में उपस्थित थे ।

वेदज्ञ ब्राह्मणों ने स्वस्त्यन किया । नगर की प्रधान नर्तकियों और मल्लिका की शिष्याओं ने मंगलाचरण और स्वागत उपचार किया । नक्षत्रज्ञ ब्राह्मण ने देवी मल्लिका की उत्तराधिकारिणी के लिये अमर कीर्ति की भविष्यवाणी की ।

शुभ लगन में श्वेत पुष्पों से आच्छादित शिविका में कला की नवीन अधिष्ठात्री को वेदिका पर लाया गया । मल्लिका ने अपने घटसल करों से स्वयं अपनी उत्तराधिकारिणी को शिविका से उतार कर अपने आसन पर आसीन किया । शुभ अवसर के लिये मल्लिका ने अपने करों से अपनी उत्तराधिकारिणी का श्रृंगार किया था । उसका मुखमण्डल मुक्तावलियों के शेखरों में अदृश्य था । जनसमूह चरम उस्मुकता से उत्सव का अनुष्ठान समाप्त होने पर मल्लिका की उत्तराधिकारिणी के दर्शन पाने की प्रतीक्षा कर रहा था ।

वेदपाठी ब्राह्मण ने मंत्रपूत अक्षत, चन्दन, दूर्वा और रोली पात्र में मल्लिका के सम्मुख उपस्थित किये । देवी मल्लिका ने अपने दक्षिण कर की अनामिका अंगुली से रोली और अक्षत लेकर मुक्तावलियों के शेखरों में छिपे उत्तराधिकारिणी के मस्तक पर तिलक कर दिया ।

शंख, भेरी, तुरही और नगाड़ों की ध्वनि से आकाश गूँज उठा । सम्भ्रांत विशिष्टजन अपने आत्मनों से उठ कर नव जनपदकल्याणी के प्रथम दर्शन की भेंट अभिषेक के आसन के सम्मुख रखने लगे ।

अभिषेकतिलक कर देवी मल्लिका ने नतजानु हो कला की नवीन अधिष्ठात्री के चरणों की वन्दना की । आतुर और व्यग्रजन अभिषिक्त जनपदकल्याणी के दर्शनों के लिये कोलाहल कर रहा था ।

मल्लिका के संकेत से चारण ने शंखनाद किया । जन सहसा स्तब्ध हो गया । देवी ने अपनी उत्तराधिकारिणी के मस्तक से मुक्तावली का शेखर दूर कर सब को उसका दर्शन दिया और स्वयं जन के सम्मुख वन्दना के लिये नतजानु हो कर मस्तक झुका दिया । जन समूह श्वास रोके स्तब्ध नवीन जनपदकल्याणी

की ओर दृष्टि लगाये था ।

कुछ पल तक स्तब्धता रहने के पश्चात् अभिजातवर्ग की पंक्तियों से अस्पष्ट अस्फुट गुंजन सा उठने लगा—‘तात धर्मस्थ की प्रपौत्री ! ...दिव्या ! बिष्णु शर्मा की पौत्री ! दिव्या ! द्विज कन्या ! दिव्या ! कुल कन्या दिव्या ! विप्र-कन्या दिव्या !”

जन की बन्दना से मस्तक उठा कर मल्लिका ने देखा—सामान्तवर्ग और अभिजात समाज की पंक्तियाँ विश्रुंखल हो रही थीं । शण भर में एक ललकार सुनाई दी—

“मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठ कर, जन के लिये भोग्य बन कर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती !” आचार्य भृगु शर्मा ऊर्ध्वबाहू खड़े होकर आवेश से कांप रहे थे ।

वह ललकार पर्वत श्रेणियों से आवेष्टित उपत्यका में मेघ की गर्जना के समान सब ओर से प्रतिध्वनित होने लगी । अभिजातवर्ग की पंक्तियों में नरमुण्डों के ऊपर कुछ खड्ग दिखायी देने लगे और फिर अनेक खड्ग ।

देवी मल्लिका स्तब्ध अवाक् निष्कलक खड़ी रही । चारों ओर बढ़ते तुमुल कोलाहल में वे हतज्ञान हो गयीं ।

दिव्या सिर झुकाये मोन बैठी रही ।

दिव्या अपने आसन से उठ खड़ी हुयी । शान्त पगों से जन की ओर जाकर वह वेदी के किनारे पर खड़ी हो गयी । उसका हाथ मोन के संकेत में उठ गया । कोलाहल सहसा शान्त हो गया ।

दिव्या का स्वर सुनाई दिया—“जन, समाज और कुलवर्ग सुनो, मैं इस बिषय में धर्मव्यवस्थापक, नीतिविद, महापण्डित, आचार्य रुद्रधीर का निर्णय जानना चाहती हूँ ।”

जन, समाज और कुलवर्ग की दृष्टि महामात्य के आसन पर आसीन रुद्रधीर की ओर गयी ।

आचार्य मोन थे ।

उनके उत्तर की प्रतीक्षा में जनसागर मोन था । उठे हुये खड्गों का समूह निश्चल था । आचार्य के मोन से जनसमाज अधीर होने लगा ।

विचार में मस्तक झुकाये आचार्य का क्षीण स्वर सुनाई दिया—“वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल के लिये सत्य है ।”

दिव्या उस निर्णय को मनस्थ करने के प्रयत्न में क्षण भर आचार्य की ओर निष्पलक देखती रही। मौन स्वीकृति के संकेत में उसने सिर झुका दिया—अस्तु !

दिव्या वेदी से उतर कर एक ओर चल दी।

राजहंसिनी के सम्मुख फटती जाती सरोवर की लहरों के समान समूह उसके लिये मार्ग देता जा रहा था। दिव्या मस्तक ऊंचा किये, किसी ओर न देख कर चली जा रही थी।

दिव्या अभिषेक की वेदी से उतर कर अप्सरा के वेश में निराश्रय सागल के राजपथों पर पैदल चली जा रही थी। विराट जनसमूह कौतूहल का दमन न कर सकने के कारण उससे कुछ अन्तर पर, पीछे-पीछे चला जा रहा था। दिव्या ने घूम कर उस ओर न देखा। वह हंसों के समूह के सम्मुख नेता राजहंस की भांति निश्चल ग्रीवा उठाये चली जा रही थी।

दिव्या नगर के बाहर आ गयी। सूर्यास्त हो चुका था। फाल्गुन पूर्णिमा का चन्द्रमा क्षितिज से ऊपर उठ चुका था। संध्या आरम्भ में चन्द्र की निस्तेज ज्योत्सना फैल रही थी। उस क्षीण आलोक में दिव्या ने पूर्व दिशा में दिगन्त तक फैले मार्ग की ओर देखा और श्रान्ति का एक निश्वास लेकर नगरद्वार के बाहर बनी पान्थशाला की ओर दृष्टि की। रात्रि में दीर्घ पथ पर अकेले यात्रा करने की दुविधा में दिव्या क्षण भर मार्ग पर खड़ी रही और फिर रात्रि पान्थशाला में व्यतीत करने के विचार से उस ओर मुड़ गयी।

रात्रि में नगरद्वार मुंद जाने के पश्चात् द्वार पर पहुंचने वाले यात्री इस स्थान पर रात्रि बिताते थे। प्रातः सूर्योदय से पूर्व यात्रा आरम्भ करने की इच्छा रखने वाले यात्री भी संध्या समय ही वहां आकर टिकते थे।

दिव्या पान्थशाला के द्वारा से आंगन में होती हुई अलिन्द पार कर एक अंधियारे कक्ष में जा बैठी। जनसमूह भी कौतूहल से उसके पीछे-पीछे चला आकर शनैः-शनैः आंगन में भरने लगा। आंगन मधुछत्र की भांति गुंजायमान हो उठा। आंगन में स्थान न रहने पर जन पान्थशाला के प्राचीर को घेर कर एकत्र होने लगा। कौतूहल, अधीरता, विरोध और समवेदना से प्रेषित होकर नागरिक अनेक प्रकार के प्रसंग, अभिषेकच्युत राजनतंकी के सम्बन्ध में उठा कर परस्पर ऊंचे स्वर में वादप्रतिवाद कर रहे थे।

पाण्ड्यशाला का रक्षक राजपुरुष उस अव्यवस्था से खिन्न होकर जन को पाण्ड्यशाला का मार्ग और आगन पथिकों के लिये छोड़ देने के लिये ऊँचे स्वर में पुकार रहा था परन्तु उसकी बात जनरथ में अनसुनी ही रह जाती। पाण्ड्यशाला का द्वार मूंद देना भी सम्भव न रहा।

एक भिक्षु ने जनसमूह के समीप आकर ऊँचे स्वर में पुकारा—“हे नागरिको, समाज से प्रताड़ित दुखी नारी के समीप जाने का मार्ग मुझे दो। अभिषेकच्युत राजनतंकी के समीप जाने का मार्ग दो! हे नागरिको, मैं उस क्लेशिता को शान्ति दन आया हूँ।” भिक्षु की पुकार भी कोलाहल में अनसुनी ही रह गयी।

सूर्यास्त और चन्द्रोदय के मिश्रित झिलमिल आलोक में पूर्वी मार्ग से एक पथिक चला आ रहा था। पाण्ड्यशाला को घेरे हुये जन-समूह को देख कर और कोलाहल सुन कर पथिक के द्रुत पग शिथिल हुये और रुक गये। पथिक के केशों, मुख, वस्त्रों और पाँव पर जानु तक चढ़ी धूल, उसके दिन भर राजमार्ग पर पैदल चलने का प्रमाण थी। पथिक ने उस भ्रामक आलोक में अपने नेत्रों पर बल दे कर जनसमूह को देखा और कानों को सतकं कर कोलाहल का अर्थ समझने का यत्न किया। केवल भिक्षु की पुकार उसे स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

पथिक मार्ग छोड़ कर पाण्ड्यशाला को घेरे जनसमूह की ओर आ गया। उसने समूह को सम्बोधन किया—“हे सागल के सौम्य नागरिको, क्या मथुरापुरी से आने वाली नतंकी अंशुमाला का अभिषेक पूर्ण हो गया? वह अभिषेक देखने की कामना से ही मैं द्रुत वेग से पैदल चला आ रहा हूँ। दो मास तक सामर्थ्य भर वेग से चल कर भी मैं इससे पूर्व सागल न पहुँच सका। सौम्य नागरिको, पथिक को समाचार दो, क्या अंशुमाला के अभिषेक में दिघ्न पड़ गया? नागरिको, अंशुमाला का कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ?”

व्यस्त जनसमूह में से एक व्यक्ति ने उसकी ओर ध्यान दिया—“ओह, मूर्तिकार, दार्शनिक मारिश? कौन अंशुमाला...द्विज-कन्या? यशस्वी घर्मस्थ देव शर्मा की प्रपौत्री?”

“हां!” मारिश ने अनुमति का संकेत किया,

“दिव्या ने सागल की राजनतंकी के पद की कामना की थी।” नागरिक ने मारिश का समाधान किया, “वर्णाश्रम की व्यवस्था से अभिषेकच्युत होकर दिव्या ने नगर छोड़ कर इसी पाण्ड्यशाला में शरण ली है। क्या तुम इसी क्षण...”

पथिक शेष बात अनसुनी कर पाण्ड्यशाला के द्वार की ओर बढ़ गया।

भिक्षु और पथिक दोनों ही विराट समूह को भेद कर पान्थशाला के द्वार की ओर बढ़ने का यत्न कर रहे थे ।

पथिक पुकार रहा था—“हे सौम्य नागरिको, मुझे पान्थशाला का मार्ग दो ! हे भद्र नागरिको, मुझे पान्थशाला का मार्ग दो ! मैं उस पीड़ित नारी को सान्त्वना दूंगा । हे नागरिको, मुझे मार्ग दो, मैं उस नारी के लिये शूरसेन से पैदल चल कर इसी क्षण यहां पहुंचा हूं !”

भिक्षु पुकार रहा था—“नागरिको, मैं प्रताड़ित नारी को धर्म की शरण में लेकर शान्ति देने आया हूं, मुझे मार्ग दो !”

व्यग्र जनसमूह न भिक्षु की, न पथिक की ओर न पान्थशाला के रक्षक की पुकार सुन पा रहा था । आंगन के समीप स्थान में समूह ऐसा भर गया था कि किसी के लिये भी हिल सकना सम्भव न था । सहसा नगरद्वार के तोरण से घड़ियाल बजने का शब्द सुनाई दिया और एक राजपुरुष ने तोरण पर खड़े होकर चेतावनी दी—

“नगरद्वार मुंदने का समय हो गया । नगरप्राचीर के शरण चाहने वाले द्वार प्रवेश करें !”

पान्थशाला के आंगन से जनप्रवाह द्वार की ओर और पान्थशाला के द्वार से नगरद्वार की ओर बह चला । उस प्रवाह को भेद पाने में असमर्थ होने के कारण पथिक और भिक्षु के पद पीछे की ओर पड़ने लगे ।

उसी समय एक तूर्य का शब्द सुन कर जन का कोलाहल स्तब्ध हो गया । नगरद्वार की ओर बढ़ता जनसमूह भी स्थिर हो गया । नगरद्वार से चार दीप-दण्डधारी अश्वारोही प्रकट हुये और उनके पीछे तूर्य बजाते हुये एक अश्वारोही ने आकर समूह को सम्बोधन किया—“सावधान, सावधान ! जन श्री गणपरिषद् के महामात्य, धर्म व्यवस्थापक, महासामन्त रुद्रधीर के लिये मार्ग दें ।”

जन ने जयघोष से आचार्य का अभिवादन किया । तुरन्त मार्ग प्रशस्त हो गया । आचार्य रथ से उतरे । पान्थशाला के रक्षक राजपुरुष ने नतजानु होकर उन्हें प्रणाम किया ।

आचार्य गम्भीर स्वर में बोले—“पान्थशाला में आने वाली नर्तकी कहां है ? रक्षक, मार्ग दिखाओ !”

पान्थशाला का रक्षक मार्ग दिखाता हुआ अलिन्द की ओर बढ़ा । स्तब्ध जन-समूह काष्ठ की मूर्तियों के समान निश्चल था परन्तु भिक्षु और मथुरापुरी से

आया पथिक मारिश अवसर पा कर आचार्य के पीछे-पीछे चले ।

चारों दीपदण्डधारी कक्ष के चारों कोनों में खड़े हो गये । अंधियारा कक्ष प्रकाश से जगमगा उठा । दिव्या अप्सरा के वेश में भित्ति का सहारा लिये भूमि पर बैठी थी । उसने मस्तक उठा कर आगन्तुकों की ओर देखा । वह निश्चल बैठी रही । द्वार से झांकता हुआ जनसमूह विस्मय से मौन था ।

दिव्या ने स्थिर दृष्टि से आचार्य की ओर देख कर प्रश्न किया —“इस प्रताड़िता के लिये अब और क्या आज्ञा है ?”

भूमि पर बैठी दिव्या के सम्मुख कंचुकी द्वारा बिछाया आसन ग्रहण कर आचार्य बोले—“देवी, तुम्हारा स्थान नतकी-वेश्या के आसन पर नहीं । तुम कुलकन्या हो । तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुलमाता के आसन पर है । आचार्य रुद्रधीर, देवी को आचार्य कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित है । देवी, अपना स्थान स्वीकार कर आचार्य को कृतार्थ करो !”

दिव्या ने निष्पलक दृष्टि आचार्य के मुख पर स्थिर किये गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—“आचार्य, कुलवधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है । यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या की भांति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं है । ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रयमात्र है । वह नारी का सम्मान नहीं उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है । आर्य, अपने स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है ।”

कुछ क्षण मौन रह कर दिव्या बोली—“ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगी ? आचार्य दासी को क्षमा करें । दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी । स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी !”

आचार्य अपनी असीम क्षमता में असमर्थ अनुभव कर दिव्या की कठिन मूर्ति की ओर विवश दृष्टि किये मौन बैठे रहे ।

आचार्य मौन बैठे थे उस समय आचार्य के आसन के समीप आकर भिक्षु ने पुकारा—“आर्य, तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिये उपस्थित है ।”

दीपदण्डों के प्रकाश में सम्मुख खड़े कषाय चीवरधारी भिक्षु का स्वर सुन

कर और उसे पहचान कर दिव्या के नेत्र फैल गये । एक कम्पन सा उसके शरीर में अनुभव हुआ । एक गहरे श्वास से उसका वक्ष ऊपर उठा और वह भिक्षु की ओर दृष्टि लगाये फिर निश्चल हो गयी ।

आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा कर भिक्षु पृथुसेन बोला—‘देवी, तथागत की कृपा से तुमने आसक्ति और मोह के भ्रम को जानने का अवसर पाया है । देवी, शान्ति वैभव में नहीं, शान्ति प्रभृता में नहीं, शान्ति भोग में नहीं, शान्ति नृप्ति में नहीं । देवी, शान्ति केवल अनासक्ति में है । चिरन्तर सुख केवल निर्वाण में है । देवी, संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता । देवी, संसार के पीडित समाज से प्रताडित जन बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं । देवी उस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो !”

मौन दिव्या की दृष्टि क्षण भर के लिये धुंधली हो गयी । दीपदण्ड से प्रकाशित कक्ष में अधिकार और शक्ति की प्रतिमा महामात्य रुद्रधीर और काषाय चीवरधारी भिक्षु उसकी दृष्टि से लुप्त होकर मथुरापुरी के महाबोधि विहार के मुंदे पटों के सम्मुख वक्ष के नीचे सन्तान की गोद में लिये अशरण, आर्त नारी भगवान बुद्ध, धर्म और संघ से शरण की भिक्षा मांगती दिखायी देने लगी ।

दिव्या के नेत्र पुनः दीप्त हो गये । कम्पित स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया—  
“भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है ?”

भिक्षु ने धीरे स्वर में उत्तर दिया—“देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है । नारी प्रवृत्ति का मार्ग है । भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है ।”

“भन्ते अपने निवोण धर्म का पालन करें ।” दिव्या ने मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, “नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है । भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें ।”

उपस्थित जनसमूह की स्तब्धता से अवसर पाकर पूर्व देश से आये पथिक ने भिक्षु के समीप आकर पुकारा—“मैं मारिश, देवी के सामीप्य के लिये ही मथुरापुरी से सागल आया हूं ।”

दीपदण्ड के प्रकाश में दिव्या के श्रान्त नेत्र पुनः विस्मय और जिज्ञासा से फैल कर चमक उठे ।

धूल-धूसरित पथिक बोला—“मारिश, देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता । मारिश देवी को निर्वाण के मिथ्या चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता । वह संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है । अनुभूति

और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।”

पल भर सोच कर मारिश ने कहा—“सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।”

भूमि पर बैठी दिव्या अनेक क्षण विचार में ग्रीवा झुकाये रही। फिर उसने सहसा भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये। दिव्या का स्वर आर्द्र हो गया—“आश्रय दो आयें !”



## शब्दार्थ

अ

अधिष्ठात्री—कला की अधिष्ठात्री,  
कला की रक्षिका, कला की प्रधान ।  
अभिजात—कुलीन, जन्म से श्रेष्ठ ।  
अग्रश्रेष्ठी—बड़ा सेठ, मुख्य सेठ ।  
अन्तर्वामक—धोती, तहमत ।  
आजानु—घुटने तक ।  
अंगद—अनन्त, बाजूबन्द ।  
अंगुलीय—अंगूठी ।  
अधोभाग—नीचे का हिस्सा ।  
अश्वत्थ—पीपल का वृक्ष ।  
आस्थानागार या आस्थान—दरबार  
का स्थान, बड़ा कमरा ।  
अर्घ्य—अतिथि के आदर अथवा पूजा  
के लिये प्रस्तुत वस्तु ।  
आस्यताम—पधारिये !  
आपानक—मिलकर शराब पीना ।  
अभिधर्म—बौद्ध धर्म, श्रेष्ठधर्म ।  
अलम—बस, काफी है, बोलो मत ।  
अग्रहार—जागीर ।  
आस्तरण—दरी, कालीन ।  
अन्तरायण—मण्डी, थोक बाजार ।  
अर्हन्त—ज्ञानी, सिद्ध ।  
अलिन्द—बरामदा, छज्जा ।  
अध्वर्यु—यज्ञ अथवा बलि के समय  
प्रधान पुरोहित ।  
अग्निमुख—जिस मुख से सदा सत्य ही  
निकले, जिसकी वाणी में शक्ति हो ।  
अर्गला—रुकावट, अरगढ़, पटेला ।  
आयुष्यजीवी—नौकरी पेशा, सैनिक ।

इ

इतरजन—साधारण, ऐसे-वैसे लोग ।  
ईषत्—बहुत थोड़ा ।  
उ  
उष्णीष—पगड़ी ।  
उत्तरीय—दुपट्टा, कंधे पर रखने का वस्त्र  
ऊर्ध्वबाहु—बांह उठाये ।  
उपाधान—तकिया ।  
उपालम्भ—ताना ।  
उपान्त—नगर का बाहरी भाग ।  
उपरिक—वायसराय, प्रतिनिधि ।  
उपायन—भेंट ।  
उपजीविका—जीविका का साधन ।

ऋ

ऋतुकालीन—काम की इच्छा से  
सम्बन्ध रखने वाला ।  
ऋतुकालीन आह्वान—काम इच्छा के  
प्रयोजन से पुकार ।

ए

‘एकं सद विप्रः बहुधा वदन्ति’—एक  
ही बात को ज्ञानी लोग अनेक रूप में  
कहते हैं ।

क

कुतुप—कुप्पी, बोतल ।  
कंचुक—चोगा, अंगिया ।  
कंचुकी—चोगा पहने अर्दली या चोगा  
संभालने वाला ।  
कर्दम—कीचड़ ।  
कांस्यताश्च—झांझ ।  
कन्दुक—गेंद ।

किंकणी—घुंघरू ।

कम्मकार—मेहनत करनेवाला, मजदूर ।

कापिशायनी—कपिश देश की मदिरा ।

कूष्माण्ड—सीताफल ।

कम्मणाभवति बम्मणो—ब्राह्मण कर्म से होता है, जन्म से नहीं ।

ग

गवाक्ष—झरोखा ।

गणपरिषद्—गणराज्य के नियम बनाने वाली सभा ।

गणपति—गण का प्रधान ।

गणसंवाहक—गणसभा का कार्य चलाने वाला, सभा का मंत्री ।

गणपूरक—सभा में वोट गिनने वाला ।

गोपुर—चारदीवारी में पहरा देने की मीनार ।

गण—समूह, जन ।

गणराज्य—समूह द्वारा शासन ।

च

चारण—सूचना देने वाला, कीर्ति बखान करने वाला ।

चंद्रिका—बैना, बुन्दा ।

चषक—प्याला ।

चतुश्शाल—चार कोने का कमरा, चारों ओर से खुला ।

चतुर्मागं—चौक ।

चतुरंग—शतरंग ।

ज

जन—साधारण जनसमुदाय, जनता ।

जेठक—बड़ा, मुखिया ।

जम्बूदीप—भारतवर्ष का प्राचीन नाम ।

जातक—भगवान बुद्ध के अनेक जन्मों की कथाएँ ।

त

तूर्य—बिगुल, नाद शब्द ।

तूलिकालेखन—कलम या सीख से शरीर, दीवार या फर्श पर की गई चित्रकारी ।

तात—स्नेह सम्बोधन, छोटों-बड़ों दानों के लिये ।

तन्तुवाय—जुलाहा ।

तूणीर—तर्कस ।

तोरण—द्वार अथवा दरवाजे की घन्नी ।

थ

थेरी—भिक्षुणी, साधुनी ।

द

दावं—उत्तर प्रदेश ।

दीपदण्ड—मशाल ।

दीपदण्डधारी—मशालची ।

द्राक्षी—अंगूरी शराब ।

ध

धर्मस्थान—न्यायालय, कचहरी ।

धर्मस्थ—जज, न्याय करने वाला ।

धर्मचक्र—बौद्ध धर्म का संगठन ।

न

नागदन्त—हाथी दाँत ।

निष्क—मोहर, सिक्का ।

निर्वाक—मीन ।

निर्वाण—जन्म के बन्धन से मुक्ति ।

नीवी—घोती या नाड़ा बांधने का स्थान

नीवीबन्धन—पेटी, आंकड़ा ।  
 नोसदासीत नासदासीत—यह संसार  
 सदा से है अथवा सदा से नहीं है ?  
 (यजुर्वेद का नासदीय सूक्त)

ड

डमरू-मध्य—डमरू के बीच पकड़ने  
 की जगह की गहराई पतला ।

प

पुष्करिणी—तालाब ।  
 पादत्राण—जूता ।  
 पण्य—दूकान, बाजार ।  
 प्रब्रज्या—सन्यास ।  
 प्लावन—बाढ़ ।  
 पीठिका—चौकी ।  
 प्रक्षालन-पात्र—धोने का पात्र ।  
 पिगल—पीले रंग या केशवाली ।  
 पीठिका—चौकी, पीड़ी ।  
 पत्तन—घाट ।  
 पदलाघव—पांव की चुस्ती ।

पान्थशाला—सराय ।  
 प्रतिवादी—सफाई देने वाला ।  
 पर्यंक—पलंग ।  
 पाठल—गुलाब ।  
 परिग्रह—संचय, ग्रहण, समाप्ति ।  
 परित्राण-दिवासेना—संकट हटाने के  
 लिये पूजा ।  
 प्रमदोद्यान—घर के भीतर बगीचा ।

ब

बिम्ब—मूर्ति ।  
 बालिश—मूर्ख, पागल ।

बलात—जबरन ।  
 बलाधिकृत—सैनिक पद ।  
 बलि—पूजा का उपहार, कर ।  
 बाहुमूल—कंधे और कोहनी के बीच  
 का भाग ।

भ

भट्टारक—प्रतापी और आदरणीय ।  
 भृत्ति—मजदूरी ।

म

मधुपर्व—बसंत ऋतु आरंभ का उत्सव ।  
 मातुल—मामा ।  
 मेरय—मामूली शराब, ताड़ी की भांति ।  
 मेखला—करधनी ।  
 महाशाल—बड़ा सेठ ।  
 मेरुदण्ड—रीढ़ की हड्डी ।  
 मघवा—इन्द्र देवता ।  
 मुरज—ढोलक, डफ ।  
 मार्जन—शुद्ध करना, ठीक करना ।

य

यजन-याजन—यज्ञ करना-कराना ।  
 यज्ञनिष्ठ—नियम से यज्ञ करने वाला ।  
 याज्ञिक—यज्ञ कराने वाला ।

र

राजस्व—राज्यकर ।  
 राज्याधिकृत—राज्य द्वारा ले लिया  
 गया, जब्त ।  
 राजुल्ले—छोटे-छोटे राजा, रईस ।

ल

लोमपूर्ण—रोयें से भरा ।  
 लोकायत—साधारण लोगों को प्रिय,

इस लोक से सम्बन्ध रखने वाले  
चारवाक सिद्धान्त ।

व

वलय—चूड़ी-कड़ा ।  
वाचाल—बहुत बोलने वाला ।  
वर्तुल—गोल ।  
वीथी—गली ।  
विशिष्ट—विशेष ।  
विज्ञप्ति—सूचना, प्रस्ताव ।  
वर्म—कवच ।  
व्यजन—पखा ।  
वितान—शामियाना ।  
विग्रह—युद्ध ।  
विष्टर—गद्दा, मसनद ।

श

शावक—बच्चे, छोने ।  
श्रमण—बौद्ध साधु ।  
शकट—गाड़ी ।  
शल्यक्रिया—शस्त्र से चिकित्सा ।  
शौलिक—कर लेने वाला ।  
शेखर—सेहूरा ।  
शालीहोत्री—घोड़ों का चिकित्सक,  
सलोत्री ।  
श्मश्रु—मूँछ या दाढ़ी, दाढ़ी-मूँछ ।  
शाटक—साड़ी, केवल कमर के चारों  
और घिर कर रहने वाली लुंगी ।  
शिरस्त्राण—सिर की रक्षा के लिये  
घातु की टोपी ।

ष

षाटजी—प्राचीन समय का एक राग ।

स

सम्भ्रम—रोब, सम्मान ।  
स्थूण—खम्भा, पाया ।  
साधुवाद—प्रशंसा ।  
स्तूप—खम्भा ।  
सस्मित—मुस्कान से ।  
स्थविर बौद्ध साधु ।  
शिविका—पालकी ।  
शिविकावाहक—पालकी उठाने वाला ।  
स्वर्ण-खचित—सोने के तार से कड़ा ।  
स्मित—मुस्कान ।  
संचारी—भाव उत्पन्न करने वाला ।  
स्तर—तह ।  
समाह्वय—जुए की बंठक ।  
संपुट—लाग, मिलावट ।  
संक्रमण—एक स्थान से निकल दूसरे  
स्थान में जाना ।  
'संक्रमणाद्-संक्रमणाद्वा'—पुनर्जन्म ।  
आत्मा एक शरीर से निकल दूसरे शरीर  
में जाने से होता है अथवा आत्मा एक  
शरीर से दूसरे शरीर में नहीं जाता ।

ह

हस्तलाघव—हाथ का सफाई, फुर्ती ।

त्र

त्रिशरण—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ।















